



Gurumandal Series...No. X

# NIRUKTAM

( NIGHANTU )

BY

**Maharshi Yaskacharya**

WITH A

COMMENTARY BY

**Pandit Devaraja Yajvan**

**Volume I.**

FIRST EDITION 5000

**5, Clive Row,  
Calcutta.**

Wikram Era.  
2009

Christian E  
1952



## PREFACE.

Language had become an object of wonder and imitation with the Aryans in India at a very early period. Only two nations of the world viz., India and Greece are credited by Max Muller with having received the science of Grammar independently of each other. The facts of language were culled from these Aryan forefathers of ours and used for linguistic generalisations were recorded in NIRUKTA by Yaska who deals with Vedic etymologies. The PRAGHANTUKA is the first part of the NIRUKTA, in which synonymous words are taught. This part begins with GAUH and ends with DEVAPATNIS. My friend Shri B. D. Trivedi has published this PRAGHANTUKA in the present booklet for the use of young students, who may desire to commit it to memory to facilitate a deeper study of NIRUKTA at a later age. As NIRUKTA is one of the six VEDANGAS a study is necessary for the understanding of the Veda seen from the modern point of view. Shri Trivedi, therefore, deserves our best thanks for the publication of the present booklet which besides helping all students of Vedic literature, aims at popularising our Sacred Books. A close study of which will not fail to inspire the younger generation of Indians to noble ways of thought and life most needed for the regeneration of our Bharatavarsa.

Chandarkar Oriental  
Research Institute

Poona 4

1st July, 1952.



P. K. GOSE

वहने ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। मुण्डकोक्ति  
 है:—“द्वेषिषे वेदितव्यं इति हस्म यद् महाविशेषार्थं  
 परा व। तत्र अपरा श्रुवेद यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वकः क्षि  
 म्पकरणेन्दु ज्योतिष निरन्ताः। अथ परा यथा तदशास्त्रं  
 धर्मज्ञान के साधन पदंग सहित वेद अपरा वि  
 परममुपायं ब्रह्मज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को  
 रो गई।

# प्राक्कैशिक (मालय, ) बी. ए. ने. ए.

—:❁:—

“ब्राह्मणेन निष्कारणं पठङ्गोवेदोऽभ्येयोऽज्ञेयश्च”

—(ः)—

भारतीय अध्ययन-क्रम सबसे प्रथम वेद को पढ़ना जानना बताता है। यथा, “स्वाध्यायोऽप्येतन्न्यः” वेद पढ़ना चाहिए। यह पाठ्यविधि है। मानवीय धर्मशास्त्र में कहा है “योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते धमम्। स भीवन्नेव शूद्रत्वमायु गच्छति सान्वयः ॥” जो द्विजाति वेद न पढ़ कर केवल अन्य साहित्यों का अध्ययन करता है वह सकुटुम्भ शूद्रत्व प्राप्त करता है अर्थात् वेद विहित कर्म करने का अविकारी नहीं होता है। वेद विद्या के अध्ययन से देवीबल निकास होकर सम्पूर्ण शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, कला आदि के प्रचुर विज्ञान की क्षमता और विद्वज्जीवनी की प्राप्तता हो जाती है। भारतवर्ष की शिक्षणप्रणाली वेदाध्ययन से प्रारम्भ होती है। वेदार्थ को ज्ञान अति गम्भीर होने से “शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्यौतिषं” इन छै अङ्गों का

पहले ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। सुप्रसिद्ध विद्वान्  
हैं:—“द्विविधं वेदिनश्चे इति इयम् च मन्त्रविदो मन्त्रिणा का  
परा च। तत्र अथरा शृंगेर वजुरेव सामेदोऽथर्वणः शिक्षा  
ध्याकरण छन्द उच्योति च निष्पत्त्याः। अथ परा यथा तद्दर्शनमधिष्ठते  
धर्मज्ञान के मापन पर्यंत राहित वेद अथवा विद्या बनावे दो।  
परमगुरुपार्थ महाज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को 'पराविद्या' क  
हो गई।

शिक्षा:—“आत्मानुद्ध्यया समेत्यापान्” इत्यादि से वर्णों  
का उच्चारण क्रम जियमें बनाया गया है उस को शिक्षा कहा है।  
तैत्तिरीय में “अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः” इस शिक्षाध्याय में वर्ण  
स्वर का उच्चारण बताया है। सबसे प्रथम किमी मन्त्र के पूर्ण ज्ञान में  
वर्ण स्वर का उच्चारण-क्रम मलीभांति जानलेना चाहिये।  
व्याकरण पर हमारे एक मित्र ने लिखा है कि उन्होंने १० वर्षों  
में समय लगाया और उन्होंने मुख के किस स्थान को कितना  
कितना विकास कर तथा जिह्वा का आकुञ्चन संकोचन तत्स्थान स्वर्ण  
विधान दिखा कर प्रत्येक वर्ण के उच्चारण प्रकारकी प्रकृति  
बताई है। वस्तुतः वर्ण और शब्द का उच्चारण का  
और मन्त्र की मौलिक मर्यादा है “मन्त्रो ह्येनः स्वरतो वर्णो ह  
मिध्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वधो यत्रमानं दिनस्ति यथेन्द्रशु  
स्वरतोऽपराधात्।” अथुद्ध उच्चारण किया गया मन्त्र प्रयोगकर्ता के  
लेयें हानिकर सिद्ध हुआ है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि  
शिक्षा के देनेवाले महाशुभाव पूर्ण विद्वान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र और निःस्वार्थ

जिससे किसी प्रकार की हानि न हो। जैसे वृत्रासुर में “इन्द्र त्रुर्वधस्य” में अपने लिये ही पूर्वपद प्रकृति स्वरस्व रख कर घातकता ना ली। सशस्त्रे प्रथम स्वरवर्ण का उच्चारण समझना परमावश्यक शिक्षा का मुख्य अर्थ वर्णस्वर का उच्चारण है।

कल्प :—किस मन्त्र की किस कार्य में कल्पना की जाती है इस वेधि का ज्ञान जिससे होता है उसे कल्प कहते हैं। जैसे, भाग्यलायन कल्प, बौधायन कल्प, आपस्तम्ब आदि ये कल्प हैं। इन में जिस यज्ञ में जिस कर्म में जो मन्त्र लगाया जाता है, उसका वर्णन है।

व्याकरण :—शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के संयोग का उपदेश उद का स्वरूप, पदार्थ का निश्चय व्याकरण से प्राप्त होता है। आज तक भी पाणिनीयादि व्याकरण के भाविभावकों की श्रेणी पदार्थ निरूपण में प्रयोग की जाती है। कहा भी है :—

“छन्दःसादी तु वेदस्य इस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिःसामयनं चक्षुर्निरुक्तं धोत्रमुच्यते ॥

सिद्धाप्रानं तु वेदस्य मुखं श्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके मदीयते ॥

इस श्लोक में वेद की मूर्ति का वर्णन है। साङ्गवेदाध्ययन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शास्त्र ने बतलाई है।

निरुक्त :—“वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरी वर्णविकारनाशौ । घातोस्तदधातिरायेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।” उक्त परिभाषा निरुक्त को पञ्चलक्षणात्मक बताती है जिसका भाग्ये विशदीकरण करेंगे। जो शब्द से देवपत्नी शब्द तक निघण्टु का क्रियाकलाप है। किसी



शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। गो शब्द से प्रारम्भ कर दे शब्द तक जो समाश्रय है उसे यास्क ने निरुक्त संज्ञा दी जैसे, इतने पृथ्वी के नाम इतने हिरण्यादि के नाम आदि। यास्काचार्य निरुक्त तीन काण्डों में बताया है। निरुक्त :—(१) निघण्टु, (२) नै (३) देवता यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

छन्द :—इस में अक्षरों से छन्द बने हैं। किस देवता की स्त प्रधानतया किस छन्द में हो यह विधान है “छन्दोच्छादनात्” छन्द ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनु को अज्ञानी लिखा है।

ज्योतिष—“यसन्ते माह्यगोऽग्नीनादधीत” यज्ञ का काल, पुण्यकाल अथवा अनुचित समय का ज्ञान और घटुगति से भौमान्तरिक्ष उत्पात का तन ज्योतिष में होता है। ज्योतिष ही प्रकाश रूप मन्त्रज्योति है।

समर्ग शब्दराशि नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग इन चार वर्णों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम निर्वचन करता है। यास्काचार्य “नामान्याख्यातज्ञानानि” कह निर्वचनरूप निरंश करने हैं। अने, अग्नि शब्द है इगका आख्यातज्ञानरूप है “अग्निः अग्निगो अग्नि” आदि है। संज्ञा आख्यात (ईया) ज्ञानों है। इगके चार निरुक्त भाषा कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया है। यह निरुक्त का लक्षण है “अपांशपोरे निरपेक्षतया। निरुक्तम्” छान्दोग्य उपनिषद् में आया है “रा वा दृष्ट वा च निरुक्त इवावर्जितं तद्व्यात् इत्यम्” का३।३।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। “आष्ट धातु” से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोतीती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, “मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मासमिहाद्भ्यम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः” इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-माननं वा मानसम् वा मनोयस्मिन् लीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— “आद्भुक् कृपलीकल्पम्” इस में कृपली शब्द स्त्री का वाचक है। यास्क ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—“कृपलो कृपशीलो भवति वा कृपाशीलो वा” इसलिये कृपली का अर्थ व्यभिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है “महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते” निरुक्तस्य यो वेद सर्वपापेः प्रमुच्यते”। महाभारत काल में भी स्वतंत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है वही मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

“भगवन् ! भूतभव्येव सर्वभूतसृगव्यय !  
 लोकधाम जगत्पथ लोकानामभयप्रद ॥  
 यानि नामानि ते देव ! कीर्तितानि मनोपिभिः।  
 वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥  
 तेषां निरुक्तं तत्त्वेन श्रोतुमिच्छामि केशव !  
 नश्यन्त्यो नास्त्रां निरुक्तं स्वामृतेप्रभो ॥”

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा “गौणानि तत्र नामानि

शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। गो शब्द से प्रारम्भ कर देवपत्नी शब्द तक जो समाश्रय है उसे यास्क ने निरुक्त सजा दी है। जैसे, इतने पृथ्वी के नाम इतने हिरण्यादि के नाम आदि। यास्काचार्य ने निरुक्त तीन काण्डों में बताया है। निरुक्त.—(१) निघण्टु, (२) नैगम, (३) देवता यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

उन्द :—इस में अक्षरों से उन्द बने हैं। जिस देवता की स्तुति प्रधानतया किस उन्द में हो वह विधान है 'उन्दग्दादनात्' उन्द का ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनुष्य को भजानी लिया है।

ज्योतिष—“वसन्ते वास्यो.प्रोनाउर्ध्वत” यज्ञ का काल, पुण्यकाल, उचित अनुचित समय का ज्ञान और वहमान से भौमान्तरिक्ष उत्पात का ज्ञान ज्योतिष से होता है। ज्योतिष ही प्रकाश रूप ब्रह्मज्योति है।

सम्पूर्ण शब्दगीता नाम, भाष्यात्, निपात और उपसर्ग इन चार स्थलों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम का निर्दिष्ट करना है। यास्काचार्य “नामान्याख्यातज्ञानानि” कह कर निर्दिष्टत्वम निर्दिष्ट करने हैं, जैसे, अग्नि शब्द है इसके भाष्यात्तत्त्व निर्दिष्टत्वम है 'अग्नि अग्निर्भवति' आदि है। संज्ञा भाष्यात्त (जिवा) ने बनी है। इसने यह निश्चय भाषा कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया यह ज्ञाी कहा गया यह निरुक्त का अर्थ है 'अथांशोरे निरपेक्षतया। अत्राप्य अशोर्क तद्विषयम्' उन्मोघ शब्द में भाषा है "स वा यत् अन्त्या इति अन्व लोच निरुक्तं इत्यर्थमिति तस्मात् इदम्" दा३।३।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। “आयु धातु” से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, “मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मासमिहाद्म्यम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः” इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-मानन वा मानसम् वा मनोयस्मिन् सीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— “धाद्रमुक् वृषलीकल्पम्” इस में वृषली शब्द स्त्री का वाचक है। यास्क ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—“वृषलो वृषशीलो भवति वा वृषाशीलो वा” इसलिये वृषली का अर्थ ध्वमिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है “महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते” निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते”। महाभारत काल में भी स्वतंत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है वही मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

“भगवन् ! मृतमज्येष सर्वभूतसृगज्यय !  
 लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥  
 यानि नामानि ते देव ! कीर्तितानि मनीषिभिः।  
 वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥  
 तेषां निरुक्तं सत्येन श्रोतुमिच्छामि केशव !  
 नष्टान्यो पात्रां निरुक्तं त्वामृतेप्रभो ॥”

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा “गौणानि सत्र नामानि

कर्मज्ञानिच यानि तत् । निरुक्तं कर्मज्ञानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ !”  
कहते हैं हे निष्पाप ! कर्म से जो नाम उत्पन्न हुए हैं उन्हें तुम सनो ।  
यथा ; यास्क के मत में नाम आख्यातज हैं इस से भागे कहते हैं :—

“नराणामयन ख्यात मिद मेकः सनातनः ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपोर्विनरसूनवः ।

अयनं तस्य तत्पूर्वमतो नारायणोऽहम् ।”

काल्यायन के मत में “नाम घानुजमाह निरुक्ते व्याकरणे ।” नाम और  
आख्यात उपसर्ग और निपात यह जिस में होते हैं उसे निरुक्त कहते हैं ।  
निरुक्त पञ्चाध्यायी है । यह गवादि शब्द से देवपत्नी तक पांच  
अध्यायों में विस्तृत है । यह पहले बता दिया गया है । वैदिक मन्त्र  
पदों के अर्थज्ञान के हेतु यास्क ने समाश्रायः समाश्रातः सख्यातव्यः  
इत्यादि प्रयोदशाध्यायात्मक निरुक्त की रचना की है ।

निरुक्त के बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । पञ्चाध्यायी  
निघण्टु भागप्रथम नवाध्याय निरुक्त के आश्रय से वेद के मन्त्रों का ज्ञान  
होता है । समाश्राय को निघण्टु कहते हैं । भागे लिखा है, “निगमा  
इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य” निगमा अर्थात् निरुक्त से  
वे निगूढार्थक हैं “तानि गवादिदेश पत्न्यन्त नामानि छन्दोभ्यः समाहृत्य”  
मन्त्रों से लेकर ध्यान किया है जैसे, महर्षि यास्क ने कहा है :—  
साक्षान्मृतधर्माणं शृपयो बभूवुस्तोऽवरोभ्यः असाक्षाल्लृतधर्मभ्यो उपरोयेन  
मन्वान् मग्नाद्. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरोभ्योविलमग्रहणाय इमं ग्रन्थं  
समाश्रामिषु वेदं च वेदाङ्गानि च” । उपरोक्त उपदेश से यह ज्ञान हुआकि  
५६० अक्षर में वेद मन्त्र आकाश में बिछे हुए थे अर्थात् ईश्वर के अनादि

निःश्वासस्य यह वेदराशि नादात्मक धीचि तरङ्गों में दिव्य आकाशमण्डल में लहरा रही थी इनको कृतधर्मा ऋषियों ने पाया । इन विकीर्ण मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु बना कर अध्ययनाध्यापन द्वारा विस्तार किया गया । पहले इनको ब्राह्मणग्रन्थों में समाश्रान किया । ब्राह्मणग्रन्थ भी जय वेदार्थ ज्ञान में पर्याप्त न हुए तब इनको निरुकादिग्रन्थों में समाश्रान किया । निरुकादि कहने से वेद के छे अङ्गों के बीजभूत पदङ्ग हुए । जैसा पहले कह चुके हैं शिक्षा से स्वरवर्ण का ज्ञान कल्प से मन्त्रों का विनियोग, व्याकरण से विभक्ति आदि का ज्ञान, वेदयोधित कर्म करने का काल का परिज्ञान ज्योतिष से तथा मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म विपाकादि अध्ययन विधि को जानने के लिये छन्द और इसी प्रकार शब्द निर्वचन के लिये निरुक्त है "ना निरुक्तविद्भ्याकुर्व्यात्" । साथ ही शब्द लक्षण परिज्ञान का मूल व्याकरण ही है । वह शब्दार्थपरिज्ञान भाष्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक धर्माथ काम मोक्ष रूप पुरोपार्थ विना निरुक्त के नहीं हो सकता है । इस से स्पष्ट हुआ कि अर्थ परिज्ञान के लिये निरुक्त ही प्रधान है । इस तरह सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात लक्षणात्मक है । नाम जो हैं आख्यातज हैं कोई कोई अनेक धातुओं से भी बने हैं । आख्यातज में भावप्रधान होता है । नाम में सत्त्व की प्रधानता होती है । नाम का उपदेश जैसे निरुक्तने कहा है गौ इत्यादि २१ पृथ्वी के नाम १५ द्विरथय के नाम बताये हैं । उसके भाग २२ धातु समनार्थक हैं इस तरह बतलाया है कि यह नाम है और यह आख्यात है इस लिये नाम और आख्यात के लक्षण निरुक्तकार ने बतलाये हैं । कहा है "श्रपयो इत्युपदेशस्य नान्तं धान्ति शृयकृत्वशः । लक्षणो न तु सिद्धाना मन्तं धान्ति विपश्चितः ॥"

“भाष्यधानमाख्यानां शास्त्रप्रधानानिनाम्नानि” वाक्यान्वय में शब्द के निर्वचन करने में शब्दों को तीन शृत्तियों में रखा है ; परोक्ष, अति परोक्ष और प्रत्यक्ष । “परोक्ष प्रिया हि दे देवाः ।” इत्यन्ति जितने नाम हैं उनका निर्वचन निष्क में ही होगा । “वशाज्याधी निघण्टोश्च निरुक्तमुपरि स्थिताम्” । तो प्रत्येक शब्द का निर्वचन निष्क से ही होता है । यद्यपि निष्क का प्रथम काण्ड नेघण्टु काण्ड सिद्ध है परन्तु उस में निघण्टु के एक ही शब्द का निर्वचन कहा गया है । आरम्भ में, “समाध्यायं निघण्टव इत्याचक्षते, निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति, छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाध्यागान्ते निगमन्त एव तस्यो निगमना-लिघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्थवः अपिवाऽऽइननादंभ्युः समाध्या भवन्ति”

अर्थात् नामाख्यात उपसर्ग निरात्मक शब्दराशिओं मन्थों से एकत्र कर निघण्टु की रचना की गई है । निघण्टु शब्द अति परोक्षशृत्ति का है । शब्द को तीन प्रकार की शृत्ति होगी है—(१) अतिपरोक्ष, (२) परोक्ष और (३) प्रत्यक्ष । यह ज्ञान निष्क शास्त्रग्रन्थ है । शब्द को अतिपरोक्ष शृत्ति से प्रथम परोक्षशृत्ति में लायाजाना है तब प्रत्यक्षशृत्ति में लाकर निर्वचन अर्थात् निरोध्य वचन निर्वचन उसे भली प्रकार देखकर अर्थाकारशृत्ति में लाना होता है । कहा भी है “परोक्षप्रियाः हि देवाः” वेदों में देवताओं का संस्तवन प्रायः परोक्षशृत्ति में हुआ है । उदाहरणार्थ, निघण्टु, अतिपरोक्षशृत्ति में इसका परोक्षशृत्ति में निगमाः यह स्वरूप होता है प्रत्यक्षशृत्ति में निगमयितारः अर्थात् प्रत्यक्षशृत्ति में किया उसके अन्तर्गत रहती है । परोक्ष एवं अतिपरोक्षशृत्ति में निर्वचन से ही अर्थ प्राप्ति होती है इस कारण वेदार्थ परिज्ञान बिना निरुक्त के

भ्रज्याप्य है जैसे, निघण्टवः यह अतिपरोक्षवृत्तिगत अर्थ है। इसी शब्द को निगन्तव यह परोक्षवृत्ति हुई और "निगमवितारः" यह प्रत्यक्षवृत्ति है। निरुक्त के लक्षण में ऊपर लिखा है "वर्णागमो वर्ग विपर्ययः इत्यादि व्याकरणशास्त्र में उणादि प्रकरणगत शब्द परोक्षवृत्ति कह कर "अथमाप्ता उणादयः" यह बताया भी है। अनेक क्रिया होने पर भी किसी एक क्रिया को लेकर शब्द का निर्वचन केवल निरुक्त शास्त्रग्रन्थ है यहाँ समाहता प्रत्यक्षवृत्ति में "समाहताः" पृच्छ करने के अर्थ में गौ आदि से देवपरुष्यन्त का सङ्केत है। शब्दराशि आकाश में अनन्त है। उन में से कुछ शब्द मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने पृच्छ कर निघण्टु बनाया है। एक अधिधान में अनेक धातुओं का निर्वचन किस प्रकार हुआ हम पर कहा है :— "नामान्याभ्यान्तजानानि" नाम सप्त आख्यात से बने हैं यह निरुक्त का विद्वान्त है जो उसका नियावद है उससे परोक्षवृत्ति से लेकर निर्वचन प्रकार बताया है। जो रुद्र शब्द है वहाँ भी जो रुद्रिप्रयुक्त शब्द हैं उन्हें जो धातु रुद्रिपद के अर्थ को बताती है उसे लेकर निर्वचन करना बताया है।

निघण्टु के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया है। वेद में जिन शब्दों का समाधान हुआ उनका निर्वचन वेदार्थ के अति निगूढ़ होने से किया गया। वेद शब्द किस का वाचक है समास से प्रथम उसका निर्देश यह है "येद्यन्ते ज्ञायन्ते प्राच्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः।"

प्रत्यशेणानुमित्या वा यस्तूपायो न कुष्यते। एतं विद्वन्ति वेदेन सहमाह्वेदस्य वेदात्"। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता उस अव्यक्त ब्रह्म का ज्ञान जिससे होता है वह



## निरुक्त (निघण्टु)

द शब्दवाच्य है। शास्त्र शब्द का भी प्रधान अर्थ वेद शब्द से है।

“अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्यलोचनं शास्त्रं स्यनास्त्यन्ध एव सः” सम्पूर्ण प्रकार के संशय को छेदन कर परोक्षन्द्रियातीत तत्त्वका ज्ञान जिस से होता है वही शास्त्र है। इसी को ऋग्वेदगीता में “दिव्यं ददामि - ते वक्षुः” दिव्य वक्षु वेद को कहा है। पौरुषेय वाक्य भी वेद को बताया है अर्थात् परमेश्वर के निःस्वार्थरूप से आविर्भूत शब्दराशि वेद है। “स्वाध्यायोऽप्येतद्य,” स्वाध्याय भी वेद की प्रज्ञा है। धृति शब्द भी वेद का ही वाचक है “धृति स्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः” धृति का अर्थ है यह नाद रूप अव्यक्तशब्द जिन्हें दिव्याकारात्मनमनाते मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने सुने है। “धृतिस्मृत्युदितं कर्मसुतिष्ठन्ति नामवाः” धृति से वेदप्रतिपाद्य यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान से तात्पर्य है, अतः जमिनि में भी बताया है “आश्रायस्य क्रियार्थत्वात्” वेदमन्त्रादिविद्या के बोधक हैं जिन से देवता शक्ति का साक्षात्कार होता है अतएव “उदितैः सुदिने चैव समयाभ्युपिते तथा सर्वथा वनंतं यज्ञ इतीयं वेदो धृतिः।”

वेद के स्वरूप निर्णय में वैयाकरण ने मन्त्र प्राक्षण को वेद शब्द से बोधित किया है “मन्त्रप्राक्षणमित्याहुर्वेदशब्द महर्षयः + त्रयोन्वयकपोषः समन्त्र इति कथ्यते ॥ विधिस्तुतिकरं शेषं प्राक्षणं यथानि हि।” मन्त्रभाग और प्राक्षणभाग दोनों को वेद कह कर जिन ऋषियों को कर्म ( यज्ञादि ) में विनियोग किया गया है वे मन्त्र कहे गये अतएव देवताओं की स्तुति आदि भाग प्राक्षण कहा गया है। निरुक्त में तो

कर्ममन्वतिर्मन्त्रो वेदे" मन्त्र भाग को ही निर्वचन का कारण कहा है । वेद चार भागों में कहा गया है—“ऋषपादयद्वो गीति स्तु सामगाव यजुर्मय । एवं यजुर्वेदेयु त्रिविव विनियुज्यते ।” पचासमक ऋक् और गणान्तक यजुर्वेद कहा गया है ज्ञानान्तक साम कहा गया है । मनुसंहिता में आया है “असिशादुराभ्यस्तु त्रय मल्ल सनातनम् । दुदोह यजसिर्धदध्यमृययजुः सामलक्षणम्”—इन तीनों के अन्तर्गत अथर्ववेद भी है । षडशरत्यक में आया है “अरे अस्य महतो निःश्वसितमेतन् ऋग्भेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः ।” महाभारत में आया है “एकतन्त्रुरो वेदान् भारतसञ्चेतदेकतः । पुरा विल सुरैः सर्वैस्समेत्य गुरुषा एतम् । यजुर्भ्यः सरइस्वेभ्यो वेदेभ्योऽप्यधिक वदा । तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्महाभारतमुप्यते” ॥ अथ च इति के भाग प्रथम स्कन्ध में प्रतिपादन किया गया है “यो त्रियाञ्चतुरोवेदान्” इस कथन से भी चार वेदों की सिद्धि होती है । त्रयी शब्द यों कहा गया है कि यह रचना पद्य, गद्य और गीति इन तीनों विषयपरक है । क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में भी चार वेद ही बताया गये हैं । सनत्कुमार के प्रश्न के उत्तर में “ऋग्वेदोऽप्येमि यजुर्वेदोऽप्येमि सामवेदोऽथ्योमि अथर्ववेदोऽप्येमि ॥ इन चार वेदों का वर्णन है ।

“अत्रारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वेदीपे सप्ताहस्तासो अस्य । त्रिया षड्भो षुपभो रोरवीति महोदेवो मर्त्याः२आविषेत्” इस से चार वेद सिद्ध होते हैं । मनुके भी चार वेद का निरूपण कहा है । जहाँ कहींत्रयी त्रिया पद आया है वहाँ सर्वत्र त्रयीशब्द चारों वेदोंका वाचक है । ऋग्वेद की २१ शाखा यजुर्वेद की १०० शाखा साम की १००० शाखा और अथर्व वेद की ६

जागा है। यथा, आहत्यादिजागाओं को आनेत्र नाम से कहा कि जागाओं को सामवेद नाम से मौनकादि जागाओं को अथर्व वेद नाम से कहा गया है। आथर्वणिक मन्त्र प्रथो विद्या से निकल रहा है। अथर्व ऋषि के द्वारा जो मन्त्र प्रकट हुए हैं वेही अथर्ववेद में संदृष्ट हैं। यन्तुनः एक ही वेद विभिन्न रचना ( पद्य, गय और गीति ) के रूप में प्रथो कहा गया है। ऋक यजुषा, यजु यजुषा, साम यजुषा और अथर्व संहिता, यज्ञी संहिता का अर्थ 'यज्ञ' का एक प्राणयोग करना। पाणिनि ने कहा है "परः यज्ञिकं यज्ञः । ऋक का स्थान यज्ञिक मन्त्र चारों संहिताओं में नियमान रहन पर भी जहाँ इसकी अधिकता हो उसको ऋक् तथा गयान्तिक मन्त्र की अधिकता को यजु कहेंगे। जहाँ स्तोम और गायन क मुख्यभूत लक्षण हो उगे सामवेद कहने हैं। अर्थात् पद्य, गय और गीति वेद ने तीन प्रकार की रचना हुई अथर्व वेद अथर्वविद्या शब्द से प्रसिद्ध हुआ। अथर्व नामक ऋषि यज्ञ की प्रक्रिया को सर्वप्रथम चलानेवाले हुए उन्होंने यज्ञादि प्रक्रिया को ऋग्वेदादि नाम दिये। ऋग्वेदसंहिता के १-६-४५ में आता है "यज्ञरथवां प्रथमः पथस्तनं" अर्थात् अथर्वों ने यज्ञ का मार्ग दिखलाया। ऋग्वेदसंहिता के सप्तम मंडल में अग्नि जातः अथर्वः। ऋग् के ४-५-२३ सं० में "त्वामग्निः पुष्करात्-अथर्वाग्नि रमन्थन इत्यादि इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यज्ञ विस्तार अथर्वों से हुआ है। जैसे, प्रधान ऋषिजों के सम्वन्ध में कहा गया 'होता ऋग्वेदी हो' अध्वर्यु यजुर्वेदी हो और उद्गाता सामवेदी हो। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रपाठक। (५-५-८) में आया है, "ब्रह्मत्वं केन क्रियते" इसका यह तात्पर्य है कि होता, अध्वर्यु

और उद्गाता भिन्न भिन्न वेदों से वृणीत हो गये परन्तु ब्रह्मा सारे यज्ञ का नियन्त्रण करता है उस की किस विद्या से नियुक्ति की जाय ? "अथ्याविधया" तात्पर्य यह है कि ऋग्वेदज्ञ जो हो वही ब्रह्मा का पद ग्रहण कर सकता है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत है कि यज्ञकार्य निर्वाहार्थ संहिता विभाजित की गई । ब्रह्मत्वं केन क्रियते ? इसका उत्तर जब "अथ्या विधया" यह आया है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि "अथर्व संहिता" के ज्ञान के बिना ब्रह्मा नहीं हो सकता । यतः होता, अध्वर्यु और उद्गाता इन में क्रमशः ऋग्, यजु और साम का ज्ञान तो था ही परन्तु ब्रह्मा में तीन विद्याओं के अतिरिक्त अथर्ववेद की योग्यता का होना परमावश्यक है इसी से यह भी अपेक्षित है कि राक्षसादिकृत विघ्न निवारण कर वह यज्ञ की रक्षा करे । अतः ब्रह्मा का अथर्ववेद ज्ञाता होना आवश्यक है । ऋक्संहिता में "ऋषो ल्व षोष मास्ते पुषुष्वान् गायत्रन्त्वो गायन्ति शक्वतीयु । ब्रह्मा ल्वो वदति जानविचाम् यज्ञ स्व माशो विमिमोत उत्वः ।" इन वचन से ब्रह्मा सर्वविन् एवं अथर्ववेदविद् हुआ क्यों कि "अथाणारुप (अधन्तु ब्रह्मा परिहो सदा" उसका अभिप्राय यही है । यज्ञसम्प्रादन के लिये चार संहिताओं का नाम आता है । इसीलिये ऋग्वेद का दूसरा नाम होतृवेद, यजुर्वेद का अध्वर्यु वेद, अथर्व वेद का उद्गातृवेद और सामवेद का गानवेद । इसमें क्वारिश्रद्धा इत्यादि पूर्वोक्त कथन सिद्ध हो गये । छन्द भी वेद का वाचक है छन्द से वायु आदि देवताओंका ग्रहण होता है । "श्रीति छन्दांसि आयोवाता ओषधयः" छन्द का अर्थ पांचना है अक्षर समाश्रय का नाम छन्द है । इसलिये छादतात् छन्द अर्वात् जो वर्ण आकाश में आच्छादित थे तत्र "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समान्नाताः

इनको गुरुत्र करके पवित्र किया गया है। निगम में आया है छान करने से ही वह मन्त्र "छन्दोग्य मन्त्रेभ्यः। तैत्तिरीय में आया है "यन्प्रणयः छन्दसां मन्त्रे कृतमः" इत्यादि प्रणय मन्त्रों में छेद है। छान्दोग्य ब्राह्मण में आया है "देवा ये गृण्यो विष्णवः स्यर्षी विद्या प्राविशत्सो छन्दोभिःछान्दपन्" देवता मृत्यु से मयमौल होकर वेदों के शरण में गये और इनको रक्षा के लिये छन्द में रखा गया। गुण सूक्त में भी है "छन्दांसि जज्ञिरे" गायत्र्यादि का भी छन्द में ब्यापार हुआ है। ऋग्वेद अष्टम मण्डल में "छन्दांसि च इजानांमन्त्राण्यु" यज्ञों में "शब्दानां छान्दमम्" शब्दों का छान गायत्र्यादि छन्दों में होना है। छन्द एक अक्षरवाले से लेकर बहुत अक्षरोंवाले तक होते हैं। विङ्गलशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। पार्ष्णिनि ने भी "छन्दोऽन्मूत्राणि भवन्ति" कहा है। स्वाध्याय और आगम भी वेद को कहते हैं जैसे, पातञ्जल महाभाष्य में "रक्षोहागमन्त्रव्यसंज्ञाः प्रयोजनम्" कह कर आगम को वेदसिद्ध किया है। निगम वेद को ही कहते हैं। यास्कने निगमनात् निगम कहा है। मनु ने भी निगमालयाम् कह कर वेदवाचकता कही है। भागवत में भी वेदवाचक निगम पद है। यथा ;— "निगम कल्प-तरोर्गलितं फलं शुकमुखाद्मृतद्वयसयुतम्। पिवत भागवतं रसमालयं सुहृद्दो रसिका भुवि भावुकाः"। निगम-वेदरूपी कल्पवृक्ष से निकला हुआ भागवत है। मन्त्र भी वेद को कहते हैं "मन्त्रब्राह्मणयो वेदनामधेयम्" मन्त्र किसे कहते हैं तो "रूपयोऽपिपदायांतां नान्तं यान्ति पृथक् त्वशः।" "तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपरिचितः ॥" मन्त्रः मनतात् मनन एव से सिद्ध होता है कि मन्त्र के बिना भाष्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक ज्ञान नहीं होता है। “यत्काम क्षुपियंस्यां देवतायामपत्यमिच्छन् स्तुतिमप्रयुञ्जे तदैवतः समन्त्रो भवति” जिस कामना से जिस देवता में अपनी अभिलाषा की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है उस देवता का वह मन्त्र होता है। मन्त्रों के निम्नलिखित भेदशास्त्र में वर्णित हैं—“ह्रीं विष्वर्धवाद् याज्ञाशीः स्तुतिप्रिय-प्रवाहिकः। प्ररनो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तामुकीर्तनम् ॥ अवधारणं षोपनिषद् वाक्यार्थन्तु प्रयोद्गा। मन्त्रेषु ये प्रष्टव्यन्ते व्याख्याभृष्टिबोदिताः।” ये मन्त्र जिस में रहने हैं उसको संहिता कहते हैं। संहिता के पाठ में आठ विहृति हैं यथा ; “जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, गरदो, रथो, धन इति भद्रा प्रकृतयः प्रोक्ताः कर्मपूर्वा मनीषिभिः” इस प्रकार समग्र वेदों का अध्ययन करना विधि है। वेद कृत्स्नः अधिगन्तव्य है अर्थात् समग्र वेद पढ़ना चाहिए। मनु ने कहा है :—“यद् प्रिदादाद्विद्वेत्सर्वं गुरोस्त्रैविषकं मतम्। वेदानधीत्य वेदान्वा वेदम्वाऽपि कथञ्चन” इत्यादि।

वेदार्थ में शासनात्मक होने से निरुक्त कहा गया है। निरुक्त का प्रयोजन वेदार्थ को स्पष्ट करना है। यह निरुक्त शास्त्र वेदरूपी सागर में प्यास था वहीं से आनुभविक हुआ। साक्षरग्रन्थों में यह अङ्कुरित हुआ है, निदानसूत्रों में पल्लविन हुआ है। इसी को पास्काचार्य ने काण्डप्रयात्मक निरुक्त और पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु में प्रयत्न कर प्रवचन किया है। निरुक्त के प्रथमाध्याय में पन्थ की भूमिका निघण्टु निर्वचनादि का दूसरे तीसरे अध्याय में निर्वचन का प्रकार आदि बट्ट कर नैषण्टुक काण्ड बतलाया है। चौथे अध्याय में एक परी

आख्यात कर नैगमकाण्ड और पीछे के छे अध्यायों में देवताओं का वर्णन कर देवतकाण्ड बताया है। आगे देवस्तुति को लेकर आत्मतत्त्वों का उपदेश किया है। निरुक्त एक प्रकार निघण्टु का ही भाष्य है। किन्तु उसमें सब नामों का निर्वचन नहीं किया गया है। जैसे; निघण्टु में आया है, पृथ्वी के २१ नाम है किन्तु उसमें एक गोशब्द का ही निर्वचन बताया है अन्यान्य नामों का कोई निर्वचन के लिये उल्लेख नहीं किया है। अन्य नाम निघण्टु में विशदीकरण किये गये हैं वहाँ गो शब्द एक निरुक्त के प्रकार का सूचक है। निरुक्त में वेद के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है; जैसे; "पुर्य विद्या नित्यस्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" मनुष्यों में ज्ञान की अनित्यता के कारण कर्म की सम्पत्ति वेद में केवल मन्त्रों का ही निर्वचन नहीं किया गया है अपितु, धर्मशास्त्रों में भी जो शब्द आये हैं उनका भी निर्वचन किया गया है। गो शब्द के निर्वचन में पयः और क्षीर शब्द का भी निर्वचन है लोक और वेद में शब्दों की सामान्यता दिखाई गई है, जैसे "क्ष्वारि पद आवाति नामाख्यातोपसर्गनिपातानि"।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये लोक और वेद दोनों में आते हैं। विद्यार्थ प्रतीत होनेवाले मन्त्रों का तात्पर्य बतलाया गया है। जहाँ पर वेद के अर्थ में आगंठा होती है वहाँ पर सिद्धान्त करके बतलाया है। जहाँ जहाँ संहिता के भेद से मन्त्रों में भेद आया है, वहाँ वहाँ निर्वचन की विधि से ठीक कर दिया गया है। पद संहिता में शब्दों का निर्वचन है। जैसे, गूर्यः गू + र्यः, जिसका अर्थ संगति नहीं होती है।  
 ३. अर्थ बनावः है। "मित्रं प्रमीयते आयते समिन्वानो मवीतीति

वा मित्रं”, मित्रमिति अन्वयवृद्धितं मित्रम् । इसी प्रकार पुत्र दो शब्दों को एकत्रित करके बनाया गया है । “पुरु त्रायते नियर्णाद्वा पु नरकात्त्रायते इति पुत्रः” । वेद की व्याख्या में प्रामाणिक ऋषियों के महामतान्तर से जहाँ व्याख्या हुई है वहाँ पर विनिगमन करके व्याख्या देखना निरुक्त का ध्येय है । जैसे, ऋक् संहिता का पदकार शाकल्य, सामवेदीय संहिता का गार्ग्य ये दोनों वेदव्याख्यान करने में प्रमाणभूत माने गये हैं, यथा ऋक्संहिता में आया है “यदिन्द्र चित्र मेहनाऽस्ति” यहाँ दो पद बताये हैं ; मेहनं, महनीय धन, अस्ति या तीन पद तो किये है न इह नास्ति । एक ही मन्त्र दो संहिताओं में आने । संहिता भेद से पाठ भेद किया गया है अतः पाठ भेद होने पर भी । मानता ही माननी चाहिन् । जहाँ पर एक ही नाम कालभेद और देशभेद से कुछ विभिन्न प्रतीत होता है उसका भी निर्वचन से समाधान निरुक्त में किया गया है :—जैसे, आर्जिकार्यां विनाद् ..... पूं समय के उत्सृजित विनामाता आदिशब्द मन्त्रों के बीच भी भलोप्रकार दिखाये हैं । जैसे, शपथ और अभिसाव तथा किसी भाष की परिदेवना, विन्द् और प्रगमा । इस प्रकार उच्चारण प्रकरण से ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है । निरुक्त में यह भी स्पष्ट किया है कि मनुष्यों ने तपः प्रभाव से आर्षन्व प्राप्त किया है । वेद मन्त्रों को गूढार्थता का परिज्ञान तपस्या से होता है । इषवी घोतना हन प्रदर्शित मन्त्रों से होती है “ऋषोऽग्ने परमे व्योमन् अस्मिन्नेवा अधिविष्णु निरदुः पस्नाद्य वेदिकम् आकारिष्यसि” इसी प्रकार मन्त्रों में देवता का निर्णय करना भी दुष्कर है किन्तु मन्त्रका कौन



देवता है ? यथा, “शाकपूणिः सङ्कल्पयाज्ञाने मर्यां देवता जानामीति” शाकपूणि ने सङ्कल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ। इस पर उसके समक्ष उभय लिङ्ग देवता प्रगट हुए वह उन्हें पहचान न सका। तब एक मन्त्र से उसे उपदेश दिया गया। निरुक्त शास्त्र ने देवता के विशदीकरण को देवत काण्ड में बनाया है। निरुक्त ने वेदों में विज्ञान भी प्रदर्शित किया है। यथा “दिवं त्रिन्वन्त्याण्यः” यास्काचार्य ने इस मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की है कुछ प्रवर्ति व्यवहार भी दिखाये हैं। “देवरः कस्मान् द्वितीयो वर उच्यते” और सपुत्र की प्रधानता भी दिखाई है “नान्योदयो मनसा मन्द्रवायुः” दूसरे गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी अपना पुत्र न समकं। पुण्य एवं पाप भी दिखाया है “अस्त्यस्मात् ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपः कर्म च” हम पर पाप नहीं लग सकता है उसका कारण है हमारा ब्रह्मचर्य, तप, दानशीलता एवं वेदाध्ययन यह निर्देश किया है। देवताओं की पुराणकार विन्तना भी निरुक्त में दिखाई गई है। ईश्वर का भी ज्ञान हम में बताया है। ईश्वर सब भूतों की रक्षा और इन्द्रियों की भी रक्षा करनेवाला है “तन्तुशोपनिषद् पूर्यं पृच्छामि” इस पुरण शब्द के निर्बचन में ब्रह्मज्ञान बताया है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम काण्ड निघण्टुक काण्ड है; इस में ३ अध्याय है इसको पूर्वपट्टक कहा है। इस में पहला प्रकरण “समाश्रायः समाश्रातः” आया है; गवादिशब्द से देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय को समाश्राय कहा है उसका व्याख्यान अर्थात् यह नाम; आश्रयान, उपसर्ग निपात, सामान्य लक्षण, विशेष

लक्षण, एकार्थबोधक अन्वगत संस्कारबोधक अभिधान, अभिधेय मर्यादा का व्याख्यान इस में हुआ है। इस में यह बताया गया है कि यह महान् प्रयत्न एक अभिधान अनेक धातु के निर्वचन के रूप में कहा गया है। निरुक्त का सिद्धान्त है कि नाम सब आख्यातज है निगमन, समाहनन और समाहरण यह तीन प्रकार की क्रिया निष्पत्तु में है। चार पद की जाति ( नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ) में नाम और आख्यात अन्य निरपेक्षता से अपने अपने अर्थ को प्रगट कर सकते हैं। उपसर्ग-निपात दूसरे शब्द के मिले बिना सार्थक नहीं हो सकते हैं। भाव की प्रधानता नाम में और सत्व की प्रधानता आख्यात में है। भावप्रधान आख्यात क्यों कहा है ? क्रिया की कोई मूर्ति नहीं है। वह क्रियाकारकों के साथ अभिव्यक्त होकर दीप्त पड़ती है बिना कारकों के सहयोग के क्रिया नहीं दीप्तती। जैसे, 'भोदनं पठति देवदत्तः' यहाँ भोदन क्रिया का व्यापार है, कहा भी है :—“क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते घीनप्रसृगम् विघातकालस्तु विशिष्यते” गौरवः पुरगो इस्ती” भादि से सर्वों को उपदिष्ट किया है। “आस्ते गेते मज्जति” भादि से भाव बतलाया है। उस में “मनुष्यवद् देवताभिधानं”, देवताओं के नाम भी मनुष्यों की तरह होते हैं परन्तु “गुरुपरिहारित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो भेदे”। भाव का निर्वचन है “भवतीति भावः। भावविकार उ चताये गरे है जायते अस्ति विपरिणमते, वपते, अपक्षीयते विनम्यति आदि। इस प्रकार नाम और आख्यात को व्याख्या की गई है।

निपात तथा उपसर्ग ऊंचे नीचे अर्थ में, उपमा में और पारपूर्ति में

भी भातं है। अरि शब्द गोमा के अर्थ में, स्व विनिपाठार्थ में और स्व को वही अर्थनाम और वही सर्वनाम कहा है जैसे, "अन्विक्तः सौमन्वन्तं पुण्ड्यात् गायत्रस्तपो गायत्री गच्छेत्। अथा स्वो वर्त्ति त्रालिपिं यत्तस्यमात्रं विमिमोत उच्यते" ॥ यही पर स्व शब्द एक का प्रयोग है। अन्विक्त के अर्थ में इसका विनिपाठ कहा है। दूसरे अर्थ में निपाठ के उ और स्व का प्रयोग बनाया है। 'यथा एक में एक अर्थ आया है "अक्षयवन्तः वर्णवन्तः सन्नाथो मनोज्ञो मगधावन्तः। आश्वनाशः उपश्रुतः उ स्पेदता इव श्रुता उ स्पे दृष्टे" यही पर तु और स्व का प्रयोग बताया है। मन्त्रार्थ इसका यह है :—

समान इन्द्रियोंवाले अर्थात् समान वाक्य का परे 'दुष्ट मनुष्य अपने मन की कल्पना करने में एक गिद्दान्तर नहीं आसकते हैं। इस में सरोवर का दृष्टान्त देते हैं, सरोवरमें जैसे जो जितनी गहराई में खान करके गया वह उतना ही पहुँच सका और उसीका ही उसने कर्म किया। निरुक्त में आता है :—

"स्थाणुरथं भारहारः किलाभृद्वीत्य वेद न विज्ञानानि योऽर्थं। योऽर्थज्ञः ह्यसकलं भद्रमनुने नाकमेति ज्ञान विष्णु पाप्मा"। यह गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शक्यते अनप्राविष शुष्कैधो न तज्ज्वलति कश्चिद्।

वेद पढ़ कर उसके अर्थ जानने को बहुत ही आवश्यकता है क्योंकि अर्थज्ञान न होने से केवल भारवादी ही होता है वेदार्थ जानने से ही तज्जन्य श्रेय का मनुष्य अधिकारी होता है।

तीसरे पाद में बहुनाम और हस्यनाम का निर्वचन किया है। चतुर्थ पाद में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द का

विवरण किया है। अनवगत संस्कार हुए शब्दों का भी इस िर्णन किया है जैसे जहा, जघान, उनके यह लक्षण है "तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिशब्दयोरपि"।

चतुर्पाद में "अर्चतिर्कर्मणो उत्तरेधातवः" पूजा के कर्म में, इस िधेधात्रियों के नाम को भी गणना की गई है "त्रि प्रधीर्मेधावी" उनका निर्वचन भी बतला दिया "मती धीयते इति मेधा"।

दूसरा नैगमकाण्ड :—

इस में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द बताया गया है। जैसे ; विस्तीर्य हि तमज्ञानमृषिः सक्षेपनोऽम्बोव इत्ये हि विदुषां लोके समासध्यात्मधारणम्"जै से ; एकार्थ में अनेक शब्द ; एक अर्थ पृथिवी है और हम में अनेक गवादि शब्द आये हैं साथ ही अनेक जो गवादि शब्द हैं वह एक पृथिवी के अर्थ में आये हैं। यथोक्त— "तत्त्वपर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि । निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमेषुदे । अर्थात् नैगम में एक पदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में अनवगत संस्कार पदों का निर्देश किया गया है। यथा, "शब्दरूपः पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतेर्गुणः" कहीं पर एक पद के भी दो पद किये गये। जैसे ; पुरपादः, एक शब्द और 'पुरपानदनाय', जैसे ; नितउ शब्द का नैगम परिवचन हुआ पुनश्चा, तुन्त्रश्चा, तुषणश्चा।

"सक्तुमिव नितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनमावाचममजत ; सक्तुः कः सक्तोर्षो सगिलप्यति भंगे ततः दुर्धर्षो भवति । जैसे, एवीते -यद् अनवगत है अनेकार्थ होने से इसका अर्थ सूते या "सूयते" एक

## निरुक्त (निघण्टु)

जगह अर्थ हुआ सूगते अच्छी गति में और दूसरी जगह अर्थ हुआ देवदत्तः पुत्रं सूयते" । 'अकुवार' यह अनवगतसंस्कार है । "अकुपार व निगम अकुर्वाण जैसे, मन्त्र में आया है "विधामतस्यते वयमकूपारस् दावने" अकुपार का अर्थ हुआ अकुत्सितस्य पूर्णस्य । जैसे, जामी शब्द अनेकार्थ वाचक हुआ "भाषाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामव कृत्वश्रजामि" वहां जामि शब्द अनेकार्थवाचक है जामि शब्द का भी मूल भी है और भगिनी भी । यहां पर भी जो है वह उपजन है । वैसे पिता शब्द अनवगतसंस्कार है इसका अर्थ है पाता, पालयिता जैसे शुभो के वर्णन में आया है "घौमें पिता—चतुर्थे पाद इस में अदिति शब्द आया है यह अनवगत संस्कार है इसका अर्थ अदिति अदीना निरण के पक्ष में हुआ और इतिहास के पक्ष में देवमाता बना ; जैसे, मन्त्र आया है, "अदिति यौ र्दितिरन्तरिक्ष ७" इस प्रकार एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द और अनवगत संस्कार शब्दों का वर्णन आया है ।

### वयमराट्—

वाराह शब्द—अनवगत संस्कार अनेकार्थ है, जैसे ; मेघ को भी वाराह कहते हैं, वर उर्क आहार यस्य स वाराहः इसलिये मेघ का भी इस में निर्वचन हुआ । वरं वरं मूलं वहति उद्वपच्छति वाहः वाराह इन्द्र को भी कहते हैं । जैसे, 'वयमराणि' यह भी अनवगत है इसका निगम हुआ, "स्वयं साराणि" अर्थात् दिन को स्वयं चर्चते हैं । स्व आदित्य का नाम है यह इन को चलाता है । अनेकार्थ



भवति सं इति वा— इस प्रकार इस अनवगत की व्युत्पत्ति की है। वा  
 कृतं विधत्ते देवमे” में वा का भी निगम करा है। इस प्रकार कनेकर्म  
 में आया है।

“दृष्टा— उर्मी यह शब्द भी अनवगत है। दृष्टा—दृष्टि वापि  
 उर्मी उमी उर्मीति आस्त्यनयं में आया है प्रायः उर्मान् इति उर्मीति  
 नाम है अनुदात्त प्रकृतियाँ लिखा है। उर्मान् इति अनवगत उर्मान्-  
 मान् निर्वचन हुआ। दृष्ट्य व्युत्पत्ति यह अनवगत है। दृष्ट्य दृष्ट्य-  
 व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति— इति।

शम्भु—अनवगत यज्ञ का नाम है। शम्भुति शम्भुति वा।  
 वेपथुः कर्णम्—शायकारि प्रायश्चित्तेन पुनाति “कर्णमेव दृष्ट्यमेव कर्म  
 चक्षिरे”।

अं सत्रम्—अनवगतम्—अंसःप्राणं यह निर्वचन हुआ इसमें अनुप वा  
 कवच का अर्थ निकलता है। कवचं—कु अश्विनम् कुशिलमश्विनम् आहावः  
 आहावनाम् इस प्रकार अनवगतार्थ अनेकार्थ शब्दों का निगमन किया  
 गया है। जर्मरि तुर्करी अनवगतार्थ शब्दों का भी निगम जर्मरी हिंसा  
 करने को तुर्करी वृत्ति के अर्थ में आता है। उपलप्रक्षिणी अनवगमे—  
 —इसका अर्थ उपलेपु प्रक्षेपणी यह निगम हुआ।

पाथ शब्द जलवाचक इसका निगम पानान् सप्रथा सर्जतः सूर्युः।  
 धायन्त इति अनवगत इसका धायन्त यह निगम “धायन्त इव सूर्यं  
 विवेदिन्द्रस्य भक्षत।

अमरः—अनवगत इसका निगम अमृत।

सोमानं—अनवगत इसका सोतारं निगम हुआ।

## देवत काण्ड—

वेद की सम्पूर्ण शाखाओं में जो गुणवाचक पद हैं उनकी व्याख्या निघण्टु और निगम एक पद में की गई है। अवशिष्ट पद जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है वे देवत काण्ड में बताये गये हैं। “तयानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तर्हवतम्” जिन नामों में देवता की प्रधानतया स्तुति दिखाई गई है उसे देवत काण्ड नाम से यास्काचार्य ने कहा है। यथा, यत्काम ऋषिर्पिस्थां देवताया मार्यस्थमिच्छन् स्तुति म्प्रयुञ्क्ते तर्हवतः स मन्त्रो भवति। नास्त्रिविधा ऋचः परोक्षरूताः प्रत्यक्षरूताः आध्यात्मिकयव तत्र परोक्षरूताः सर्वाभिनांमविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथम-पुल्लैश्चाख्यातस्य” निघण्टुक और निगम काण्ड में जो शब्द आये हैं वे प्रायः मन्त्रों में देवता के ही सम्बन्ध में हैं किन्तु उन सब मन्त्रों में देवता का स्पष्टीकरण न होने से यह देवत प्रकरण यहां से प्रारम्भ किया गया। जिस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु ऋषि जिस मन्त्र से जिस देवता की प्रार्थना करता है उस मन्त्र का वह देवता होता है। देवता के ही प्रसाद से प्रत्येक प्रयोजन सिद्ध होता है, केवल मानवीय आधिभौतिक पुरस्कार से ही कार्य की सफलता समझ लेना वैदिक संस्कृति का अनादर करना है। गीता में भी कहा है “इष्टान्भोगान्हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञ भाविताः। यज्ञ द्वारा भावित होने पर देवता मनुष्यों के हित को प्रदान करता है।

देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है। नाम, रूप, कर्म और बन्धु यह चार प्रकार की स्तुति वेद मन्त्रों में हैं। स्तुति के मन्त्र त्रिविध हैं—परोक्षरूत प्रत्यक्षरूत और आध्यात्मिक।



परोक्षकृत मन्त्रों में सभी विभक्तियों तथा प्रथम पुरुष के एक वचन में आख्यात आता है "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः" देवता परोक्षकृति से प्रसन्न होते हैं ; यथा, "इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः इन्द्रमित् गाथिनो वृह-  
दिन्द्रे गौतेनृत्सवोवेविषाणा इन्द्राय साम गायत" इत्यादि परोक्षकृत मन्त्र सम्पूर्णां विभक्तियों में आते हैं ।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में सर्वनाम और मध्यम पुरुष आख्यात आता है, "त्वमिन्द्र ! ब्रह्मादधि वित इन्द्र मृधो जहि" । हे इन्द्र तुम सबसे बलवान् हो तुम तेज को वर्णन करनेवाले हो ।

सर्वनाम उत्तम पुरुष आख्यात योग से आध्यात्मिक मन्त्र आते हैं यथा "अहं रद्वे भिर्यगभिग्गराम्यहमादित्वैस्त कियदेवैः । अहं मिश्रावरणो भा विमर्ष्यहमिन्द्रागो अहमखिनोभा" वाणी देवता स्वयं कहती है, मैं रद्व, षष्ठ, भारिन्य, विश्वामित्र मिश्रावरण के साथ स्तुति रूप में आती हूँ और इन्द्राग्नि देवता को इत्थिन्य में धारण करती हूँ इत्यादि । परोक्ष-  
कृत और प्रत्यक्षकृत वेदों में अधिक हैं आध्यात्मिक संक्षेप में आये हैं ।  
कहीं स्तुति रूप में कहीं आशीर्वाद रूप में वे मन्त्र आते हैं कहीं शाप के रूप में भी । एक समय हिमरी ने यज्ञिष्ठ को कह दिया "अथा मुरीय यानुवानो यदित्थिम" — अथा त्व वीरै रंशभिर्युषा यो सायावो यानुधावेत्तवद्" यज्ञिष्ठ ने कहा यदि मैं राक्षस हूँ तो अभी देरो मृत्यु हो जाय अन्यथा त्रिगने क्रोधारेणमें मूंड ही मुझे कह दिया है वह अपने देश गन्तान में नियुक्त और शोकपस्त हो जाय ।

त्रिन्द्रावरण वरक को इस प्रकारण में मन्त्र आये हैं "मोघमन्त्र

न्दते अत्रचेताः सत्यं मवीमि वध इत्स तस्य नार्यमगं पुष्यति नो सखायं  
बलाघो भवति केवलादी” ।

जो अन्न मित्र बान्धव को न देकर स्वयं खाता है वह पाप को खाता  
। गोता में भी लिखा है “भुज्जते ते स्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्”  
। मनुष्य अतिथि आदि किसी को दिये बिना अन्न स्वयं ही खा लेता है  
इ पापी है इनो प्रकरण में द्यूत की निन्दा एवं कृपिकर्म रूप यज्ञ को  
गंसा की है ।

“अर्धमां दोष्यःकृपिमित्कृपस्व विचे रमस्व बहुमन्यमानः” ।

द्यूत खेलने से बहुत अनर्थ होते हैं । महाभारत में विनाश  
का कारण युधा का खेल हुआ । तुम श्लेग चित्त लगाकर  
पत्ती करो । कृपि परम धर्म है । अतः सभी के लिये चाहे किसी  
तानि, वर्ण या वर्ग के हों कृपि कर्म स्वयं करने की वेद भगवान  
को आज्ञा है ।

जिन मन्त्रों में देवता निर्देश नहीं हैं वे मन्त्र जिस यज्ञ में विनियोग  
किये गये हैं उस यज्ञ के देवतात्मक वे मन्त्र हैं “यद्देवतः स यज्ञो वा  
यज्ञान् वा सद्देवता भवन्ति” लोकाचार भी यह है अतिथिदेवता,  
पितृदेवता, यज्ञदेवता इत्यादि ।

यह भी जाना है और ज्ञातव्य है कि एक देवता की अनेक स्थान  
पर भिन्न रूप में भी स्तुति की गई है ।

“महाभारतवाद्देवतायाः” “एक आत्मा बहुधा स्तूपते” अग्निमित्रं  
वश्यं इन्द्रमाहुः” “एकं सद्देवता बहुधा वदन्ति” “पुराण पण्डितः सर्वं यद्  
मूर्ध्नि यच्चभाष्यम्” ।

निरुक्तकार ने तीन देवता माने हैं :—“अग्नि एव देवता इति मैत्रायणः।  
अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुपुंसोऽग्निप्रधानः, सूर्यो द्युस्थानः”  
पृथिवी का देवता अग्नि, अग्निप्रधान का इन्द्र या वायु, द्युस्थान का  
आदित्य ये तीन देवता बताये हैं। आगे कहा है “सदाभ्यासादेवेभ्यो  
अपि बहुनि नामधेयानि भवन्ति”।

यहाँ स्वानेकस्य सम्भोगेभ्यः भी जानना है जेमें पृथ्वी में मनुज  
पशु आदि रहते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी सम्भवा ।

अब देवताओं के आकार की चिन्तना आती है “आकार विन्तन्  
पुरष विधाः स्युः”।

देवताओं का आकार मनुष्यों को भाँति हान में मन्त्रों में आया है  
“आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि” हे इन्द्र ! दो घोड़ों पर आरुढ़ होकर  
सोम पान करो” यह आकार विन्तन है और ऐक्य रूप में है। अगुण  
विध भी स्तुति के मन्त्र आये हैं; यथा, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी,  
चन्द्रमा इनका द्वैविध्य देवताओं का आकार माना गया है पुरषविध और  
अपुरषविध। निरुक्तकार घास्क ने “तिस्रो देवताः” बताकर तीन  
( अग्नि, इन्द्र और आदित्य ) बताये हैं साथ ही उनकी भक्ति और साद-  
र्य्या भी दिखाई है। किस देवता को स्तुति किस सवन में होती है  
यह बताया जाता है। सवन तीन होते हैं, प्राथमिक, माध्याह्निक और  
तार्तीयक। यथा; “अग्निभक्तिन्ययं लोकः” अग्नि पृथिवीस्थान प्रातः  
सवन वसन्त गायत्री इत्यादि अग्निना भज्यन्ते अग्नि के साथ जो अन्य  
देवता स्तुति किये जाते हैं वे अग्नि भक्तिनी नाम से निर्दिष्ट हुए हैं।  
प्रायः अग्नि के साथ इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य ऋतु का संस्तवन आता

; यथा, “त्वश्रो अग्ने वरुणस्य त्रिद्वान् देवस्य हेतो व षासि सीष्टाः त्रिष्टो बन्धितमः शोशुचानो विग्वाङ्गे पांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् ।

इन्द्र के साथ जिनका संस्तवन होता है इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान माध्य-न्दन सवन ग्रीष्मर्तु त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोम है । इसके साथ सस्तवनीय चना अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, वृहस्पति, अङ्गणस्पति, पर्वत, वृत्स्नवायु, वेणु और मित्रावरुण है । यथा, ‘इन्द्रा पर्वता वृहता रथेन धामीरिय स वहतं सुवोराः । वीत इष्यान्पध्वरेषु देवा वर्षेषाम् गोभिरिलया रुन्ता’ इत्यादि मन्त्र सस्तवन में आये हैं ।

अब आदित्य के सस्तवन का वर्णन आता है “अथैतान्यादित्यमती-न्यसौ लोकस्तृतीय सवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरेष्यं साम ये व देवगणा समाध्राता उत्तमे स्थाने यान्त्रक्षियः अयास्य कर्म रसादानं अग्निभिश्च रसाधारणम् यद्य किञ्चित् प्रवहिनमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना सम्बलसरेणे तिसंस्तवः ।

आदित्य का संस्तवन चन्द्रमा, वायु के साथ आता है । इसी वम से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन स्थानों में श्रुत, छन्द स्तोम का आयोजन कर लेना चाहिए; यथा शरद् ऋतु अनुष्टुप् छन्द वैराज साम ये पृथ्वी के आयजन है । हेमन्त पक्ष त्रिव्रण स्तोम शश्वर साम अन्तरिक्ष के हैं । शिशिर-अतिछन्द शर्यस्त्रिदशस्तोम रैवत साम द्युभक्ति में हैं ।

उक्त क्रिया-कलाप मन्त्रों में आया है अतः यहाँ मन्त्र का निर्वचन होना आवश्यक है ।

यथा, “मन्त्रो मननान्” इनके मनन करनेसे ही अध्यात्म, अधिदेव, अधिपति का ज्ञान होता है । मन्त्र छन्दों में रहते हैं छन्दः प्रच्छादनात् ।

यदेभिरात्मानमाछादयत् देवमृत्युर्विभ्यतः “तच्छन्दसा छन्दस्वम्”  
जिन छन्दोंसे देवताओं ने अपने को मृत्यु से छिपा दिया यह छन्द  
छादन से है। यजुः यज्यते याज्यन्ते विशेषतया यजु से ही यजु  
का विधान है। तीन देवताओं में अग्नि को पृथ्वी स्थान  
बताया उसका यह तात्पर्य बोधक निर्वचन है। “अग्निः कस्माद्प्रणीर्भवति  
अयं यज्ञेषु प्रणीयते”—“अग्नि-मीठे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं  
रत्नधातमम्”।

इसो प्रकार जातवेदाः का निर्वचन आया है “जातानि वेद वा जातानि  
एनं विदुः जाते ज्ञाते विद्यते इति वा” इत्यादि। इसी प्रकार वैश्वानर  
का भी—

वैश्वानरः कस्माद् विधातराजयति विश्व एनं नरा नयन्तीति  
या इस प्रकरण में आदो पुरोडाश क वर्णन आता है “वैश्वानरीयो  
द्वादश कपालो भवति इत्यादि। इसी प्रकार मध्यस्थान द्युस्थान  
के देवताओं का मन्त्र उनके नामों का निर्वचन देवत काण्ड में  
आया है।

देवत प्रकरण के अनन्तर परिशिष्ट प्रकरण निरुक्त में आया है। इसमें  
अग्नि स्तुति के मन्त्र और स्तुत्यात्मक मन्त्र आये हैं। तथा अत्यवधार्य  
मन्त्र जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय योग का ज्ञान नहीं हो सकता  
उन्हे बताया है। यथा,—गृणीव अर्भरी तुर्णीत् नेतो मेव तुर्णी  
पर्वरीत् । तुर्णी का अन्वयण संस्कार के शब्दों का व्याख्यान ऐसे  
दिया है—गृणीवी ताद अर्भिवी, अर्भरी=पापन करभेवाले ; तुर्णी=इवन  
करभेवाले ; तुर्णी=द्वि करभेवाली। इस प्रकार निगूणार्थ को देवत

प्रकरण में दिखाया है। देव प्रकरण की ख्यालिया वर्यमाण इस मन्त्र में की है।

अन्वारि श्रुता प्रयो अस्य पादा द्वेदीपे सस इस्तासोभस्य त्रिणा बद्धो वृषमो रोरेषीति महो देवो मर्यां२ आ विवेदा” ।

महादेव यह मनुष्योंको इस स्वरूप में प्राप्त हुए हैं। चारवेद इसके श्रुतभूत उच स्थान है। तीन सवन दो वीर्य-प्राणगोय एवं उद्यनीय। ससइस्त=साल छन्द। त्रिणावद्=मन्त्र, माह्वण और कल्प इन तीन प्रस्थानों में वर्णित। रोरेषीति=शब्दस्वरूप प्रगट होते हैं; यद्वा ऋग्यजु और साम से प्रगट हो रहा है।

अन्तमें अक्षर मझ की स्तुति और उसके ज्ञान में निष्ठा पर मन्त्र में कहा है :—“ऋचोभक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विषे निषेदुः। यस्तास्र वेद किमुद्या करिष्यति य इत्तद् विदुस्त्वदमे समासते” ॥

पर मझ प्रणव अँकार के ज्ञान बिना वेद मन्त्रों के केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती। इस मन्त्र में वेदों का ज्ञान मझज्ञान पर पर्यवसान चरम लक्ष बताया है। अक्षरे परमे व्योमन् विविधप्रकार के शब्द जाति जिस आकाश में वीर्य आवर्ध रूपसे ओतप्रोत है तीन मात्रा अकार, उकार, मकार शब्दजन्य परमझ का ज्ञान जिसे वेद पढ़ने से न हो सका; इस अँकार स्वरूप में देवता समाये हुए हैं यथा प्रथम मात्रा में अग्नि ऋग्वेद पृथ्वीलोक निवासी; द्वितीय मात्रा में अन्तरिक्ष वायु यजुः और वह्नोक निवासी; तृतीय मात्रा में घौ आदित्य सोम वह्नोक निवासी इस प्रकार विशिष्ट गुण सम्पन्न अँकार को जिसने न जाना उसका वेदों के अध्ययन मात्र से क्या लाभ? जिस महामाग ने इसे ज्ञान लिया

उपहा ही नेरु ज्ञान मार्गक हे उचिता एतेरु .....सर्ग—अर्थात्  
नेरुज्ञान प्रकृतान पर समता हे ।

अन्त में कर्मकाण्ड यज्ञ का निश्चय हे तथा, दिवा एव अर्द्धिवा  
रो प्रवृत्तियों से उनको दो प्रकार की गति का वर्णन हे । जैसे ही  
धीमरु भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया हे —“दुःसहस्रं ते लो  
को ते जगत्तः क्षान्तिमे मनः । एकवा वायव्यस्यूर्ध्वमस्य वाऽऽग्नेर्गुणः” ।

इस पर देवत काण्ड समाप्ति में रिताद वर्णन करते हैं —“दे दिवा-  
माध्व्य विद्यामुत्सृज्य मरुत्तन्वेति शिवा नंदोर्ध्वानि वा कर्माणि कुर्वन्ति  
ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाश्चि राधेराधायमानाऽधमराधोवमानाऽ-  
दक्षिणायनं दक्षिणायनान् विवृणोऽ विवृणोऽश्चन्द्रमस्य चन्द्रमसो वपुं  
वायोर्दृष्टि वृष्टेरोश्चयत्पेनदृष्ट्या ( नन्ववदृष्टये ) पुनोर्गेर्दोऽर्कं  
प्रतिपद्यते ।

अर्थात् जो केवल यज्ञ करते हैं अर्द्धिवा मन पालन  
नहीं करते हैं; मरु विद्या पर ध्यान न देकर केवल  
यज्ञकर्म में लगे रहते हैं वे धूमरात्रि विवृणोऽ, चन्द्रोऽ, वायु आदि  
में घूम कर दक्षिणायन पथ द्वारा पृथ्वी में अग्नि मरण के बन्धन में  
पुनः जकड़े रह जाते हैं ।

“अथ ये दिवसामुत्सृज्य विद्या माध्व्य मरुत्तन्वेति क्षान्तिश्चानि  
वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽचिरमिसम्भावन्त्यर्जिणोऽर भास्वमाश्वश्रादुमापूर्व-  
माश्वश्रादुदगयन मुदगयना हेवृणोऽ देवत्याद्यादित्यमादित्याद्वैद्युतं  
वैद्युतान्मानसं मानसः पुण्यो मृत्या मरुत्तोऽकर्मिणमभवन्ति ते न पुनरा-  
वर्त्तन्ते तिष्ठा दन्दृष्टा य इदं न जानन्ति मरुत्तारिद वेदित्यमथाव्याह ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्मकरना वेदों में बताया है। त्रिनिष्ठात्मक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति होती है आत्मा की तत्परता पर यह मन्त्र कहा है "न तं विद्याथ य इमा जत्रानान्यद्युष्माक-  
नन्तरं यभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या वासुञ्जुष उक्ष्यशासधरन्ति ।

अर्थात् अग्निशास्त्री अन्वकार से इस ब्रह्म का ज्ञान कठिन हो जाता है । जो तत्परता एवं अहिंसा द्वारा वेदोक्त कर्म को करता है उसको ब्रह्मज्ञान से निरतिशयानन्द केवल्य सुख की प्राप्ति वैदिक कर्मकाण्ड में बताई है, वेदज्ञान आत्मज्ञान पर ही परिसमाप्त है ।

इसके अनन्तर निघण्टु का समाञ्जान है जिससे निरुक्त के प्रथम काण्ड में ही "समाञ्जयः समाञ्जतः स ज्वाल्यातज्यः तमिमं समाञ्जयं निघण्टय आचक्षते निघण्टवः निगमान्" निघण्टु अध्याय में वैदिक समनाम आख्यात को एकत्र कर बताया है ; यथा, पृथ्वी के २१ नाम शूयक् भौ, ग्मा, ज्मा आदि प्रदर्शित किये हैं, पञ्चदश हिरण्य नाम, हेम, चन्द्रम्, हर्मम्, इत्यादि ; षोडशान्तरिक्ष नाम अम्बरम्, वियत्, ज्योम इत्यादि देवपत्न्य इत्येक त्रिंशत् यद्वां तक निघण्टुक काण्ड निरुक्त से शूयक् लिखा है इसके रचयिता भी यान्क ही है "आद्यं निघण्टुकं काण्डं त्रिंशोषं भौगमं तथा श्लोके देवतञ्चेति समाञ्जयस्त्रिधा मतः" वैदिकनमाञ्जय तीन काण्डों में समाप्त हुआ है ।

मानव संस्कृति का विकास वेदों से हुआ है । वेदों में देवता शक्ति, पशुशक्ति से अलौकिक समत्कार संसार के भौमान्तरिक्ष उत्पातों का दामन मानव जगत् में बहिर्मुख दृष्टि से बढ़ने से अनर्थ देशोपद्रवादि भाजते हैं, उनके शासन करने के विधान तथा वैज्ञानिक



गणेशना शिल्पकला, औषधि, नीति आदि अमूल्य साहित्य का महान् अक्षुण्ण रहता है। सम्पूर्ण प्रकार के मानव हिन का उत्पादन वेदों में ही जो भारत की एक अनुपम निधि है, जिनके ज्ञान से भारतीय जनता अभ्युदययुक्त, प्रसन्न एवं परहित में निरन्तर लगी रहती थी। ससार में जितने भी भौतिक एवं दिव्य विज्ञान निधि हैं उनका उत्पादन वेदों में ही है।

इस महान् अत्युपयोगी वेदार्थ का ज्ञान बहुत क्लिष्ट होने से मानवता इस के लाभ से वञ्चित प्रायः हो रही है अतः देवराजयज्व कृत् टोका भी साथ में थी ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, एम० ए० शास्त्री एवं ए० रामनाथ दार्धीय साहित्य शास्त्री द्वारा संशोधनादि कार्य को सुचारुरूपेण सम्पादित कर प्रस्तुत की गई है। गुरुमण्डल के तत्त्वावधान में वैदिक विज्ञान की विधाया पर ध्यान दिया मानवता के एकनिष्ठ परम उपासक श्रीयुन स्केड मनपुत्रराव जी मोर ने। आपने मानवता के हित के लिये वेदज्ञान की सरलता क्रियते हो यह विचार कर "गुरुमण्डल" के दशम पुण्य रूप में निरुक्त-निघण्टु का प्रकाशन कर जनता की दीर्घकालीन उत्कण्ठार्थगं विधाया को शान्त कर भगवान् वेद के अवगम्य नियम एवम् आशीर्वाद को प्रदत्त किया है। जनता इस से लाभ उठावे भगवती पराम्बा स्केड जी के इस विधायाविकाराय को सरल बनाये "सर्वज्ञानाधिकं ब्रह्म" यह दोनों में वेद के ज्ञान को विकाराय करना महान् दान है। एष्य के सम्पादन में प्रमादादि से यदि श्रुटियां रह गई हों तो कृपानु विद्वहरेदय इन्हे क्षमाय लें।

भवशील—

राजगुरु हरिदत्त शास्त्री

देवरीगढ़वाल

निरुक्त ( निघण्टु ) का अभिनव संस्करण पाठकों के करकमलों में विरित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। निरुक्त का यह नम भाग है इसमें केवल निघण्टु समाप्ताय और उसपर पदनिर्वचन । निगम प्रतिपादक सप्रसिद्ध विद्वान् देवराज यन्वा की निघण्टु का है।

इस निरुक्त के कर्ता वेदमार्गप्रतिष्ठापक महर्षिप्रवर धीयास्काचार्य । निरुक्तकार यास्क ने प्रायः चौदह निरुक्तकार गिनाये हैं, जिससे निरुक्त की प्राचीन परम्परा का पता लगता है। जैसे—

औपमंथव, औदुम्बरायण, चाप्यांयणि, गार्य, भाषायण, शाकपूणि, गौणवाभ, सैदिकि, गाल्व, स्यालाप्टीचि, क्रौष्टुकि, कास्थक्य एवं १३ वां न्यय यास्क और १४ वां शाकपूणि का पुत्र या कौत्सज्य हो सकता है।

निरुक्त में वि० भा० १।१३ 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदं' नि० भा० १।२० में निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि लिखकर चौदह निरुक्तों के होने का विवरण दिया है।

१ धी भगवदत्त के अनुसार ये चौदह निरुक्तकार हुये जिन्होंने अपना अपना निघण्टु बनाया और उसी पर निरुक्तकारी व्याख्या लिखी। विद्वान् निघण्टुओं के प्रमाण यास्क्रीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में मिलते हैं। महर्षि यास्क निरुक्तकारों में सबसे अन्तिम हैं, अतः उन्हें अपने पूर्ववर्ती निरुक्तों के निरुक्तों से बराबर सहायता मिली।

इसी प्रकार निघण्टु ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी उनकी विविधता के प्रमाण मिलते हैं,

“तान्यप्येके समाम्नन्ति” ४१५ अगुक्त प्रकार के शब्दों पर भी डॉ. आचार्य निघण्टु ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं ऐसा लिखा है।

इन्होंने परवर्ती भाषाओं की अमूल्य सामग्री का संकलन ही यास्कआचार्य कृत निरुक्त की लोकप्रियता वैज्ञानिक बसौटी है और उसी पर आनेवाले वैदिक विद्वानों ने विद्वत्पूर्ण भाष्य लिखे हैं।

फलतः यह अद्यावधि पढ़न-पाठन के लिये सर्वत्र काम में लाना जाता रहा।

इस निघण्टु के यास्कप्रणीत होने में दो पक्ष प्रचलित हैं।

श्री दुर्गाचार्य, स्कन्द सेदेवर, जर्मन पण्डित रोप, प्रोफेसर कर्जत आदि विद्वान् निघण्टु को यास्क कृत नहीं मानते उनका निष्पष्ट अभिप्राय यह है कि यह निघण्टु बहुत पहले की रचना है और अज्ञातनामा इसके रचनेवाले हैं।

—प्रोफेसर सिद्देवर वन

दुर्गाचार्य-तस्यैषा.....साधुनरियं

त इमं ग्रन्थं गवादि देव—पत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः।

अर्थात् इसी निरुक्त का गौ से आरम्भ कर देवपत्नी के अन्त तक

में सूत्र-संग्रह है उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह ध्रुतरिष्ये

नि० ४१५ भाष्य में लिखता है, श्रु० ५१३६१२ मन्त्र में “अ

का नाम है निघण्टु में इसका भी यही मत है—

इ निघण्टु वालक कृत नहीं है, प्रत्युत कश्यप प्रजापति कृत है । उन्होंने  
हाम्भारत के ये श्लोक इसकी पुष्टि में दिये हैं ।—

“वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।

निघण्टुक पदाख्याने विद्भिर्मां वृषमुत्तमम् ।

कविर्वाहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।

तस्माद्वृषाकपि प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

अर्थात् कश्यप प्रजापति ने जो निघण्टु रचा है उसमें मुझे वृषाकपि  
रूपमें बताया है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ धर्म ।

धी पददृष्ट्या बेलवेत्कर ने लिखा है :—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedic words called Nighantus, upon which yaska wrote his Commentary called the Nirukta, is styled the “Aika-padīpa”, because in it are listed together 278 single words of unknown or doubtful origin.

विपरीत “दावने अक्षुषारस्य” ऐसा अनुक्रम है जो स्पष्ट बतलाता है  
कि निघण्टु सामान्नाय पहले से पकी आती परम्परा प्राप्तकृति है ।

२. सामान्नाय शब्देनात्र गवादिदेवपत्न्यन्तः शब्दः समूह उच्यते न वेदः ।  
सामान्नातः सम्भूयामिमुख्येनाम्नातोऽभ्यस्तः ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित  
इत्यर्थः, अर्थात्—निघण्टु सामान्नाय प्राचीन आचार्यों ने पकड़ किया ।

3—Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of yaskas learning, his authorship of one, Nighantu must be denied and the only wonder is

that this was not sooner recognised. अभिप्राय यह है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में यह निर्विवाद है कि निरुक्त एवं निघण्टु यास्क रचित हैं तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया यह स्वीकार माना जा सकता है।

4—The Nighantu includes तल्लि Under अन्निक्रमाणि ( निघ० २।१६॥ ) and also under वेष कर्माणि ( निघ० २।१६॥ ) following the Nighantu yaska remarks तल्लि

अर्थात् निघण्टु के चतुर्थ या एकपदिक अध्याय में २७० पद हैं वे पद किसी अज्ञातनामा एक वा अनेक भाषायों ने इन्हें सन्दिग्ध समझ कर एकत्र किये हैं, अतः यह निघण्टु पूर्वाचार्य कृत है।

अब आचार्य भगवदत्त प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष के विरोध में मुनिय प्रस्तुत की जाती हैं मिलसे वास्तविक तथ्य ज्ञात हो सके—

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु की भूमिका में लिखा है—“यह ग्रंथ ( निघण्टु ) ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य १० ग्रन्थों में है विशेष कर वेद और सामान्य लौकिक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। यह मूल और इसका भाष्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनिने बनाये हैं।

२—महिषस्तोत्र श्लोक सहस्र की व्याख्या में श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं :—“एवं निघण्टुवाद्योऽपि वैदिक द्रव्यदेवतात्मक पद पर्याय शब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसम्बन्धात्

३ ग्रन्थो भगवता यास्नेनैव कृतः। अभिप्राय यह है।

४ निरुक्तान्तर्गत ही है यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है

५ यास्क रचित ही है।

३—वेदक माधव ने जो मधुसूदन के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ऋ०

॥१४॥ की व्याख्या में लिखते हैं—

तत्रैक विशतिर्नामानि काविद् गौ विभर्त्तीति पृथिवीमाद् सत्या हि  
यास्क पठितान्येक विशतिर्नामानि ।

अर्थात् पृथिवीवाची गो शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं दुर्गाचार्य ने जो यह आक्षेप किया है कि निघण्टु में दावने भृगुपारस्य इस क्रम से दो पद पड़े गये हैं । इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम हैं उसमें इनका क्रम "भृगुपारस्य दावने" ( ऋ० ५, ३६, २ ) है । एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता अतः निघण्टु का कर्ता कोई अन्य है, यह कोई ठीक नहीं । यास्क ने पदक्रम को देखकर "भृगुपारस्य" का निर्वचन किया है न कि और कोई निगमान्तर्गत क्रम से विपरीत ।

"दावने" पद ऋग्वेद में २५ से अधिक बार आया है यास्क उसका अर्थ मात्र देता है । किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद निघण्टु में उपलब्ध क्रमानुसार ही पड़े गये हों परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए उनमें से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा ।

आचार्य दुर्गा जिस पाठ से अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं वह निम्न-  
लिखित है :—

"वपदेशाय ग्वायन्तोऽधरे . विलसवृणायेमं घन्धं समाप्नासिपुर्वेदश्च  
वेदाङ्गानि च"

"इमं घन्धं ग्वादिदेवपत्न्यन्तं समाप्नातवन्तः"

इस ग्रन्थ का निर्माण गौ से लेकर देवाय्यः तक शब्द हैं समाप्त किया । .

इसके उत्तर में यह कहना है कि निरुक्त के बचनों से स्पष्ट प्रती होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया उन्होंने ही निरुक्त वेदाङ्गों का भी समाप्ताय किया । अतः उम आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था फिर यास्क का उमदा व्याख्यान करने से इस प्रयोजन, अतः समाप्तायः समाप्तायः स व्याख्यानः इम वचन का दुर्गोक्त अर्थ असङ्गत मालूम होता है वह समाप्ताय तो सप्त ऋषियों द्वारा व्याख्यात हो चुका । इस ग्रन्थ का अभिप्राय निघण्टु सामान्य से है अर्थात् निघण्टु शब्द जातिवाची है । शाकपुत्रि आदि आचार्यों का निघण्टु गो शब्द से आरंभ होता है यह हो सकता है कि उसका भी देव पत्न्यः पद में अन्त हो ।

अतः प्राचीन आचार्यों के निघण्टु प्रचलित थे और उनकी व्याख्या स्वयं उन उन महर्षियों ने बनाई आगे आनेवाले विद्वानों ने भी अपने स्वतन्त्र निघण्टु और उनकी व्याख्या करने की परम्परा प्रचलित रखी ।

अतः यास्क ही निघण्टु और उसका भाग का प्रकरण एक ही है । निघण्टु ३।११ में कुछ नाम और कुछ आख्यात एकत्र पड़े गये हैं ऐसा कई निरुक्त व्याख्याकार मानते हैं ।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि निरुक्त लोग अपना-अपना निघण्टु स्वयं बनाते थे फिर निरुक्तकार यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर अपना निरुक्त रचा ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठती ।

पृथाकपि के उल्लेख से काश्यप प्रजापति वृत्त निघण्टु की स्थिति है  
ना सिद्ध हो सकता है परन्तु यह नहीं कि वर्तमान निघण्टु उनका  
सा हुआ है।

प्रो० कर्मकर जो यह कहते हैं निघण्टु २१६ में तद्विन् के दो अर्थ  
ले गये हैं यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता  
लेखता है।

यदि वह निघण्टु का भी बनाने वाला होता तो तद्विन् का वषार्थ  
करता।

निघण्टु २१६ में ३३ वषकर्मा धातुर्भों में वियातः, आस्यण्डलः,  
तद्विन् ये तीन नाम पड़े गये हैं। कौत्सव्य के निरुक्त निघण्टु में भी  
हेसावाची ३१ पदों में आस्यण्डल और तद्विन् ये दो नाम पड़े गये हैं  
और वह तद्विन् को अन्तिक नामों में भी पढ़ता है।

इनके वही पढ़ने का अभिप्राय इनके घात्वर्थ की ओर निर्देश करने का  
है। यास्क निरुक्त ३१० में इस बात का विशेष ध्यान रखकर करता है—

“ताल्यनीति स्तः”

अर्थात् तादृश करने से ही तद्विन् नाम है। अतः तद्विन् का अन्तिक  
नाम गौण है। विद्युन् अर्थ में भी तादृश कर्म पाया जाता है।  
यास्क ने वषकर्मा धातुर्भों में तादृही आख्यान पढ़कर इस बात को और  
भी स्पष्ट कर दिया है कि जिस धातु से तद्विन् बनता है उसी से तादृही  
बनता है।

अतः धातुर्भों में नाम पढ़कर उसके पौंगिक रूप को विशेष दिखाना  
ही प्रयोजन है।



अब जो यह कहा गया कि व्याजिकर्मां गालु धानु वो गो  
 उनमें दो नाम हैं। निष्ठाकार ने मूणो इन्हीं भी धानु ही सखा  
 या और यास्कने उन मूण को दूर किया।

परन्तु यह भी ठीक नहीं इनमें अविश्राय यह है कि धानुओं  
 नाम पड़ कर उनके शैविक रूप को दिखाना ही शायदा संभव है।

इनके साथ साथ महर्षि यास्क ने प्रमाण तो भी दुर्ग, तोष  
 सख्यमत, राजाराम और कर्मकर के अशोक सिद्धार्थों के "अथो क  
 मिषानेः संयुज्य हविष्णोदयान इन्द्राय वृत्रहं । इन्द्राय वृत्रहो  
 इन्द्रायानो हो मुषे ।" इति । "ताम्बव्येके समामन्त्रि मूर्धांसि तु  
 समाश्रानात् । यत्तु संविजानभूतं स्यात्प्राधास्यन्मुनि तत्समामने ।  
 अथोत कर्मभि ऋषिभिर्देवताःस्तौति वृत्रहा । पुरन्दरः । इति ताम्बव्येके  
 समाश्रन्ति भूर्धांसि तु समाश्रानात्" । \* । १३ ।

अर्थात् कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्रादि देवता पदों का समाश्रान  
 करते हैं किन्तु फिर भी उनका समाश्रान करने से अनेक विशेषण  
 खच जाते हैं।

परन्तु इनमें प्रधान स्तुतिवाले ( अग्नि आदि ) देवता नाम हैं उनका  
 मैं समाश्रान करता हूँ ।

कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता नाम निष्ठा में एकत्र पड़ते हैं  
 यथा :—वृत्रहा इत्यादि । परन्तु वे भी सबका समाश्रान नहीं कर  
 वचन के व्याख्यात में दुर्ग लिखते हैं "अहं तु न समामने"  
 "जैसा समाश्राय नहीं बनाता । यास्कने जैसा नैरुक्त  
 वस्तुतः जैसा ही उसका यह निष्ठा है । यास्क के

लेख से बढ़ कर इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण हो सकता उसने स्पष्ट है कि यह समाजवाय इन्हीं का बनाया है।

प्रोफेसर बेल्लेकर कहते हैं कि निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में जो पद गये हैं वे अज्ञात वा सन्दिग्ध अर्थ और व्युत्पत्तिवाले हैं। सन्दिग्धवाले मान कर ही किसी वा किन्हीं प्राचीन आचार्य वा आचार्यों ने एकत्रिण किये थे।

“पृत्तावतामर्षांनामिदमभिधानम्” चतुर्थे काण्ड में अनेकार्थे वाच्य एक पद पड़ा गया है उन्हीं पदों के भाष्य के आरम्भ में आत्कावाच्येति है—“अथ यान्यनेकार्थान्यनेक शब्दानि तान्व्यतोऽनुकमित्प्यामोः। अतमंस्कारांश्च निगमां स्तदेकपदिकमित्पाचक्षते” अर्थात् अब उन्हे अनेक अर्थवाले एक एक शब्द हैं उनका यथाक्रम व्याख्यान करे और अनवगत संस्कारवाले निगम भी पढ़ेंगे। इसको ऐकपदिक कहेंगे। हुगं लिखते हैं—अनेन नामान्येष्व्याचार्या आचक्षते इस काण्ड ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

अतः यह स्पष्ट है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों में ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे और अपने अपने निरुक्तों में उसका यथाक्रम रखते थे। अब देखना यह है कि उन प्राचीन आचार्यों निघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पड़े जाते हैं वा भिन्न भिन्न पद होते थे।

श्री भगवान् दत्त के अनुसार प्रत्येक निरुक्तकार अनवगत संस्कारवाले निगमस्थ पदों को पढ़ता था इसका प्रमाण भी है।

यास्कने श्वाग्रम् २।१० को घन नामो में पढ़ा है फिर वह शब्द को निघण्टु ४।२ में पढ़ता है इसकी निरुक्त व्याख्या ५।६ में यहाँ यास्क श्वाग्रम् इति शिघ्रनाम यह किमी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है इससे मान्य होता है कि श्वाग्रम् का घननाम पठ कर यास्क के हृदय में यह बात अंकित थी कि इस पद का शिघ्र नाम मौ

अतः उसकी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये यह पद चतुर्थाध्याय द्वारा पढ़ा गया ।

यास्क पठित शब्द जो एक काण्ड में आये हैं प्राचीन नैरुक्तों ने इन सन्दिग्ध समझा था यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता । देखिए इस निघण्टु में ४।२ में शिविविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़े गये हैं इनमें विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७ में यज्ञ नामों में पढ़ा गया है परन्तु अन्यत्र नहीं पढ़ा गया । यास्क निरुक्त ५।७ में बताते हैं कि किमी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पढ़े थे सम्भवतः य आचार्य औपमन्यव था इससे स्पष्ट है कि शिविविष्ट का अर्थ यास्क से पहले भी ज्ञात था । परन्तु व्युत्पत्ति आदि दर्शाने के लिये यास्क ने ऐकपरिह में पाठ कर लिया । इस ऐकपरिह काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पढ़े गये हैं जिनका अर्थ यास्क के पूर्ववर्ती नैरुक्तों को पार था । अतः ऐकपरिह काण्ड में सब सन्दिग्धार्थ पद केवल अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिशाने के लिये दिये हैं, न कि और किमी अभिप्राय से ।

इससे निर्वचन से यह स्पष्ट प्रकट है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है ।

इस विषय पर सम्मान्य विद्वानों और प्रकाश डालेंगे तो हमें थिक प्रसन्नता होगी ।

निरुक्त के इस निघण्टु भाग में ५ अध्याय और ३ काण्ड हैं । पहले अध्याय नैघण्टुक चौथा नैगम और पाँचवाँ दैवतकाण्ड कहलाते हैं । समय तक उपलब्ध निघण्टु के संस्करणों में स्वर्गीय डा० छद्मणःप का सम्पादित संस्करण ही सर्वोत्तम है ।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है । दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों नेरुक्त प्रथमाध्याय को पष्ठाध्याय कहा है । वे निघण्टु के प्रथम पाँच शायों से आरम्भ कर आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं । सूत्र से यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था और कि निरुक्तकार इसे रचकर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था ।

महर्षि यास्क इसके रचयिता हैं—जैसे सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य उपोद्घात में लिखा है—

यज्ञाध्यायरूप काण्डत्रयात्मकं एतस्मिन्ग्रन्थे परनिरवक्षतया पदार्थे ।  
कृत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्रम् तद्व्याख्यानञ्च सम्मान्यायः समा-  
प्तः इत्यारम्भनस्थानस्या स्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादश-  
रध्यायै यास्को निर्ममे ।

महाभाष्य से पहले के बाङ्गमय के इतिहास का पता लगाने की नी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है । हाँ, कुछ योरोपीय विद्वानों ने शोषता अवश्य कुछ लिखा है जो प्रमाण कीटि में नहीं आता । महा भारत न्ति पर्व अध्याय २४२ श्लोक ७२-७३ में यास्क का उल्लेख आया है—

यास्को मामुपिस्वयो नैक यज्ञेषु गीतवान् ।

निपिषिष्ट इतिहासमाद् गुणनाम परोऽहम् ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिषिविप्येति यास्क ऋषिहदारधीः ।

महप्रसादाद्धो नष्टं निरुक्तं मभिजाग्मिवान् ॥ ७३ ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि यास्ककाल महाभारत के लगभग तीन जताश्री के अन्दर रहा होगा । इस पर गयेवगा की आवश्यकता है ।

प्रस्तुत निघण्टु के प्रख्यात टोकाकार धो देवराजयत्वा वैदिक निघण्टु का भाष्य रचनेवाले एक ही व्यक्ति हैं । इनके द्वारा निघण्टु टोक भूमिका में अपने पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य पितामह का नाम देवराजयत्वा और अभिमोक्ष संभव ऐसा लिखा गया है । यह रज्जेशूरी पर्यन्त ग्राम के रहने वालों डा० पं० कुर्यन्धन् राज का मत है कि देवराज सायण के परपत्नी हैं परन्तु देवराज के द्वारा कहीं भी सायण को उद्धृत नहीं किया गया है । डा० लक्ष्मण स्वरूप अपनी निघण्टु की भूमिका में देवराज को भोज, देव और भरत स्वामी को उद्धृत करते हुए लिखा है — भरत स्वामी का समय संवत् १३६० के आसपास है । देवराज को सायण उद्धृत करता है । सायण घोर बुद्ध का प्रधान अमर्य था जो संवत् १४०० के आसपास राज्य करता था इसकी देवराज संवत् १३०० के समान हुआ होगा ।

अन्त में इन ग्रन्थ के कुछ संशोधन कार्य में हमारे अभ्यन्तम सहयोगी श्री रामनाथ दाधीच दाधी श्री वृत्ती श्री श्री लालजी मिश्र को हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्हें सन १९४४ में यह कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ ।

वैदिक साहित्य के अभ्यन्तम अज्ञान संशुद्ध भाषा के प्रचारार्थ प्रकाशकीय उदारमना महामोक्ष करान्यवत् स्वनामधेय श्री लक्ष्मण स्वरूप को जिपण्टु कर देना संवत्

अमृतपूर्व आदर्श रक्खा है। शास्त्रप्रमय जीवन द्वारा सम्पूर्णा प्राणीमात्र विश्व में हित हो इसीलिये गुह मण्डल के नवम पुण्य के रूप में सृष्टि दर्म जैसे महान लोकोपकारी विशालकाय विश्व भर में उपलब्ध सृष्टि है कर संस्कृत जगत् को अमर देन दी है।

आप ही का वैदिक भाषा की महान् ज्ञानराशि का प्रचार येनकेन जरेण भूमण्डल पर हो जिससे सद्भावना, अहिंसा, प्रेम और सत्य की उष्ण होकर विश्व में शान्ति की विजयपताका फहराई जाने का स्वप्न। संक्षेप में अपने जीवन में अधिकाधिक समय को शास्त्र चिन्तन में गाकर मानव प्राणीमात्र के हित में लग ज्याय और पुरपार्थ द्वारा सस्ता राम दाम काम और न्याय उलभ होकर कर्तव्यारूढ़ हो आपको इसकी आदर चिन्ता लगी रहती है।

शास्त्रों में गोते लगाते लगाते धी मोर ने अपने जीवन में निष्कर्ष निकाल लिया है कि इनका निःस्वार्थ प्राणी हित के लिये अधिकाधिक बार ही उनकी दीर्घ काल की संकल्पित भावना ही आज वेदों के महान् ज्ञानराशि को स्फुट करने में सोपान स्वस्व निरुक्त के निघण्टु भाग का कामान आप लोगों के हाथ में जा रहा है इसके बाद क्रमशः तीन त्रिदों में प्रगतु क मैगम और देवतकायद यथा शीघ्र प्रकाशित कर प्रस्तुत किये जायेंगे।

आशा है संस्कृतप्रणयी उदार शास्त्र व्यसनी विद्वद्गर्ग एवं गृहस्थ वृन्द स पुण्य कार्य के प्रवारार्थ धी मोरजी की तरह मुकइस्त से भागे जायेंगे।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में धी परशुराम कृष्ण गोडे एम० ए० भायडार-  
र प्राच्य शोध संस्थान पुना के अधीक्षक ( क्यूरेटर ) महोदय से कृपा

कर अंग्रेजी भूमिका निरालर हमें उदात्त किया उन्हें दिन सन्तो  
आमार प्ररिगत किया जाय ।

उन्हे आधुनिक प्रकार गुण मे दूर साहित्य सेवा को अनुभूत वृत्त  
सपार है इतने गुणर कार्यभार को संभालने हुए भारने सर्वहारा साहित्य  
की विभिन्न गवेषणागुणां क्षेत्रों से जो देन दो है यह स्पष्टगोच है । या  
हमारे लिये कम गौरव का विषय नहीं है । परम रूप को र गुणर  
पं० हरिदत्तजी शास्त्री विद्यारत्न विद्यालकार धर्मपुरीग महोदय ने  
प्राकपन लिखकर हमें आशीर्वाद से अनुपूरीत किया है यह सब उनका  
निज का काम है । गुरमगःल के सेवान्तरक के रूप में विर काल तक  
पथप्रदर्शन कर आप हम लोगों का गौरववर्धन करते रहे यह परम निज  
से प्रार्थना है ।

इस कार्य को शीघ्र सम्पादन करने में हम लोगों के अनवधान एवं  
'भ्रम प्रमादादि दोषवशात्' जो त्रुटियां रह गई हैं उन्हें कृपालु पाठक वृन्द  
अन्त में दिये गये शुद्धिपत्र से संशोधन करने की उदारता दिखलायेंगे ।

ब्रह्मदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०

॥ श्री शिवः शरणम् ॥

## निवेदनम्

ब्राह्मणेन निष्कारणं पङ्क्तौ वेदोऽध्येयोऽज्ञेयश्च ।

अत्र सांगवेदाध्ययनं ब्राह्मणस्याध्ययनविविधपदार्थनमाश्रेणैव नालमपितु परमागम्भीरस्य वेदस्वार्थमवगन्तुं शिक्षादीनि पङ्क्तानि प्रवृत्तानि सांगवेदाध्ययमधीतव्यानीति ।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र विविच्य प्रतिपाद्यते सा शिक्षार्योत्तरीये शिक्षाध्याये वर्णस्वरोच्चारणप्रक्रिया विजृम्भिता ।

कल्पस्वराद्युच्चारणनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रयज्ञस्यम्पादनादिकं यत्र विविच्य प्रतिपादितम् ।

ध्वाकरणम् पाणिनीयशाकटापनादिप्रणीतम् यत्र प्रकृति प्रत्यय स्वर पद विभक्ति विज्ञान स्वन्दात्मकमुपलभ्यते ।

निरुक्तम् अर्थावधोषे निरूपेक्षतया पदजाते यथोक्तम् तन्निरुक्तम् ।

छन्दोबन्धा यत्र छन्दानां व्याख्या छन्दस्वनाप्रकारः छन्दोमिति-  
विज्ञानम् ।

उपोनिषम् पञ्चकाळार्थे सिद्धये काष्ठज्वलनम् येन भवति तत्रूपोतिषम् ।

तानीमानि त्रिदशानि षडंगानि वेदामध्ययनं स्वार्थं वेदवित्ति-

विगणितम् ।



तत्रेव विचारणा स्वभावनः प्रपरीति निघण्टुकं निघण्टोरन्वय  
 कोभागः यदंगत्वेन परिगणितः ।

यपरि' निघण्टुनिरुक्ते यास्काचार्येण कृतिः मन्त्रानि निघण्टु  
 समाप्तानि निरुक्ता इति पूर्वमाधीदिति तत्राप्यपि तन्त्रं मातृदि  
 प्रदर्शन विशेष निर्धारणया ज्ञायते निघण्टुनाम विकीर्णानाम् यदन्वये  
 कीकरणम् यथा कृता धर्माणो ऋषयो बभूवुः ।

पुराकाशमण्डले विकीर्णानां शब्दानामशराराशीनां स्वान्वय-  
 विकारोऽन्येन प्रत्यभिज्ञया साक्षात्कृत्य एकत्र पत्न्यनकारेण निघण्टुकारिणो  
 वर्णं शब्दराशीपथनं कृतवन्तः ।

पुराकाले विकीर्णा एव मन्त्रा ततो यन्पीभूतानामेव तेषामभ्यव-  
 ह्ययन्तः शाखासमुद्भूता ततः सर्वदाम्बागनामनिघण्टुपदानां  
 सप्तशोधार्थम् ।

निघण्टुनामको ग्रन्थो भगवता यास्केन समाप्नातः तत्तन्मात्रेणैव  
 यन्त्रार्थावबोधनापरिसमाप्तसंलक्षमन्त्रगतानां पदानाम् तात्पर्यवेदन-  
 ग्राहणग्रन्था समाप्नाताः । ग्राहणग्रन्थेष्वपि मन्त्रार्थपरिज्ञानं नात्र मितिमत्वा  
 निरुक्तादीनि वेदाङ्गानि समाप्नातानि तत्र निरुक्तम् भोग्यमुच्यते ।

निरुहाहते वेदान्तं श्रुतिप्रथमसमन्वयमानः

निरुक्तम् भोक्तृत्वेन शब्दस्य मुख्यार्थम् अकार ।

मन्त्रकाले कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः तं भवरेभ्यः अशाशाकृतं  
 धर्मैभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । तत्राद्यं निरुक्तमूलमूत्रम्  
 भगवान् यास्कः प्रथमम् रचितवान् निघण्टोर्भाष्यरूपम्  
 समाप्नातः गवादिदेव पत्न्यन्तम् निरुक्तमाचरितम् यास्केनेति ।



तदिदं नैघण्टुकं कृत धर्माणां महर्षिणां स्त्रे विकीरितानां अस्य महं  
निःश्वसितं अव्यक्तमादात्मकं व्यक्तं वर्णस्वरूपेण भाकांशे तरङ्गितं  
तदेव महर्षिणां समाप्नातं स्वरवर्णसमूहं निगमनान्नैघण्टुकपदवाच्यं  
प्रागासीत् । तमिमतिगूढार्थं कौत्स्यादिभिः निर्वचनप्रकारेण निरुक्तम् ।

नामाख्यातोपसर्गं निपात लक्षणम्, भावविकार लक्षणम्, सर्वाद्या  
ख्यातज्ञानि नामानि तथा धानेकार्यानवगतसंस्काराणि परोक्ष  
कृत्वातिपरोक्षकृताध्यात्मिकलक्षणादीनिशब्दमात्राणि अनेकार्यानवगतसंस्का-  
रानुष्मादि विचार देवतानामाकारचिन्तनादि भक्ति साहचर्य संस्कार  
कर्मसूक्तमांक् हविर्भाक् देवतानां निरूपणम् मंत्रार्थं निर्वचनेनदेवताभिधान  
निर्वचन मित्यादि विषयाः निरुक्तमाश्रेण निर्णेतव्या भवन्ति ।

तत्र प्रत्यभेगानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते ।

एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्देदस्य वेदता ॥

भारमसाक्षात्कारः परम पुरगार्थो वेदेनैवलभ्यते ।

“वेदाइमेतं पुरां महान्तं”

“इनाशाख्यमिदं सर्वं”

इत्यादि प्रत्यगात्मसाक्षात्कारज्ञानम् वेदेनैवलभ्यम् दर्शनादप  
स्वरज्ञाना वेदेनैव प्रस्युष्टिताः सन्ति । परम पुरगार्थ एव मनुष्य-  
जायकः साक्षात्कारम् ।

“इह वेदेनेदीदृशमन्वयमस्ति”

“इति श्रुत्वा श्रुत्वावाचने ज्ञानवान् मां प्रपन्नं”

“अन्वयं ज्ञानं मन्वन्ते श्रुत्वा”

ब्रह्मगतिरेव निःश्रेयसः साधनिका सा च वेदार्थज्ञानेनदनुष्ठानेन  
चान्तःकरणशुद्धिद्वारा प्रकाशयते ।

“यज्ञैर्धर्मैः महायज्ञैः साहस्यैः कृषतेतनुः”

वेद बोधित नैष्कर्म्यार्थं नित्ययज्ञादिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा निःश्रेयस  
ब्रह्मात्मन्यैकता भवति ।

अतः गुरुसमूहस्य तत्त्वावधाने निरुक्तशास्त्रस्य परमोपयोगिता  
मभिसमीक्ष्य तत्प्रकाशनम् कृतम् ।

कार्येऽस्मिन् बहुप्रत्यवाय सम्भावना कल्पितासीत् परं धीविज्ञ-  
विनाशनकृपया सर्वं सुस्थं संजातम् । पुनरपि सीसकाक्षरानुयोजक  
प्रमादवशात् संशोषकानवधानाद्वा वा अशुद्ध्यः भवेयुः दृष्टिपि  
भागच्छेदुरच ता शोषनीयाः भीमनिः तत्रभवनिः दोषभारावज्ञाशीलैः  
गुणलेशपट्टणपक्षपातिभिः सुधीभिः कल्पयेति सविनयं विनिषेदनम् ।

गुरु पूर्णिमा वैक्रमाब्दः  
२००६

}

विदुषाम्बिषेपस्य  
राजगुरु हरिदत्त शास्त्रिणः  
देहरीगढ़वाल, वास्ताव्यस्य

निरुक्ते (निघण्टु) भागास्थाध्यायानां गण्डानाञ्च सूती ।

—०७०—

विषय	पृष्ठाङ्क
१ टीका भूमिका	१
२ निघण्टु सामान्याय	४
३ अथ प्रथमाध्यायः ( निघण्टुकं काण्डम् )	२७
१ एकविंशतिः पृथिव्यानामधेयानि	"
२ पञ्चदश हिरण्यनामानि	३७
३ षोडशान्तपिप्पिनामानि	४३
४ षट् साधारणानि	५०
५ पञ्चदश रश्मिनामानि	५१
६ अष्टौदिङ्नामानि	५८
७ त्रयोविंशती रात्रिनामानि	६१
८ षोडशोपोनामानि	६७
९ द्वादशाहर्नामानि	७२
१० त्रिंशन्मेघनामानि	७६
११ सप्तपञ्चाशदुषाह्नामानि	८२

विषय		शुद्धाङ्क
१२ एकशतमुद्रकनामानि	...	११३
१३ सप्तत्रिंशन्नदीनामानि	...	१४७
१४ षड्विंशतिरक्ष्यनामानि	...	१५६
१५ दशादिष्टोपयोजनानि	...	१६८
१६ एकादशज्वलतिकर्माणः	...	१७२
१७ एकादशज्वलतीनामधेयानि	...	१७४
४ अध द्वितीयाध्यायः ( नैघण्टुसंकाण्डम् )...		१७६
१ षड्विंशतिः कर्मनामानि	...	१७६
२ पञ्चदशापत्यनामानि	...	१८७
३ पञ्चविंशतिर्मानुष्यनामानि	...	१६२
४ द्वादश बाहुनामानि	...	२०४
५ द्वाविंशति रङ्गलिनामानि	...	२०७
६ अष्टादश कान्तिकर्माणः	...	२१५
७ अष्टाविंशतिरक्षनामानि	...	२१८
८ दशात्ति कर्माणः	...	२२८
९ अष्टाविंशतिर्वलनामानि	...	२३०
१० अष्टाविंशतिरेव धननामानि	...	२३६
११ नय गोनामानि	...	२४४
१२ दशकुध्यति कर्माणः	...	२४६
१३ एकादश क्रोधनामानि	...	२४८

विषय	पृष्ठाङ्क
१४ द्वाविंश शतं गतिकर्माणः	२५०
१५ पञ्चविंशतिः क्षिप्रनामानि	२६८
१६ एकादशान्तिकनामानि	२७४
१७ पञ्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि	२७७
१८ दशाव्याप्ति कर्माणः	२८७
१९ त्रयास्त्रिंशद्व्य कर्माणः	२८९
२० अष्टादशप्रज्ञनामानि	२९५
२१ चत्वार्यंशेष्य कर्माणः	२९९
२२ चत्वार्यंशेष्यनामानि	३००
। अथ तृतीयाध्यायः ( नैघण्टुककाण्डम् )	३०२
१ द्वादशपशुनामानि	३०२
२ एकादशहृम्यनामानि	३०४
३ पञ्चविंशतिर्महोग्रामानि	३०६
४ द्वाविंशतिर्गृहनामानि	३१३
५ दशपरिचरणकर्माणः	३१८
६ विंशतिः शुभनामानि	३२०
७ षोडशकृप नामानि	३२४
८ दशप्रराप्दम्	३२८
९ एकादश प्रज्ञानामानि	३३०
१० अष्टादशनामानि	३३१

## विषय

		पृष्ठाङ्क
	अष्टौ पश्यति कर्माणः	... ३३२
१७७	नवसर्वपद् समाधाय	... ३३३
१७८	द्वादश उपमाः	... ३३४
१७९	चत्वारिंशदूर्चतिकर्माणः	... ३३५
१८०	चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि	... ३४१
१८१	योद्श स्तोत्रनामानि	... ३४७
१८२	ऽञ्चदश यज्ञनामानि	... ३४६
१८३	अष्टावृत्तिवद्नामानि	... ३५२
१८४	सप्तदश याच्न्नाकर्माणः	... ३५४
१८५	दशदान कर्माणः	... ३५७
१८६	चत्वारोऽध्येषणा कर्माणः	... ३५८
१८७	द्वौ स्वपिति कर्माणः	... ३५६
१८८	चतुर्दश कृपनामानि	... ३५६
१८९	चतुर्दशैव स्तेननामानि	... ३६२
१९०	पद् निर्णोतान्तर्हित नामधेयानि	... ३६६
१९१	पञ्चदूरनामानि	... ३६८
१९२	पद् पुराणनामानि	... ३६६
१९३	पडेघ नवनामानि	... ३७०
१९४	पद् विंशतिर्द्विंशनामानि	... ३७१
१९५	चतुर्विंशतिर्घांचा पृथिवीनामधेयानि	... ३७२
१९६	नैघण्टुक टीका परिशिष्टम्	... ३७७



## विषय

शुद्ध

५ अथ चतुर्थाध्यायः ( नैगमं काण्डम् )	...	३८८
१ द्विपष्टिः पदानि	...	३८८
२ चतुष्पत्तिः पदानि	...	४१२
३ द्वात्रिंशच्छतं पदानि	...	४२२
६ अथ पञ्चमाध्यायः ( दैवतं काण्डम् )	...	४५३
१ श्रीणि पदानि	...	४५३
२ त्रयोदश पदानि	...	४५५
३ षट् त्रिंशत्पदानि	...	४५६
४ द्वा त्रिंशत्पदानि	...	४६७
५ षट् त्रिंशत्पदानि	...	४७४
६ एके त्रिंशत्पदानि	...	४८१

॥ समाप्तौषा विषयसूची ॥

• श्रीगणेशाय नमः •

# निरुक्तम्

( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

महत्प्रव्यन्तकान्तारसञ्चारिकरिणं मुत्ते ।  
मदाल्दैत्यमातङ्गमङ्गे केसरिणं भजे ॥ १ ॥  
नमस्त्रिधात्रे शिपिविष्टनाम्ने  
निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।  
अद्याप यास्केः द्विविद्येयु यागे-  
ष्यनेन चाप्रायमभिष्टुधानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।  
यस्य भुवनत्रयीमिव गायः प्रकटी त्रयीं वितन्वन्ति ॥ ३ ॥  
यागीश्वरं यमोभिर्यन्निष्टमुष्णान्मुनीस्त्वपोभिध ।  
अनुष्टुप्पन्नं यदे पितामहं देपराजयस्थानम् ॥ ४ ॥  
आचार्यं शाब्दिकानामृन्नि यन्नुपि न यद्दृष्टनुत्यप्रमायम्,  
यन्दे मीरुपतृत्तिवममुपतिग्ददरीणामुपप्रम् ।

विषय		पृष्ठ
५	अथ चतुर्थाध्यायः ( नैगमं काण्डम् ) ...	३८८
१	द्विपष्टिः पदानि ...	३८८
२	चतुष्पत्तिः पदानि ...	४०६
३	द्वात्रिंशच्छतं पदानि ...	४२३
६	अथ पञ्चमाध्यायः ( दैवतं काण्डम् ) ...	४५३
१	त्रीणि पदानि ...	४५३
२	त्रयोदश पदानि ...	४५५
३	पद् त्रिंशत्पदानि ...	४५६
४	द्वा त्रिंशत्पदानि ...	४५६
५	पद् त्रिंशत्पदानि ...	४६७
६	एके त्रिंशत्पदानि ...	४७४
	...	४८१

॥ समाप्तौषा विषयसूची ॥

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

# निरुक्तम्

( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

मद्व्ययन्तकान्तारसञ्चारिकणिं मुत्वे ।

मदाल्दैत्यमातङ्गमङ्गे वेसरिणं भजे ॥ १ ॥

नमस्त्रिपादो शिपिविष्टनाम्ने

निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।

अवाप यात्के विविधेषु पात्रे-

ष्यनेन पात्रायममिष्टुपातः ॥ २ ॥

प्रजामामि यात्कभास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।

यस्य भुवनत्रयीमिव नायः प्रकटी त्रयीं पितृपन्ति ॥ ३ ॥

पार्गीश्वरं पत्नीभिर्यसिष्टमुत्पान्मुनीन्पत्नीभिः ।

अनुहृतपत्नीं पदे पितृमहं देयराजपञ्चानम् ॥ ४ ॥

भान्तार्यं शाब्दिकानामृनि यत्तुनि न यद्दृष्टुन्यप्रभासम्,

धन्दे नैरजःश्रुतिप्रममुपनिष्ठाःरीणामुपत्रम् ।

	विषय	पृष्ठा
५	अथ चतुर्थाध्यायः ( नैगमं काण्डम् ) ...	३८८
	१ द्विषष्टिः पदानि ...	३८८
	२ चतुष्शीतिः पदानि ...	४१२
	३ द्वात्रिंशच्छतं पदानि ...	४२३
६	अथ पञ्चमाध्यायः ( दैवतं काण्डम् ) ...	४५३
	१ त्रीणि पदानि ...	४५३
	२ त्रयोदश पदानि ...	४५५
	३ पट् त्रिंशत्पदानि ...	४५६
	४ द्वा त्रिंशत्पदानि ...	४५६
	५ पट् त्रिंशत्पदानि ...	४६७
	६ एके त्रिंशत्पदानि ...	४७४
	...	४८६

॥ समाप्तौषा विषयसूची ॥

० धीमणेशाय नमः ०

# निरुक्तम्

( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

महत्प्रयत्नफलान्तरश्रुतिरिणं मुने ।

मदाल्द्रैत्यमानङ्गमङ्गे केरिणं भजे ॥ १ ॥

ममत्रिधात्रे शिषिषिष्टनात्रे

निरुक्तपिपानिगमप्रतिष्ठाम् ।

अथाथ यात्रेया विविजेयु यागे-

ष्यनेन शास्त्रायमभिष्टुपानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यात्रेयाभास्त्रेयां यो ह्यममयः प्रकाशितयद्रार्थः ।

यस्य भुवतत्रयामिष गापः प्रकटी कयी विनयन्ति ॥ ३ ॥

यागीश्वरं ययोमिषंतिष्ठमुष्णमुनीन्तराभिध ।

अनुहतवर्णं धरे विनामर्तं देवराजपयानम् ॥ ४ ॥

आचार्यं ज्ञादिवातागृति यद्गृति यः यद्गृष्टुन्वयभावनम्,

यदे नैवकृतिव्रतमुदतिच्छारीणामुपमम् ।

ज्ञानकारं कर्तृत्वानवनिमुक्तकल्पद्विबानुक्रियार्थं,  
तानं यज्ञोप्यगन्धं प्रतिदत्तमसं ज्ञानमात्मन्मयूते ॥ ५ ॥

यन्धारइंमनुर्गी—पद्यंलप्रानयाल्लयः ।  
विचरन्ति देवगजो नैघण्टुककाण्डनिर्वचनम् ॥ ६ ॥

नगयना याम्नेन समान्नायं नैघण्टुकनैगमनदेवताका  
र्येन विविधं गद्यादिदेवपन्न्यन्तं निरुचता नैगमदेव  
काण्डपरित्यागि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितविमर्  
च. नैघण्टुककाण्डपरिपटितानान्तु गद्यापर्यन्तानामैकक  
मिच्छाश्रयाधिकमहम्' सामान्येन 'एतावन्त्यस्य सत्वस्य तम  
धेयानि' - इति ध्याम्याय नत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, तत्र  
कानिचिदेव दर्शितनिगमानि, अन्यानि तु ग्रन्थविलक्षणं  
सामान्येन निर्वचनरक्षणस्योक्त्यान् बुद्धिमद्विनिर्गतं  
मुगडयानि इत्यभिप्रायेण च उपेक्षितानि । स्कन्दस्वामी च तत्र एव  
निरुक्तमनुत्तमम् ।

च कानिचिन्पूनानि, अपरेषु च कानिचिदपहाय कानिचित्  
विप्रस्तानि अक्षराणि च विपर्यस्तानि । एवं व्याकीर्णेषु  
कोशेषु नियमिकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचननिगमप्रदर्शनपरस्य  
कस्यचिद् व्याख्यानस्य अभावात् नैघण्टुककाण्डमुत्सन्नप्राय-  
मासीत् ।

ततश्च पाठसंशोधनार्थं बालानां सुगमत्वाय च तद्गतानां  
पदानां क्रमेण प्रतिपदनिर्वचननिगमौ प्रदर्शयितुं,—स्वरादीनीति  
पूर्वभूतस्य प्रकरणत्रयस्य, नैगम-द्देवताकाण्डगतानाञ्च पदानां  
भाष्यकारेण निरुक्तानां स्कन्दस्वामिना च तद्बुद्ध्याख्यातानां  
प्रक्रिययोर्नीलयितव्यम्, बहुशस्तु नैघण्टुककाण्डनिर्वचनानन्तरं  
तदुन्मीलयितुञ्चाप्यमस्मत्परिश्रमः ।

इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते किन्तु नैघण्टुवागनेष्वेव पदे-  
ष्वध्यर्द्धशतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु  
प्रसङ्गाशिरुक्तानि, स्कन्दस्वामिना च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि  
च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि । तेन च समाधायपठितानां  
पदानामन्येभ्यो व्यावृत्तयर्थं किञ्चिच्चिन्हं कृतम्, अतस्तेषां पाठ-  
शुद्धिस्तथैव शुद्धा । अन्येषाञ्च पदानामस्मत्पुण्ड्रे समाधाय-  
ध्ययनस्याविच्छेदान्, -श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्य-  
कृतौ नामानुक्रमण्याः भाष्यातानुक्रमण्याः - स्वरातानुक्रमण्याः—  
निपातानुक्रमण्याः -निर्वन्धनानुक्रमण्याः -तदीयस्य भाष्यस्य च  
बहुशः पर्यालोचनान्,—बहुदेशसमानीतान् बहुकोशनिरीक्षणाय  
पाठः संशोधितः । निर्वचनञ्च -निरुक्तं, (१) स्कन्दस्वामिकृतां



निगमटीका, (२) स्वप्न्यामि (क)-भयम्यामि (ग)-गद्वेष (ग)  
 -धीनिपारा (ग)-माधवेष (ङ)-उपटमट्ट (च)-माय्का भिध्र (छ)  
 भरताम्याभ्यादि (३)—पिग्निगतानि वेदभाष्याणि; (३) पाणिनीयं  
 व्याकरणं, (४) विशेषत उणादि (क) तदुक्ति, (ग) क्षीरस्वाम्य-  
 नन्ताचार्यादिरुतां निघण्टुव्याख्या, (५) भोजगर्जायं व्याकरणं,  
 (६) कमलनयनाय-निखिलपदसंस्कारांश्च (७) निरीक्ष्य क्रियते ।  
 तत्र च अस्मद्-याच्येयानां तत्र दृष्टानां पदानां तत्तन्वृत्तञ्च  
 निर्वचनमुपादाय तदेवाम्मन्प्रकरणानुरूपञ्चेदुद्दिश्यते, अननु-  
 रूपन्तुकिञ्चिद् विपरिणामय्य, अन्येषाञ्च कतिपयानां निरन्कारो-  
 क्कनिर्वचनसामान्यलक्षणमनुसृत्य, निरुक्तिः क्रियते ।

निगमश्च दक्षिणापथनिघासिभिरर्थातेषु वेदेषु पण्डित्यमान-  
 स्तत्तद्भाष्याणि निरीक्ष्य तत्र तत्र प्रदर्श्यते, अदृष्टनिगमानाञ्च  
 पदानां निगमा अन्येष्याः ।

अतोऽस्माभिर्यथामति प्रदर्शितो प्रतिपदनिर्वचननिगमो  
 विद्वांसो बुद्ध्या निरूप्य शुकभाषितवन्मनसि कुर्वन्तु ॥

# ॥ अथ निघण्टुसमाम्नायः ॥

—\*—

## प्रथमोऽध्यायः ।

१ गीः २ ग्मा । ३ उमा । ४ क्ष्मा । ५ क्षा । ६ क्षमा । ७ क्षोणी ।  
८ क्षितिः । ९ अयनिः १० उर्वी । ११ पृथ्वी । १२ मही । १३ रिपः ।  
१४ अर्दितः । १५ इत्या । १६ निर्कर्तिः । १७ भूः । १८ भूमिः ।  
१९ पूषा । २० मातुः । २१ गोत्रैत्यैकविंशतिः पृथिर्चनामधे-  
यानि ॥ १ ॥

१ हेम । २ चन्द्रम् । ३ स्वम् । ४ अयः ५ हिरण्यम् । ६ पेशः ।  
७ षडशानम् । ८ लोहम् । ९ कनकम् । १० काञ्चनम् । ११ भर्म ।  
१२ अमृतम् । १३ मरुत् । १४ दशम् । १५ जातरूपमिति षड्विंश-  
तिरिण्यनामानि ॥ २ ॥

१ अध्वरम् । २ वियत् । ३ ज्योम । ४ बर्हिः । ५ धन्व ।  
६ अन्तरिक्षम् । ७ आकाशम् । ८ आपः ९ पृथिवी । १० भूः ।  
११ स्वयम्भूः । १२ अध्या । १३ पुष्करम् । १४ सगरः । १५ समुद्रः ।  
१६ अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

१ स्वः । २ पृथिः । ३ नाकः । ४ गीः । ५ विष्ट् । ६ नमः  
इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

१ नेत्रम् । २ विष्णोः । ३ गणः । ४ समाप्तः । ५ भाजितः ।  
 ६ दीपितः । ७ गभस्तः । ८ पत्न्यः । ९ उग्रः । १० पत्न्यः  
 ११ मरीचिकाः । १२ मनुष्याः । १३ गणसम्पत्तः । १४ भाज्याः ।  
 १५ सुवर्णं इति पञ्चदश निम्ननामानि ॥ ५ ॥

१ भाजाः । २ भासाः । ३ उग्रः । ४ भासुः । ५ काष्ठः ।  
 ६ ध्योम । ७ ककुब्जः । ८ दग्धित इत्येते द्विदशनामानि ॥ ६ ॥

१ श्यायी । २ क्षया । ३ शर्या । ४ भङ्गुः । ५ उज्या ।  
 ६ शम्पा । ७ यम्पा । ८ नम्पा । ९ शोभा । १० नका । ११ नमः ।  
 १२ रजः । १३ अस्तिनी । १४ पयस्यनी । १५ नमस्यनी ।  
 १६ गुताची । १७ शिरिणा । १८ मोंकी । १९ शोंकी । २० उज्यः ।  
 २१ पयः । २२ हिमा । २३ पस्यनी त्रयोविंशतीनाम्नामानि ॥ ७ ॥

१ विभावरी । २ सुनरी । ३ भास्यनी । ४ ओडनी । ५ चित्रा  
 मघा । ६ अर्जुनी । ७ घाजिनी । ८ घाजिनीधनी । ९ सुध्रावरी ।  
 १० अहना । ११ द्योतना । १२ श्येत्या । १३ अर्या । १४ सुनूना  
 १५ सुनूतावती । १६ सुनूतावतीनि षोडशोपेनामानि ॥ ८ ॥

१ वस्तोः । २ द्युः । ३ भानुः । ४ वासगम् । ५ सप्तगणि ।  
 ६ घर्षः । ७ घर्मः । ८ घुणः । ९ दितम् । १० द्विषा । ११ दिवेदिघे ।  
 १२ घविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

१ अद्रिः । २ प्राया । ३ मोत्रः । ४ घलः । ५ अद्रः । ६ पुरु-  
 भोजाः । ७ बलिशानः । ८ अश्मा । ९ पर्यतः । १० गिरिः ।  
 ११ यजः । १२ चक्रः । १३ घराहः । १४ शम्बरः । १५ रौहिणः ।  
 १६ फलिगः । १७ उपरः । १८ उपलः । १९ उपलः । २० चमसः ।

२१ अहिः । २२ अन्नम् । २३ बलाहकः । २४ मेघः । २५ इतिः ।  
२६ । ओदनः । २७ घृणन्धिः । २८ वृत्रः । २९ असुरः । ३० कोश-  
इति त्रिशन्मेषनामानि ॥१०॥

१ श्लोकः । २ घारा । ३ इला । ४ गीः । ५ गीरी । ६ गान्धर्वी ।  
७ गभीरा । ८ गम्भीरा । ९ मन्द्रा । १० मन्द्राजनी । ११ घाशी ।  
१२ घाणी । १३ घाणीची । १४ घाणः । १५ पविः । १६ भारती ।  
१७ घमनिः । १८ नालीः । १९ मैलिः । २० मैना । २१ सूर्या ।  
२२ सरस्वती । २३ निवित् । २४ खाहा । २५ घानुः । २६ उपव्दिः ।  
२७ मायुः । २८ काकुत् । २९ जिहा । ३० घोषः । ३१ स्वरः ।  
३२ शब्दः । ३३ स्वनः । ३४ ऋक् । ३५ होत्रा । ३६ गीः ।  
३७ गाथा । ३८ गणः । ३९ घेना । ४० प्राः । ४१ विषा । ४२ नना ।  
४३ कशा । ४४ धिपणा । ४५ नौः । ४६ अक्षरम् । ४७ मही ।  
४८ अदितिः । ४९ शची । ५० चाक् । ५१ अनुष्टुप् । ५२ घेनुः ।  
५३ घल्युः । ५४ गाहा । ५५ सरः । ५६ सुपर्णी । ५७ वेकुरेति  
सप्तपञ्चाशद्वाङ्नामानि ॥ ॥

१ अर्णः । २ शौद्रः । ३ क्षुद्रुमः । ४ नमः । ५ अम्भः ।  
६) ६ कधन्धम् । ७ सलिलम् । ८ वाः । ९ वनम् । १० घृतम् । ११ मधु ।  
१२ पुरीषम् । १३ पिप्पलम् । १४ क्षीरम् । १५ विषम् । १६ रेतः ।  
१७ कयाः । १८ जन्म । १९ वृषूकम् । २० वुसम् । २१ तुष्पा ।  
२२ घर्बुर्म् । २३ सुशेम । २४ घरणम् । २५ सिरा । २६ अररि-  
न्दानि । २७ ध्यस्मन्वत् । २८ जातिम् । २९ आयधानि । ३० शपः ।

३६ उदकम् । ३७ पयः । ३८ सरः । ३९ मेघजम् । ४० सद् ।  
 ४१ शवः । ४२ यहः । ४३ ओजः । ४४ सुखम् । ४५ क्षत्रम् ।  
 ४६ आवयाः । ४७ शुभम् । ४८ यादुः । ४९ भूतम् । ५० भुवनम् ।  
 ५१ भविष्यत् । ५२ आपः । ५३ महत् । ५४ व्योम । ५५ यशः  
 ५६ महः । ५७ सर्णोकम् । ५८ स्वृतीकम् । ५९ सतीनम् ।  
 ६० गहनम् । ६१ गभीरम् । ६२ गम्भरम् । ६३ ईम् । ६४ अन्नम् ।  
 ६५ हविः । ६६ सद्गुम् । ६७ सद्गुम् । ६८ ऋतम् । ६९ योनिः ।  
 ७० ऋतस्य योनिः । ७१ सत्यम् । ७२ नीरम् । ७३ रविः ।  
 ७४ सत् । ७५ पूर्णम् । ७६ सर्वम् । ७७ अक्षितम् । ७८ वर्हिः ।  
 ७९ नाम । ८० सर्पिः । ८१ अपः । ८२ पवित्रम् । ८३ अमृतम् ।  
 ८४ इन्दुः । ८५ हेम । ८६ स्वः । ८७ सर्गाः । ८८ शम्बरम् ।  
 ८९ अन्यम् । ९० वपुः । ९१ अयुः । ९२ तोयम् । ९३ तूयम् ।  
 ९४ कृपीटम् । ९५ शुक्रम् । ९६ तेजः । ९७ स्वधा ।  
 ९८ वारि । ९९ जलम् । १०० जलापम् । १०१ इदमित्यै-  
 कशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

१ अघनयः । यत्र्याः । ३ वाः । ४ सीराः । ५ स्रोत्याः  
 ६ पन्यः । ७ धुनयः । ८ रुजानाः । ९ वक्षणाः । १० म्वादो अर्णाः  
 ११ रोधचक्राः । १२ हरितः । १३ सरितः । १४ अग्रुवः । १५ नमन्यः  
 १६ वध्यः । १७ हिरण्यघर्णाः । १८ रोहितः । १९ सधुतः  
 २० अर्णाः । २१ सिन्धवः । २२ कुन्याः । २३ चर्यः । २४ उर्व्यः  
 २५ इराघत्यः । २६ पार्यत्यः । २७ म्रपन्यः । २८ उर्जस्यत्यः  
 २९ पयस्यत्यः । ३० तारस्यत्यः । ३१ मारस्यत्यः । ३२ हरस्यत्यः ।

३३ रोधस्वत्यः । ३४ भास्वत्यः । ३५ अजिराः । ३६ मातः ।  
३७ नद्य इति सप्तत्रिंशत्तदीनामानि ॥ १३ ॥

१ अत्यः । २ हयः । ३ अर्घा । ४ घात्री । ५ सस्तिः ६ घह्निः ।  
७ दधिकाः ८ दधिकावा । ९ पतम्बः । १० पतशः । ११ वैदः ।  
१२ दीर्गहः । १३ और्ध्वध्रुवसः । १४ तार्क्ष्यः । १५ आशुः ।  
१६ ब्रध्नः । १७ अरुपः । १८ मीधत्वः । १९ अव्यययः ।  
२० श्येनासः । २१ सुपर्णाः । २२ पतङ्गाः । २३ नरः । २४ ह्यार्याणाम् ।  
२५ हंसासः २६ अथा इति षड्विंशतिः खनामानि ॥ १४ ॥

१ हरी इन्द्रस्य । २ रोहितोन्नः । ३ हरित आदित्यस्य ।  
४ रासभाचञ्चितोः । ५ अजाः पूष्णः । ६ पूषत्यो मरुताम् ।  
७ अरुण्यो गात्र उपसाम् । ८ श्यावाः सवितुः । ९ विभ्वरूपा बृहस्पतेः ।  
१० निष्पुतो वायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

१ भ्राजते । २ भ्राशते । ३ भ्राश्यति । ४ दीदपति । ५ शोचति ।  
६ भन्दते । ७ भन्दते । ८ रोचते । ९ ज्योतते । १० द्योतते ।  
११ सुमदित्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

१ जमन् । २ कल्मलीकिनम् । ३ जङ्गणाभवन् । ४ मल्मला-  
भवन् । ५ अर्विः । ६ शोचिः । ७ तपः । ८ तेजः । ९ हरः । १०  
हृणिः । ११ शृङ्गाणि शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

गौर्दमाम्बरं स्वः खेदय आत्राः श्यावी विभापरी वास्वोरदिः श्लोकोर्गोव-  
नयोत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

## द्वितीयोऽध्यायः ।

१ अपः । २ अम्रः । ३ वंसः । ४ वेपः । ५ वेपः । ६ विष्पी ।  
 ७ व्रतम् । ८ कर्चरम् । ९ करुणम् । १० शरम् । ११ मनुः ।  
 १२ करणानि । १३ कर्वासि । १४ करिकत् । १५ करन्ती ।  
 १६ चक्रत् । १७ कर्त्यम् । १८ कर्तोः । १९ कर्तव्ये । २० कृत्वी ।  
 २१ धीः । २२ शची । २३ शमी । २४ शिमी । २५ शक्तिः ।  
 २६ शिल्पमिति पञ्चविंशतिः कर्मनामानि ॥३॥

१ तुक् । २ तोकम् । ३ तनयः । ४ तोवम । ५ तवम ई शेषः ।  
 ७ अम्रः । ८ गयः । ९ जाः । १० अपत्यम् । ११ यद्दुः । १२ मनुः ।  
 नपात् । १४ प्रजा । १५ धीजमिति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

१ मनुष्याः । २ नरः । ३ घचाः । ४ जन्तवः । ५ विशः ।  
 ६ क्षितयः । ७ कृष्टयः । ८ धर्मणयः । ९ नहुयः । १० हग्यः ।  
 ११ मर्याः । १२ मर्त्याः । १३ मर्ताः । १४ वाना । १५ नुर्वशाः ।  
 १६ द्रुह्यः । १७ भाषयः । १८ यदयः । १९ अतवः । २० पूरयः ।  
 २१ जगतः । २२ तस्युयः । २३ पञ्जनाः । २४ विद्यम्यन्तः ।  
 २५ वृत्तना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

१ आयती । २ अय्याना । ३ अर्माशु । ४ अम्रयाना । ५ पिन-  
 शृषी । ६ गामर्ती । ७ कर्गर्ती । ८ वाह । ९ भुगिर्ती ।  
 १० क्षिगर्ती । ११ कर्ती । १२ मग्निरे इति द्वादश वाहनामानि ॥४॥

१ अम्रयः । २ अम्रयः । ३ क्षिगः । ४ विश । ५ शर्याः ।  
 ६ धर्मणयः । ७ अम्रयः । ८ विश । ९ कर्त्याः ।

११ मघनयः । १२ हन्तिः । १३ न्यसातः । १४ जामयः । १५ सना-  
मयः । १६ योषत्रानि । १७ योत्रनानि । १८ धुरः । १९ शाग्य ।  
२० अर्माशयः । २१ र्क्षीधितयः । २२ गमग्नय इति द्वाविंशतिर्यु-  
क्तिनामानि ॥ १५ ॥

१ यन्मि । २ उज्मसि । ३ येति । ४ येनति । ५ येसति ।  
६ पाञ्छति । ७ घष्टि । ८ पनोनि । ९ लुपने । १० ह्यन्ति ।  
११ भाञ्चके । १२ उशिक । १३ मन्यने । १४ छन्त्सम् । १५ चाक-  
नन् । १६ ष्वक्मानः । १७ कजति । १८ पानिषदिन्यष्टादश  
कान्तिकर्माणः ॥६॥

१ अन्धः । २ घाजः । ३ पयः । ४ धयः । ५ गृक्ष । ६ पितुः ।  
७ सुतः । ८ सिनम् । ९ मयः । १० शु । ११ घासिः । १२ इया ।  
१३ इया । १४ इयम् । १५ ऊर्कः । १६ रसः । १७ म्यघा ।  
१८ मर्कः । १९ क्षयः । २० नेमः । २१ ससम् । २२ नमः । २३ आयुः ।  
२४ सन्तता । २५ इह्य । २६ घर्चः । २७ र्क्षीदालम् । २८ यश  
इत्यष्टाविंशतिरन्तनामानि ॥७॥

१ आ घयति । २ मर्वति । ३ यमस्ति । ४ येति । ५ येयेष्टि ।  
६ अविष्यन् । ७ यस्तति । ८ असयः । ९ यधाम् । १० हर्तीति  
दशान्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

१ भोजः । २ पाजः । ३ शयः । ४ तयः । ५ तरः । ६ त्यक्षः ।  
७ शर्चः । ८ पाघः । ९ नृम्णम् । १० तविपी । ११ शुष्मम् ।  
१२ शुष्णम् । १३ दक्षः । १४ र्क्षीलु । १५ र्क्षीजम् । १६ शूणम् ।  
१७ सहः । १८ यहः । १९ घघः । २० र्घाः । २१ वृजनम् । २२ वृक् ।



२३ मज्जना । २४ पौंस्यानि । २५ घर्णासिः । २६ द्रुति  
२७ स्यन्द्रासः । २८ शम्बरमित्यष्टाविंशतिर्यलनामानि ॥ ६

१ मघम् । २ रेकणः । ३ रिक्कम् । ४ वेदः । ५ व  
६ भ्वात्रम् । ७ रत्तम् । ८ रयिः । ९ क्षत्रम् । १० भगः । ११ मति  
१२ गयः । १३ यत्तम् । १४ इन्द्रियम् । १५ वसु । १६ व  
१७ राधः । १८ भोजनम् । १९ तना । २० नृम्णम् । २१ व  
२२ मेघा । २३ यशः । २४ ब्रह्म । २५ द्रविणम् । २६ व  
२७ वृत्रम् । २८ वृत्तमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

१ अघ्न्या । २ उस्त्रा । ३ उस्त्रिया । ४ अर्हा । ५ मही । ६ अर्ति  
७ इला । ८ जगती । ९ शकरीति नय गो (मानृ) नामानि ॥

१ रेल्लते । २ हल्लते । ३ भामते । ४ हूर्णयते । ५ भ्राण  
६ भ्रैपति । ७ दौधति । ८ वनुष्पति । ९ कम्पते । १० भोजत  
द्दश फुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

१ हेलः । २ हरः । ३ हृणिः । ४ त्वजः । ५ भामः । ६  
७ हरः । ८ तपुमी । ९ जूर्णिः । १० मन्युः । ११ व्यधिरित्ये  
क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

१ घर्तते । २ अयते । ३ लोटते । ४ लोटते । ५ स्व  
६ फसति । ७ मरति । ८ म्यमति । ९ म्यति । १० मंसते । ११ अ  
१२ धोनति । १३ ध्वंसति । १४ वेनति । १५ मारि । १६ भुरण  
१७ शयति । १८ कालयति । १९ फेळयति । २० कण  
२१ विम्यति । २२ विम्यति । २३ मिम्यति । २४ प्रयते । २५ ह  
२६ च्यपते । २७ कयते । २८ गयते । २९ नयते । ३० शौ

३१ नश्नति । ३२ सश्नति । ३३ म्यश्नति । ३४ सञ्चति । ३५ अरञ्चति ।  
 ३६ तुरीयति । ३७ चतति । ३८ अतति । ३९ गाति । ४० इयश्नति ।  
 ४१ सञ्चति । ४२ त्वरति । ४३ रंहति । ४४ यतते । ४५ भ्रमति ।  
 ४६ धञ्जति । ४७ रञ्जति । ४८ लञ्जति । ४९ क्षियति । ५० धमति ।  
 ५१ मित्नाति । ५२ अदण्वति । ५३ अदणोति । ५४ स्वरति ।  
 ५५ तिसर्ति । ५६ वेपिष्टि । ५७ योपिष्टि । ५८ रिणाति । ५९ रीयते ।  
 ६० रेजति । ६१ दधति । ६२ दग््नोति । ६३ युध्यति ।  
 ६४ धन्यति । ६५ अरुपति । ६६ आर्यति । ६७ डीयते । ६८ तकति ।  
 ६९ दीयति । ७० ईयति । ७१ फणति । ७२ हनति । ७३ अर्दति ।  
 ७४ मर्दति । ७५ ससृते । ७६ नसते । ७७ हर्यति । ७८ इयति ।  
 ७९ ईर्ते । ८० ईङ्गते । ८१ जयति । ८२ आश्रति । ८३ गन्ति ।  
 ८४ आ गनीगन्ति । ८५ जङ्गन्ति । ८६ जिन्वति । ८७ जसति ।  
 ८८ गमति । ८९ धाति । ९० ध्राति । ९१ ध्रयति । ९२ वहते ।  
 ९३ रथर्यति । ९४ जेहते । ९५ प्यःकति । ९६ शुम्पति ।  
 ९७ प्साति । ९८ घाति । ९९ याति । १०० इपनि ।  
 १०१ द्राति । १०२ द्रलति । १०३ एजति । १०४ जमति ।  
 १०५ जयति । १०६ षञ्चति । १०७ अनिति । १०८ पचते ।  
 १०९ हन्ति । ११० सोधति । १११ अगन् । ११२ अजगन् ।  
 ११३ जिगाति । ११४ पतति । ११५ इन्वति । ११६ द्रमति ।  
 ११७ द्रवति । ११८ वेति । ११९ ह्यन्तात् । १२० पति ।  
 १२१ जगायात् । १२२ अयथुरिति द्वाविंशत्तं गतिक-  
 मांजः ॥ १४ ॥ ।

१ गु। २ म। ३ द्रव्य। ४ भोग्य। ५ अंग। ६ कृत्वि।  
 ७ कृत्वा। ८ कृत्वागतः। ९ शीमम्। १० मृत्। ११ मृत्।  
 १२ कृत्वि। १३ भक्तिम्। १४ मुष्णुः। १५ गु। १६ मागु।  
 १७ मागुः। १८ मुष्णुः। १९ मृत्जानः २० मृत्मानासः। २१ मृत्।  
 २२ सार्नीयिन्। २३ युगन्। २४ ताजन्। २५ सणिः।  
 २६ घातर्हा इति षड्पिशातिः शिष्यनामानि ॥ १५ ॥

१ तल्लि। २ भासात्। ३ अम्यत्। ४ नुर्वशे। ५ अन्नमार्के।  
 ६ आके। ७ उपाके। ८ अर्वाके। ९ अन्नमानाम्। १० अचमे।  
 ११ उपम इत्येकादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

१ रणः २ विद्याद्। ३ विद्यादः। ४ नदनुः ५ मरे।  
 ६ आक्रन्दे ७ आहये। ८ आर्जो। ९ पृतनाज्यम्। १० अर्मीके।  
 ११ सर्मीके। १२ ममसत्यम्। १३ नेमधिता। १४ सङ्गाः।  
 १५ समितिः। १६ समनम्। १७ माल्लहे। १८ पृतनाः १९ मृधः।  
 २० मृधः। २१ पृत्तु। २२ समत्सु। २३ समये। २४ समरणे।  
 २५ समोहे। २६ समिथे। २७ संन्ये। २८ संगे। २९ संयुगे।  
 ३० सङ्गथे। ३१ सङ्गमे। ३२ वृत्रन्त्ये। ३३ पृञ्जे। ३४ आणी।  
 ३५ शूरसाती। ३६ घाजसाती। ३७ समर्नाके। ३८ खले। ३९ खजे।  
 ४० पौस्ये। ४१ महाघने। ४२ वाजे। ४३ अजम्। ४४ सङ्गम्।  
 ४५ संयत्। ४६ संवत् इति षड्चत्वारिंशत्सङ्ग्रामनामानि ॥ १७ ॥

१ इन्वति। २ नक्षति। ३ आक्षाणः। ४ आनद्। ५ आष्ट।  
 ६ आपानः। ७ अशन्। ८ नशन्। ९ आनशे। १० अधृत  
 इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

१ दम्नोति । २ भ्रयति । ३ ध्वरति । ४ धूर्चति । ५ घृणाकि ।  
 ६ वृश्चति । ७ कृण्वति । ८ कृन्तति । ९ भ्वसिति । १० नमते ।  
 ११ अर्दयति । १२ स्तृणाति । १३ स्नेहयति । १४ यातयति ।  
 १५ स्फुरति । १६ स्फुलति । १७ निवपन्तु । १८ अवतिरति ।  
 १९ विधातः । २० आ तिरत् । २१ तलित् । २२ आस्रण्डल ।  
 २३ द्रूणाति । २४ रम्णाति । २५ शृणाति । २६ शझाति ।  
 ७ तृणेलिह । २८ ताहि । २९ नितोशते । ३० नियर्हयति ।  
 १ मिनाति । ३२ मिनोति । ३३ धमतीति प्रयस्त्रिंशद्वधक-  
 र्माणः ॥ १६ ॥

१ दियत् । २ नेमिः । ३ हेतिः । ४ नमः । ५ पविः । ६ सूकः ।  
 ७ वृकः । ८ वधः । ९ वज्रः । १० अर्कः । ११ कुत्सः । १२ कुलित्राः ।  
 १३ तुञ्जः । १४ तिग्मः । १५ मेनिः । १६ स्वधितिः । १७ सायकः ।  
 १८ परशुरित्यष्टादश घञनामानि ॥ २० ॥

१ इरज्यति । २ पत्यते । ३ क्षयति । ४ राजतीति चत्वार  
 अर्थकर्माणः ॥ २१ ॥

१ राष्ट्री । २ अर्यः । ३ नियुत्वान् । ४ इन इन इति चत्वारीश्व-  
 मानि ॥ २२ ॥

नुङ्नुप्या आयती अमु घो घश्म्यन्ध आययत्योजो मघमध्न्या  
 त्ते हेलो घर्नते नु तल्लिद्रण इन्वति दम्नोति विदुयुदिरज्यति  
 राष्ट्रीति द्वाविंशतिः ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

## तृतीयोऽध्यायः ।

१ उरु । २ तुषि । ३ पुरु । ४ भूरि । ५ शश्वत् । ६ विश्वम् ।  
 ७ परीणसा । ८ घ्यानशिः । ९ शतम् । १० सहस्रम् ।

११ सलिलम् । १२ कुविदिति द्वादश बहुनामानि ॥ १

१ ऋहन् । २ ह्रस्वः । ३ निघृष्वः । ४ मायुकः । ५ प्रतिष्ठा ।  
 ६ रुधु । ७ वप्रकः । ८ दध्रम् । ९ अर्मकः । १० श्रुद्धकः ।

११ अल्प इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

१ महत् । २ घ्रध्नः । ३ ऋष्यः । ४ वृहन् । ५ उक्षितः ।  
 ६ तवसः । ७ तविपः । ८ महिपः । ९ अभ्यः । १० ऋभुक्षाः ।

११ उक्षा । १२ विहायाः । १३ यहः । १४ पचक्षिथ । १५ विवक्षसे ।

१६ अम्भृण । १७ माहिनः । १८ गमीरः । १९ ककुद्दः ।

२० र्मसः । २१ प्राधन् । २२ विरप्पी । २३ अहुतम् । २४ बंहिष्ठः ।

२५ बर्हिषदिति पञ्चषिंशतिर्महनामानि ॥ ३ ॥

१ गयः । २ शृदरः । ३ गर्तः । ४ हर्म्यम् । ५ अस्तम् ।  
 ६ पास्त्यम् । ७ दुरीणे । ८ नीन्यम् । ९ दुर्याः । १० स्वसराणि ।

११ ममा । १२ दमे । १३ शृन्तिः । १४ योनिः । १५ सदुम ।

१६ शरणम् । १७ परुष्यम् । १८ छर्दिः । १९ छदिः । २० छाया ।

२१ शर्म । २२ अर्मेति षाषिंशतिर्बहुनामानि ॥ ४ ॥

१ इरप्यति । २ विधेम । ३ सपर्यति । ४ नमस्पति ।  
 ५ दुपप्यति । ६ अरुनोति । ७ अरुणति । ८ अरुच्छति । ९ सपति ।

१० शिपासर्तानि दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

१ शिम्बाता । २ शतरा । ३ शातपन्तो । ४ शिल्गुः ।  
५ स्यूमकम् । ६ शैवृधम् । ७ मयः । ८ सुग्म्यम् । ९ सुदितम् ।  
१० शूम् । ११ शुनम् । १२ शम् । १३ भैपजम् ।  
१४ जलायम् । १५ स्योनम् । १६ सुन्नम् । १७ शैवम् ।  
१८ शिवम् । १९ शम् । २० कमिति त्रिंशतिः सुख-  
नामानि ॥ ६ ॥

१ निर्जिक् । २ वधिः । ३ वपेः । ४ वपुः । ५ अमतिः ।  
६ अप्तः । ७ वतुः । ८ अत्रः । ९ पिष्टम् । १० पेशः । ११ कृशानम् ।  
१२ मस्त् । १३ अर्जुनम् । १४ ताम्रम् । १५ अरुणम् । १६ शिल्प-  
मिति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

१ अस्त्रेमा । २ अनेमा । ३ अनेद्यः । ४ अनवद्यः । ५ अनमि-  
शस्यः । ६ उवध्यः । ७ सुनीयः । ८ पाकः । ९ घामः ।  
१० धयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

१ केतुः । २ केतः । ३ चेतः । ४ चित्तम् । ५ क्रतुः । ६ असुः ।  
७ घीः । ८ शर्वा । ९ माया । १० धयुनम् । ११ अमिष्येत्ये-  
कादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

१ घद् । २ धन् । ३ सत्रा । ४ अदा । ५ इत्या । ६ भृतमिति  
षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

१ चिक्यम् । २ चाकनम् । ३ अचरम् । ४ चष्टे । ५ चिचष्टे ।  
६ चिचर्षणिः । ७ विश्वचर्षणिः । ८ यष चाकशदित्यष्टौ पश्यति-  
कर्माणः ॥ ११ ॥

१ द्विकम् । २ तुकम् । ३ तुकम् । ४ व्यादिकम् । ५ मार्काम् ।

६ नकिः । ७ माकिः । ८ नकीम् । ९ आरुत्तमिति नवोत्तरणि  
पदानि सर्वपद समाप्तानाय ॥ १२ ॥

१ इदमिव । २ इदं यथा । ३ अग्निर्न ये । ४ चतुरधिद्दमानात् ।  
५ ब्राह्मणा मतचारिणः । ६ वृक्षस्य नु ते पुरुहुत घयाः ।  
७ जार आ भगम् । ८ मेवो भूतोश्मि यन्नयः । ९ तद्रूपः ।  
१० तद्वर्णः ११ तद्वत् । १२ तथेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति । २ गायति । ३ रेमति । ४ स्तौभति । ५ गूर्धयति ।  
६ गृणाति । ७ जरते । ८ ह्यते । ९ नदति । १० पृच्छति ।  
११ चिहति । १२ घमति । १३ रुपायति । १४ कृपण्यति ।  
१५ पनस्यति । १६ पनायते । १७ घल्गुयति । १८ मन्दते ।  
१९ मन्दते । २० छन्दति । २१ छन्दयते । २२ शशमानः । २३ रज्यति ।  
२४ रजयति । २५ शंसति । २६ स्तौति । २७ यीति । २८ रीति ।  
२९ नीति । ३० भनति । ३१ पणायति । ३२ पजने । ३३ सपति ।  
३४ पपृक्षाः । ३५ महयति । ३६ वाजयति । ३७ पूजयति ।  
३८ मन्वते । ३९ मदति । ४० रस्मि । ४१ स्वरति । ४२ येनति ।  
४३ मन्द्रयते । ४४ जल्पतीति ननुअन्वाग्निशर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

१ विप्रः । २ विप्रः । ३ गृन्वः । ४ धीरः । ५ येनः । ६ वेधाः ।  
७ कण्यः । ८ शमुः । ९ नयेदाः । १० कचिः । ११ मनीषी ।  
१२ मन्धला । १३ विवाता । १४ विपः । १५ मनश्चिन् ।  
१६ विश्चिन् । १७ विगन्धयः । १८ आकेनिगः । १९ उशिजः ।  
२० कीस्तागः । २१ अद्दालयः । २२ मतयः । २३ मनुष्याः ।  
२४ पापत इति चतुर्विंशतिर्मेघादिनामानि ॥ १५ ॥

१ रैमः । २ जगिता । ३ फारुः । ४ नदः । ५ स्तामुः ।  
कीरिः । ७ गौः । ८ सूरिः । ९ नादः । १० छन्दः । ११ स्तुप् ।  
१२ कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोत्रनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः । २ घेनः । ३ अध्वरः । ४ मेधः । ५ विदधः ।  
६ सवनम् । ७ होत्रा । ८ इष्टिः । ९ देवताता ।  
१० विष्णुः । ११ इन्दुः । १२ प्रजापतिः । १३ घर्म इति  
चतस्रिंशत् स्तोत्रनामानि ॥ १७ ॥

मरताः । २ कुरयः । ३ घाघतः । ४ वृकवर्हिषः । ५ यतसुचः ।  
६ सवाधः । ७ देवयव इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे । २ यामि । ३ मन्महे । ४ इद्धि । ५ शग्धि ।  
६ मिमिद्धि । ७ मिमीहि । ८ रिरिद्धि ।  
९ रिसिहि । १० पीपरत् । ११ यन्तारः । १२ यन्धि ।  
१३ इपुध्यति । १४ मदेमहि । १५ मनामहे । १६ मायत  
सप्तदश याज्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति । २ दाशति । ३ दासति । ४ राति । ५ रासति ।  
६ पृणक्षि । ७ पृणाति । ८ शिक्षति । ९ तुञ्जति । १० मंहत इति  
अष्टौ दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिस्रव । २ पवस्य । ३ अभ्यर्ष । ४ आशिष इति चत्वारो  
तोष्येपणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति । २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणी ॥ २२ ॥

१ कृपः । २ कातुः । ३ कर्त । ४ घमः । ५ काटः । ६ खातः ।  
७ अघतः । ८ क्रिधिः । ९ सूदः । १० उत्सः । ११ ऋश्यदात् ।



६ नकिः । ७ माकिः । ८ नकीम् । ९ आहृतमिति नयोत्तराणि  
पदानि सर्वपद समानानाय ॥ १२ ॥

१ इदमिष । २ इदं यथा । ३ अग्निर्न वे । ४ चतुरधिहृदमातात् ।  
५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ६ वृक्षस्य तु ते पुच्छत घयाः ।  
७ जार आ भगम् । ८ मेयो भूतोऽभि यधयः । ९ तद्रूपः ।  
१० तद्वर्णः ११ तद्वत् । १२ तथेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति । २ गायति । ३ रेमति । ४ स्तोमति । ५ गूर्धयति ।  
६ गृणानि । ७ जप्ते । ८ ह्यते । ९ नदति । १० पृच्छति ।  
११ कृपायति । १४ कृपण्यति ।

१ रैमः । २ जरिता । ३ कारुः । ४ नदः । ५ स्तासुः ।  
६ कीरिः । ७ गौः । ८ सूरिः । ९ नादः । १० छन्दः । ११ स्तुप् ।  
१२ छद्रः । १३ कृष्ण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः । २ वेनः । ३ अध्वरः । ४ मेधः । ५ चिदधः ।  
६ नार्यः । ७ सवनम् । ८ होत्रा । ९ इष्टिः । १० देवताता ।  
११ मखः । १२ विष्णुः । १३ इन्दुः । १४ प्रजापतिः । १५ धर्म इति  
पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

१ मरुताः । २ कुरवः । ३ घाघतः । ४ वृक्तवर्हिणः । ५ यतसुचः ।  
६ मास्तः । ७ स्व्राधः । ८ देवयव इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे । २ यामि । ३ मन्महे । ४ दद्धि । ५ शग्धि ।  
६ पूर्धि । ७ मिमिद्धि । ८ मिमीहि । ९ रिरिद्धि ।  
१० रिरीहि । ११ पीपरत् । १२ यन्तारः । १३ यन्धि ।  
१४ इयुध्यति । १५ मदैमहि । १६ मनामहे । १७ मायत  
इति सप्तदश पाञ्चककर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति । २ दाशति । ३ दासति । ४ राति । ५ रासति ।  
६ पूणक्षि । ७ पूणाति । ८ शिश्रति । ९ तुञ्जति । १० मंहत इति  
दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिस्त्रय । २ पवस्य । ३ अभ्यर्ष । ४ आशिष इति चत्वारो  
रथ्येपणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति । २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

१ कृपः । २ कानुः । ३ कर्न । ४ घवः । ५ काटः । ६ खातः ।  
७ अवतः । ८ त्रिपिः । ९ सूदः । १० उत्सः । ११ अक्ष्यदात् ।

१२ कर्मोपगम् । १३ कुमाः । १४ केयद इति मनुर्गंश कृत्वा-  
मानि ॥ २३ ॥

१ शूनुः । २ सदाः । ३ विद्या । ४ गिः । ५ रिक्ता । ६ गिहायाः ।  
७ सायुः । ८ सायकरः । ९ पनर्गुः । १० दुग्दिगम् । ११ मुर्गीयान् ।  
१२ मन्विष्नुमः । १३ मपगंमः । १४ वृक इति मनुर्गंशैव स्वेन-  
नामानि ॥ २४ ॥

१ निष्कम् । २ सम्यः । ३ सनुतः । ४ दिग्म् । ५ प्रतीच्यम् ।  
६ भर्षीच्यमिति पणिर्णोत्तान्निर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

१ आके । २ पराके । ३ पराचैः । ४ आने । ५ परायन इति  
पञ्च दूतनामानि ॥ २६ ॥

१ प्रलम् । २ प्रदिवः । ३ प्रययाः । ४ सनेमि । ५ पृथ्यम् ।  
६ अद्वायेति षट् पुगणनामानि ॥ २७ ॥

१ नवम् । २ नूळम् । ३ नूतनम् । ४ नथ्यम् । ५ इदा । ६ इदा-  
नीमिति षडेव नयनामानि ॥ २८ ॥

१ प्रपित्वे । २ अर्भके । ३ दधम् । ४ अर्भकम् । ५ तिट ।  
६ सतः । ७ त्यः । ८ नेमः । ९ ब्रह्माः । १० म्नुर्भिः । ११ यत्रीभिः ।  
१२ उपजिह्विका । १३ ऊर्दग्म् । १४ वृदग्म् । १५ रम्मः ।  
१६ पिनाकम् । १७ मेना । १८ शाः । १९ शोपः । २० वैतशः ।  
२१ अया । २२ एता । २३ सिपक् । २४ सचने । २५ म्यसते ।  
२६ रेजत इति षड्विंशतिर्द्विंश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

१ स्वधे । २ पुग्न्धी । ३ धिपजे । ४ रोदसी । ५ क्षोणी ।  
६ अम्मसी । ७ नमसी । ८ रजसी । ९ सदसी । १० सधनी ।

१ घृतवती । २ बहुले । ३ गर्भीरे । ४ गम्भीरे । ५ औष्णी ।  
६ चम्प्यौ । ७ पाश्वी । ८ मही । ९ उर्वी । १० पृथ्वी ।  
११ अदिती । १२ अही । १३ दूर्यन्ते । १४ अपारे अपारे इति  
चतुर्दिशतिर्धावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥ ३० ॥

बृहद्ब्रह्मद्वय इत्यति शिवाता निर्णिगसो मा नेतुर्वट् चिक्चद्विकमिदमि  
वार्चति विप्रो रेभो यज्ञो भरता ईमहे दाति परिभ्रव स्वपिति कूप-  
स्त्रुर्निषयमाके प्रत्नं नवं प्रचित्ने स्वपे त्रिडात् ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

## चतुर्थोऽध्यायः ।

— ०० —

१ जहा । २ निधा । ३ शिताम । ४ मेहना । ५ दमूलाः । ६ मूयः ।  
७ इपिरेण । ८ कुत्नन । ९ जडरे । १० तितड । ११ शिष्ये ।  
१२ मध्या । १३ मन्दू । १४ ईर्मान्तासः । १५ कायमानः ।  
१६ लोधम् । १७ शीरम् । १८ विद्रुचे । १९ द्रुपदे । २० तुषति ।  
२१ नंसन्ते । २२ नसन्त । २३ आहनसः । २४ अघसत् ।  
२५ इष्मिणः । २६ घाहः । २७ परितकम्पा । २८ सुचिने । २९ दयते ।  
३० नू चिन् । ३१ नू च । ३२ दायने । ३३ अकूपारस्य । ३४ शिशति ।  
३५ मुनुकः । ३६ सुप्रायणाः । ३७ अप्रायुवः । ३८ व्यघनः ।

३६ रजः । ४० हरः । ४१ जुहुरे । ४२ ध्वन्तः । ४३ क्राणाः ।  
 ४४ घाशी । ४५ विपुणः । ४६ जामिः । ४७ पिता । ४८ शंयोः ।  
 ४९ अदितिः । ५० एरिरे । ५१ जसृष्टिः । ५२ जरते । ५३ मन्दिने ।  
 ५४ गौः । ५५ गातुः । ५६ दंसयः । ५७ तूताव । ५८ चयसे ।  
 ५९ वियुते । ६० ऋधक् । ६१ अस्यः । ६२ अस्येति द्विपष्टिः  
 पदानि ॥ १ ॥

१ सस्त्रिन् । २ वाहिष्ठः । ३ दूतः । ४ घावशानः । ५ घार्यम् ।  
 ६ अन्धः । ७ असश्चन्ती । ८ वनुष्यति । ९ तरुष्यति । १० मन्दनाः ।  
 ११ आहनः । १२ नदः । १३ सोमो अक्षाः । १४ श्वात्रम् । १५ ऊतिः ।  
 १६ हासमाने । १७ पद्भिः । १८ ससम् । १९ द्विता । २० द्याः ।  
 २१ वराहः । २२ स्वसराणि । २३ शर्याः । २४ अर्कः । २५ पविः ।  
 २६ षक्षः । २७ घन्व । २८ सिनम् । २९ इत्था । ३० सचा ।  
 ३१ चित् । ३२ आ । ३३ घुस्रम् । ३४ पचित्रम् । ३५ तोदः ।  
 ३६ स्वञ्जाः । ३७ शिपिविष्टः । ३८ विष्णुः । ३९ आघृणिः ।  
 ४० पृथुस्रयाः । ४१ अधर्षुम् । ४२ काणुका । ४३ अध्रिगुः ।  
 ४४ आङ्गूयः । ४५ भापालमन्वुः । ४६ शमशा । ४७ उर्वशी ।  
 ४८ घयुनम् । ४९ पात्रपस्त्यम् । ५० घाजगन्ध्वम् । ५१ गध्यम् ।  
 ५२ गधिता । ५३ कौर्याणः । ५४ सौर्याणः । ५५ अह्र्याणः ।  
 ५६ हर्याणः । ५७ आग्निः । ५८ मन्वी । ५९ निष्यपी ।  
 ६० तुर्णाशम् । ६१ शुष्पम् । ६२ निवृष्णुणः । ६३ पदिम् ।  
 ६४ पाहुः । ६५ शुकः । ६६ जोष्याकम् । ६७ रुनिः । ६८ श्वरी ।  
 ६९ समस्य । ७० कुटस्य । ७१ यर्षणिः । ७२ शम्भ्यः । ७३ केपयः ।

१ तनुमाहारे । ७५ अंसत्रम् । ७६ फाकुदम् । ७७ धीरिट्टे ।  
८ अच्छ । ७९ परि । ८० ईम् । ८१ सीम् । ८२ एनम् । ८३ एनाम् ।  
४ सृणिरिति चतुस्तरप्रशीतिः पदानि ॥ २ ॥

१ आशुशुक्षणिः । २ आशाभ्यः । ३ काशिः । ४ कुणास्म् ।  
५ अलालृणः । ६ सललूकम् । ७ फत्पपम् । ८ विष्नुहः ।  
९ धीरुधः । १० नभदाध्रम् । ११ अस्त्रयोयुः । १२ निश्टम्भाः ।  
१३ वृचद्वक्थम् । १४ अद्वदरः । १५ अद्वूपे । १६ पुलुकामः ।  
१७ असिन्धती । १८ कपना । १९ भास्त्रजीकः । २० रुजानाः ।  
२१ जूर्णिः । २२ ओमना । २३ उपलप्रक्षिर्णा । २४ उपसि ।  
२५ प्रकलवित् । २६ अभ्यर्धयञ्वा । २७ ईशे । २८ क्षोणस्म ।  
२९ अस्मे । ३० पाथः । ३१ सवीमनि । ३२ सप्रथाः । ३३ विद-  
भानि । ३४ ध्रापन्तः । ३५ आषीः । ३६ अजीगः । ३७ अमूरः ।  
३८ शशमानः । ३९ देवो देवाच्या कृपा । ४० विजामानुः ।  
४१ ओमासः । ४२ सोमानम् । ४३ अनवायम् । ४४ किमीदिने ।  
४५ अमवान् । ४६ अमीवा । ४७ दुरितम् । ४८ अज्वा ।  
४९ अमतितः । ५० ध्रुष्टी । ५१ पुरन्धिः । ५२ रुशन् । ५३ रिशा-  
दसः । ५४ सुदन्नः । ५५ सुविदन्नः । ५६ आनुपक् । ५७ तुर्वणिः ।  
५८ निर्वणसे । ५९ असूते सूते । ६० अम्यक् । ६१ घाट्टश्मिन् ।  
६२ जारयायि । ६३ अग्रिया । ६४ चनः । ६५ पचता ।  
६६ शुरुधः । ६७ अमिनः । ६८ जजभतीः । ६९ अपतिष्कुतः ।  
७० शाशदानः । ७१ सप्रः । ७२ सुशिप्रः । ७३ रंसु । ७४ द्वियर्हाः ।  
७५ अक्कः । ७६ उराणः । ७७ स्तियानाम् । ७८ स्तिपाः ।

७६ जवाद्य । ८० जरुथम् । ८१ कुलिशाः । ८२ तुजः । ८३ बर्हणाः ।  
 ८४ ततनुष्टिम् । ८५ इलीबिशाः । ८६ कियेधाः । ८७ भूमिः ।  
 ८८ विष्पितः । ८९ नुरीपम् । ९० रास्पिनः । ९१ श्रुञ्जतिः ।  
 ९२ श्रुञ्जनीती । ९३ प्रतद्वसू । ९४ हिनोत । ९५ चोष्क्यमाणः ।  
 ९६ चोष्क्यते । ९७ सुमत् । ९८ दिविष्टिषु । ९९ दूतः ।  
 १०० जिन्यति । १०१ अमत्रः । १०२ अश्चीयमः । १०३ अनर्शरातिम् ।  
 १०४ अनर्वा । १०५ अस्तामि । १०६ गल्दया । १०७ जलहवः ।  
 १०८ वकुरः । १०९ वेकनाटान् । ११० अभि धेतन । १११ अंहुरः ।  
 ११२ वतः । ११३ घाताप्यम् । ११४ चाकन् । ११५ रथर्यति ।  
 ११६ असक्राम् । ११७ आधयः । ११८ अनयग्रवः । ११९ सदान्धे ।  
 १२० शिरिम्बिडः । १२१ पराशरः । १२२ क्रिचिर्दती । १२३ कर-  
 लती । १२४ दनः । १२५ शराकः । १२६ इदंयुः । १२७ फीकटेपु ।  
 १२८ सुन्दः । १२९ सुन्दम् । १३० किः । १३१ उल्यम् ।  
 १३२ अर्वासमृवांसमिति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥ ३ ॥

अदा सध्रिमाशुगुभ्रजिञ्जोनि ।

॥ इति ऋषोऽध्यायः ॥

## पञ्चमाऽध्यायः ।

१ अग्निः । २ जातवेदाः । ३ वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥१॥

१ द्रविणोदाः । २ इध्मः । ३ तनूनपात् । ४ नराशंसः ।

५ इलः । ६ बर्हिः । ७ द्वारः । ८ उपासानन्ता । ९ दैव्या होतारा ।

१० तिम्रो देवीः । ११ त्वष्टा । १२ धनस्पतिः । १३ स्वाहाकृतय

इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

१ अश्वः । २ शकुनिः । ३ मण्डूकाः । ४ अक्षाः ।

५ प्राधाणः । ६ नाराशंसः । ७ रथः । ८ दुन्दुमिः । ९ इधुधिः

१० हस्तामः । ११ अमीश्वः । १२ धनुः । १३ ज्या । १४ इयुः ।

१५ अश्वाजनी । १६ उलूखलम् । १७ घृणमः । १८ घृषणः ।

१९ पितुः । २० नद्यः । २१ आपः । २२ ओषधयः । २३ रात्रिः ।

२४ अरण्यानी । २५ धत्ता । २६ पृथिवी । २७ अप्वा ।

२८ अप्रायी । २९ उलूखलमुसले । ३० हविर्धानि । ३१ घाथा-

पृथिवी । ३२ विपाद्छुनुदी । ३३ आर्तो । ३४ गुनासीरी ।

३५ देवी जोष्टी । ३६ देवी ऊर्जाहुती इति पञ्चत्रिंशत्पदानि ॥ ३ ॥

१ घायुः । २ वरुणः । ३ रुद्रः । ४ इन्द्रः । ५ पर्जन्यः ।

६ बृहस्पतिः । ७ ब्रह्मणस्पतिः । ८ क्षेत्रस्य पतिः । ९ घास्तो-

प्यतिः । १० वाचस्पतिः । ११ अपां नपात् । १२ यमः ।

१३ मित्रः । १४ षः । १५ सरस्वान् । १६ विश्वकर्मा ।

१७ तार्क्ष्यः । १८ मनुषुः । १९ दधिकाः । २० सचिता ।

२१ त्वष्टा । २२ वातः । २३ अग्निः । २४ वेनः । २५ असुनीतिः ।



२६ ऋतः । २७ इन्द्रः । २८ प्रजापतिः । २९ भहिः । ३० अहि-  
र्बुध्न्यः । ३१ सुपर्णः । ३२ पुरूरवा इति द्वात्रिंशत्पदानि ॥ ४ ॥

१ श्येनः । २ सोमः । ३ चन्द्रमाः । ४ मृत्युः । ५ विश्वानरः ।  
६ धाता । ७ विधाता । ८ मरुतः । ९ रुद्राः । १० ऋभयः ।  
११ अङ्गिरसः । १२ पितरः । १३ अथर्वाणः । १४ भृगयः ।  
१५ आप्त्याः । १६ अदितिः । १७ सरमा । १८ सरस्वती ।  
१९ वाक् । २० अनुमतिः । २१ राका । २२ सिनीवाली ।  
२३ कुहः । २४ यमी । २५ उर्वशी । २६ पृथिवी । २७ इन्द्राणी ।  
२८ गौरी । २९ गौः । ३० घेनुः । ३१ अरुन्वा । ३२ पथ्या ।  
३३ स्वस्तिः । ३४ उपाः । ३५ इला । ३६ रोदसी इति पद्त्रिंश-  
त्पदानि ॥ ५ ॥

१ अश्विनौ । २ उपाः । ३ सूर्या । ४ वृषाकपायी । ५ सरण्युः ।  
६ त्वष्टा । ७ सविता । ८ भगः । ९ सूर्यः । १० पूषा ।  
११ विष्णुः । १२ विश्वानरः । १३ वरुणः । १४ केशी । १५ केशिनः ।  
१६ वृषाकपिः । १७ यमः । १८ अन्न एकपात् । १९ पृथिवी ।  
२० समुद्रः । २१ अथर्वा । २२ मनुः । २३ इध्यङ् । २४ आदि-  
त्याः । २५ सप्त ऋषयः । २६ देवाः । २७ विश्वे देवाः ।  
२८ साध्याः । २९ वसवः । ३० वाजिनः । ३१ देवपत्न्यो देव-  
पत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥ ६ ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो घायुः श्येनोश्विनौ पद् ।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तम् ॥

## अथ प्रथमाध्यायः ।

— — : ३३ : — —

“अथातोऽनुक्रमिष्यामः”—इत्यादि ( २, ५ ) निदर्शकं तस्य टीकायाञ्च यन्नैषण्डुककाण्डविषयमुक्तं तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

आदित्त एकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि—

ॐ गौः (१) । ग्मा (२) । ज्मा (३) । क्ष्मा (४) । क्षा (५) । क्ष्मा (६) । क्षोणिः (७) । क्षितिः (८) । अवनिः (९) । उर्वी (१०) । पृथ्वी (११) । मही (१२) । रिपः (१३) । अदितिः (१४) । इला (१५) । निवृत्तिः (१६) । भूः (१७) । भूमिः (१८) । पूषा (१९) । गानु (२०) । गोत्रा (२१) इत्येकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि ॥१॥

(१) गौः । ‘गम्द्गर्तो (भू० प०)’ अस्माद् ‘गमेडोस् (उ० २, ६३)’—इति कर्त्तरि कारके अधिकरणे वा डोः प्रत्ययः ।

-गातेर्षा स्तुत्यर्थात् (अदा० प० ) बाहुलकोक्तेः ( ३, ३, ११३ )  
 -कर्मण्यधिकरणे षा । 'गोतोषित् ( ७, १, ६० )'— इति च  
 णिद्वद्वायाद् घृद्धिः । अत्र.भाष्यम्—'गौरिति पृथिव्या नामधेयं  
 यद्दूरं गता भवति यच्चासां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वेकारो नाम-  
 -करणः (निरु० २, ५),—इति । अस्य स्कन्दस्वामी—'दूरं गता  
 भवति 'नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यव-  
 हारः' । अन्यत्रान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः । प्रत्ययोपात्तरूढ्यर्थ-  
 -सम्बन्धाच्च गमिरत्र नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते,  
 'तक्षा' 'परिवाजकः' इति यथा । यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो  
 गच्छन्ति । चो वाच्ये । गातेर्षा स्तुत्यर्थस्य । (अदा० प० ) गीयते  
 स्तुयतेऽसाधिति, गायन्ति चास्यां स्थिता इति गौः । उदाहर-  
 णम् 'गोपदसि' इति । गार्हपत्योपस्थाने विजियोगान्, गार्हप-  
 त्यस्य च गवि पृथिव्यां सदनान् गोशब्दस्य पृथिव्यभिधानत्व-  
 भिधितमिति । एवमन्त्येष्वप्युदाहरणेषु तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसम-  
 चायेन अभिधेयं प्रदर्शनार्थं तिष्ठत्य तत्तदार्थाभिधायित्वम् । "ग्रजं  
 गच्छ गोष्ठानम् (य० वा० सं० १, २५-२६)" "गौर्जगार यद्  
 पृच्छान् ( ऋ० सं० १०, ३१, १० )" "अभवत् पूष्या भूमता गौः  
 ( ऋ० सं० १०, ३१, ६ )" इति निगमाः ॥

(२) गमा । गमेः पूर्वभिन्नत्व कारकत्वे 'कनिन्युष्टुपितक्षि (उ०  
 १, १५५)' इत्यादिना चिह्नितः कनिनप्रत्ययो बाहुलकान् भवति ।  
 'गम-हन-जन-गत-घमां गंणः किङ्कन्यनडिः (६, ४, ६८)'—  
 'प्युष्टुप्रत्ययः, र्भाणादिर्केन 'मान्त (उ० ४, १५०)'—इति सूत्रेण

घा मनिनि बाहुलकान् (३, ३, १) टिलोपः, 'डाबुभाभ्यामन्यतर-  
स्याम् (४, १, १३) । अर्थः पूर्वचदेव । 'ग्मागच्छते; गच्छन्तीही-  
यम्'—इति-माधयः । "दिवश्च गमश्चापाञ्च जन्तवः (अ० सं० १०,  
४६, २)" — "दिवश्च गमश्च मर्त्यम् (अ० सं० १०, १२, ६)" — इति  
च निगमौ । गम इत्यत्र छान्दसतयाट्टपसिद्धिः ॥

(३) जमा । जमनिर्गतिकर्मा (निघ० २, १०) 'जमु अदने  
(भृ० प०) — जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०), — 'अञ्जू व्यक्ति घ्रक्षण-  
कान्ति-गतिषु (ग० प०) घ्रक्षणं सेचनमिति तद्बृत्तिः । एतेभ्यः  
भ्यन्तुश्च पूम्न ष्टीहन् (उ० १, १५५)' — इत्यादिना परिव्रज्यति  
हनिन्कन् सौपसगं निपातितम्, बाहुलकान् (३, ३, १) निरुपसर्ग-  
तापि भवति । निपातनादत्र कारकविशेषसिद्धिः । 'डाबुभाभ्याम-  
यतरस्याम् (४, १, १३) । गती पूर्वचदर्थः । अदन्ति चास्यां  
तानि, जातानि वा भवकारणान्, जायन्तेवास्या ओषधयः । तथा-  
तोपनिघन् -- 'अद्भ्यः पृथिव्या, पृथिव्या ओषधयः (नं० उ०२, १)  
— इति । अथवा व्यक्ता सर्वेषां प्रत्यक्षा न हाकाशादिवदव्यक्ता  
धिर्वा ; 'तिस्रो महाद्यपगस्तथ्युत्या गुहा द्वे निहिते दृश्येका  
१० सं० ३, ५६, २)' — इति च ध्रुतिः । अक्ता सिक्ता भपति  
रेण; 'नस्मादसायिमां वृष्ट्याभ्युनयमिजिघ्रति (ऐ० प्रा० १,  
१)' — इति द्राहणम् । "ये के च जमा महिनो अदिमायाः (अ० सं०  
५२, १५)" — "अभिवन्धेन्द्रभूरधामन् (अ० सं० ७, २१, ६)" —  
मया अत्र वसयोग्त देवाः (अ० सं० ७, ३६, ३)" — "अघज्मो  
मधपा दिवः (अ० सं० ८, १, १८)" — इति च निगमाः ॥

(४) क्ष्मा । 'क्षि क्षये' भूयादिः (५०), 'क्षि निवासगत्योः' तुदादिः (५०), 'क्षि हिंसायाम्' षयादिः (५०), क्षै, जै, सै, क्षये (भू०५०), 'क्षमूर् सहने (दि० ५०)', 'क्ष्मायी विघ्नने (भू० आ०)'—एतेभ्यः औणादिके मनिनि (३० ४, १४०) बाहुलकादृपसिद्धिः । डापि गतावर्ध उक्तः । क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिनः, क्षायन्ति अद्ययं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति षा, हिंस्यन्तेऽस्यां पापकृत इति षा, क्षमते वा प्राणिजातरूपं, भारं विधनयति वा प्राणिनः स्वकीयकाले । "पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्षमया रेतः (ऋ० सं० १०, ६१, ७)"—"क्षमया चरति परि सा यृणक्तु नः (ऋ० सं० ७, ४६, ३)"—इति च निगमौ ॥

(५) क्षा । निरूपिता एव धातवः । 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति सौपपदान् जनेर्विधीयमानो डः प्रत्ययः, 'अपिशब्दः सचोपाधि-व्यभिचारार्थः'- इत्युक्तेर्निरूपपदेभ्योऽपि ऋषति । क्ष्मायस्तु छान्दसन्त्वान्मकाग्लोपः । अर्थः पूर्वोक्त एव । "जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् (ऋ० सं० १, ६६, ७)"—इति निगमः ॥

(६) क्षमा । निरूपिता एव धातुभावाः । औणादिके मनिनि (३०४, १४०) बाहुलकादृपसिद्धिः । अर्थः पूर्वोक्त एव । 'क्षमूर् सहने (दि०५०)' इत्यस्माद् वा पूर्वयत् डाप्प्रत्ययः । "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य गता (ऋ० सं० २, १४, ११)"—इति निगमः ॥

(७) क्षोणिः । 'दुक्षु क्क्षु शब्दे' अदादिः (५०) 'धीज्याज्य-रिभ्यो निः (३० ६, ४८)' इति चिह्नितो निप्रत्ययो बाहुलकाद्

भवति, गुणः णत्वम् । क्षूयते शब्दयते स्तूपते स्तोत्रमिः, क्षयन्त्य-  
स्यां भूतानीति वा । क्षोणीति ईकारान्तं केचिन् पठन्ति । लदा  
'हृदिकारादकिनो घा ङीप् घक्तव्यः ( ४, १, ४५ घा० )'—इति  
ङीप् । "नयन्त क्षोणयो यथा ( ऋ० सं० १०, २२, ६ )" —"यं  
क्षोणीरनुचकदे ( ऋ० सं० ८, ३, १० )" —इति निगमौ ॥

(८) क्षितिः । 'क्षि निवासगत्योः ( तु० प० ),' 'क्षि क्षते  
( भू० प० )' 'क्षि हिंसायां ( स्वा० ऋशा० प० )' —यतेभ्यो  
ऽपि 'घसेस्तिः ( उ० ४, १७५ )'—इति विहितस्ति-प्रत्ययो बाहुल्य-  
काद् ( ३, ३, १ ) भवति, गुणाभावश्च । अथवा स्त्रिय  
क्तिन् ( ३, ३, ६४ )' कर्मण्यधिकरणे ( ३, ३, ६३ ) वा भवति  
अर्थस्तु क्ष्मेत्यत्रोक्तः "क्षेति क्षित्रीः रुभगो नाम पुष्यन् ( ऋ०  
सं० ५, ३७, ४ )" —"वीहि स्वस्ति सुक्षिति दिवः ( ऋ० सं० १  
२, ११ )" —इति निगमौ ॥

(९) अचनिः । "अच रक्षण-गति-तृप्ति-भीत्य-ऽयगम-प्रवेश-  
अवण-सामर्थ्य-यावन-क्रिये-च्छा-श्रीप्त्य-ऽवाप्या-ऽऽलिङ्गन-हिंस-  
दान-भाग-वृद्धिषु ( भू० प० )" —अस्मात् "असिंसुभृषम्यम्यश्यति  
तृभ्योऽनिः ( उ० २, ६५ )" —इत्यनि-प्रत्ययः । अचति प्रजाः अव्य  
घा भूपैः । एतावत्स्वर्षेणु यो योग्यः स षोडश्व्यः । "आ ।  
रक्षोऽचनिर्न प्रवत्यान् ( ऋ० सं० १, १८१, ३ )" —"यत्सी महती  
चनिं प्राभि मर्हृशत् ( ऋ० सं० १, १४०, ५ )" —इति च निगमौ

(१०) उर्वी । "ऊर्णुम्—आच्छादने ( अदा० उ० )" —अस्मात्

"महति ह्रस्वश्च ( उ० १, ३० )" —इति उपत्ययो णलोपो ह्रस्वा

उच्यते । "संज्ञोत्पत्त्यनन्तरम् ( ५, १, ५१ ) -- इति ङीप् । उच्यते ।  
 प्राप्तात्पनि उची । महत्वात्प्राप्तात्पि मूः सन्नि-  
 दितानां वा पदानां नाम् । मूः शोभेवां ( ला० ५० ) शोभेवादिभ्याम् ( १,  
 १, १०१ ) अपरितिः । 'उच्यते' विहितम् -- इति स्वक्यायामी  
 मूः शोभेवादिभ्याम् अनुपादम् । "मा मीमयथ मा भागुयी  
 काष्ठा ( सं० सं० ८, ८०, ८ ) -- इति निगमः ॥

( ११ ) पृथ्वी । 'प्रथ प्रथ्याने ( मू० भा० ) -- प्रथि-प्रथिप्रथम् ।  
 सम्प्रसारणं सन्तोषम् ( उ० १, २, ७ ) -- तिक्-प्रथ्ययः सम्प्रसारणम् ।  
 प्रथनेऽस्तापिति पृथुः । पृथ्वी ( ४, १, ४४ ) ङीप् । पृथ्वी विस्तीर्ण-  
 त्वर्थः । पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीर्णंति पृथिवी । यद्वा अन्तर्मा-  
 पितपृथ्वीत् प्रथतेः 'उणादयो बहुलम् ( ३, ३, १ )', 'भूनेऽपि दृश्यन्ते  
 ( ३, ३, २ ) -- इति घञनात् भूने कु-प्रथ्ययः । शब्दना पूर्वमेव  
 विस्तीर्णत्वर्थः । 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयन् यदप्रथयन् पृथिवी पृथिवी-  
 त्वम् ( य० श० ११, १६, १३, २ )' -- इति हि प्राञ्जणम् । 'पृथुना राज्ञा  
 अधतारिता पृथ्वी' -- इति शंकरस्वामी । स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीम्  
 ( श्रु० सं० १०, ३१, ६ ) -- इति निगमः । "यत्रैकार्यानां पदानां  
 सन्निपातः तत्रैकं तस्य घञकं भवतिः अन्येषां निरुक्त्या योजनं  
 कर्तव्यम्" -- इति मर्यादा, अतोऽत्र क्षामिन्यस्य निरुक्त्या  
 योजनम् ।

( १२ ) मही । "मह पूजायाम्" भूचादिः ( ५० ) । "इत् सर्व-  
 घ्रातुभ्यः ( उ० ४, १, १४ ) -- इतीनप्रत्ययः । "हृदिकाराः ( ४,  
 ५० ) -- इति ङीप् । महते प्रजाभिः, महति षा-देवताः ।

स्वभारायतरणाय । अथवा मानेन स्वगुणेन परिमाणेन स्वसाधूनं परिमाणं पातालं जहानि अतिक्रामति, मानशब्दात्जहातेश्च महो । तृणोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) निर्वाहः । “भा नो महीमर्याति सन्नोपा ( ऋ० सं० ५, ४३, ६ )” — इति निगमः ॥

(१३) रिपः । ‘रिपृ गर्तो ( भृ० आ० )’, ‘किञ्चन्विप्रच्छ्रयायत-स्तुकन्मूजुधीणाम् ( ३,३, १७८ घा० ),— इत्यत्र ‘प्राक्प्रत्ययनिर्देशात् इष्टासिद्धिः’ इति वचनाद् ह्रस्वे रिपः । गौरित्यनेन समानार्थः । यद्वा, ‘रिफ कत्थन युञ्ज-निन्दा-हिंसा-दानेषु’ तुदादिः परस्मैपदा । क्रिपि, पकारस्य पकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५) कत्थन-युद्धादीनसां कुर्वन्ति तत्कारिणः । यद्वा ‘लिप उपदेहे (नु० उ०),’ लिप् । गोमयादिना आलिप्यते इति लिप् । रलयोरभेदः । तथाच माधवीयनिर्वचनानुक्रमण्यां ‘लेपनाद्रे-पणादपि’— इति । यद्वा : ‘रपलय व्यक्तायां घावि (भू० पू०)’ ‘रपेरिद्धोपधायाः ( उ० १, २५ )’—इत्युप्रत्यये विधीयमानमित्थं यादृक्कादन्यत्रापि भवति । आलपन्त्यस्यां प्रापितः इति रिप्, जसि रिपः ; एवंरूपस्य वेदे भूयोदर्शनात् यथादृष्टं पाठः । “रिरिद्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ( ऋ० सं० १०, ७६, ३ )” - “पाति मियं रिपो अग्रं पदं वेः ( ऋ० सं० ३, ५ )” —इति च निगमौ ॥

(१४) अदितिः । ‘दीङ् क्षये (दि०आ०) । हृत्पन्मुटो बहुलम्, (३,३, ११३)’—इति कर्तरिक्रिनि छान्दसं ह्रस्वत्वम् नञ्समासः । अदि-तिः सकल प्रपञ्चधात्वेष्वदीना न विद्यन्ते इत्यर्थः । ‘अदितिरदीना (निह० ४, २२)’— इत्यत्र भाष्ये स्वन्दस्वामी यद्यपि नञ्पूर्वाद् घन्तेः





६, ४) "अथा होता न्यसीदो यजीयानिलस्पदं (ऋ०  
 ६, १, २)" [ 'इल्ल्छान्दसत्वादाकारलोपः'—इति  
 स्वामी ] "इल्ल्स्पदे समिध्यमे (ऋ० सं० १०, १६३, १)  
 । निगमाः ।

६) निःश्रुतिः । 'निःश्रुतिर्निर्मणात्' ( २, ७ ) निरुक्तम् ।  
 ऋद्धस्वामी—'निर्मणात्—निश्चलत्वेनावस्थानात्—इत्यर्थः; रम-  
 षां भूतानि'—इति । तत्र निरूर्ध्वाद्रमैः (भू० आ०) 'कृत्य-  
 बहुलम् ( ३, ३, १६३ )'—इति कर्त्तर्यधिकरणे च किति  
 ६४) अनुनासिकलोपः, 'रमेर्मता बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—  
 बहुलवचनात् सम्प्रसारणम् । आद्येऽर्थे निर्निश्चलत्वमाह  
 गानम् उत्तरत्र धात्यर्थमनुवर्त्तते निः । वैयाकरण-  
 तु निरुपसृष्टादर्थः किति निःश्रुतिः निःश्रान्तादृतेर्गमनात्  
 वदयतिष्ठने इत्यर्थः । "बहुप्रजा निःश्रुतिमाविशेश (ऋ०  
 १६४, ३२)"—"अथा शर्यात् निःश्रुतेरुपस्ये (ऋ० सं०  
 ५, १४)"—इति च निगमौ ॥

७) भूः । भू सत्तायां ( भू० प० ) सम्पदादित्वात् भावे  
 , ३, ६४ वा०) । भवत्यस्यां सर्वमिति भूः । "भूर्सा भुयो  
 त्तमग्निः (ऋ० सं० १०, ८८, ६)"—इति निगमः । रीफान्तं  
 न्, यथा—"भूर्भुवः स्वः ( य० घा० सं० ३६, ३ )"—इति ॥

८) भूमिः । 'भुवः कित् ( उ० ४, ४१ )'—इति भवतेः  
 । । अर्थः पूर्यपत् । अथवा 'भूतेऽपि दृश्यन्ते ( ३, ३, २ )'

—इति पञ्चनात् भूते सिप्रत्ययः । 'अभूत्भूमिस्तथा अभूद्वा  
इदमिति तद् भूष्यै भूमित्वम्'—इति ध्रुतिः । "न्यङ्ङुत्तानामन्वेति  
भूमिम् ( ऋ० सं० १०, २७, १३ )" — "भूमिभूमिमगात्"—इति  
च निगमौ ॥

(१६) पूषा । 'पुष पुष्टौ ( भू० दि० ऋषा० प० ) । 'श्वन्नु-  
क्षन्पूषन् ( उ० १, १५५ )' —इत्यादिना कनिन्-प्रत्ययान्तो  
निपात्यते, निपातनादुपधाया दीर्घः । 'पुष्यति धाम्यादिभिः समृद्धा  
भवति पोषयति वान्नीः प्रजाः । 'सर्वार्थपोषणात् पूषा' इति  
मट्टभाम्करमिश्रः । तथा 'पृथिवी न्यवर्त्तयन् सोपर्धाभिवर्त्तयति-  
भिरपुष्यत्' इति ध्रुतिः । यद्वा : 'पुष धारणे ( चु० प० )'— इति  
घातुः । धारयति सर्वाणि भूतानि पोषयत्याभरणानीति यथा ।  
"आ पूषद्विप्रयर्हिषम् ( ऋ० सं० १, २३, १३ )" इत्यत्र माधयः  
—'पूषा पोषयतीति सम्य प्रत्यक्षं रूपम्' । "पूषा त्वेतो नयतु  
हन्नापूषा ( ऋ० सं० १०, ८०, २६ )" —इति, "नरम्वन्यै पूष्णेऽप्रये  
स्वाहा ( य० या० सं० ४, ७ )" — इति निगमः ॥

(२०) गानुः । 'गाह् स्तुतो' छन्दसि तुहोत्यादिः ( भू० प० ),  
'गाह् गतो ( भू० भा० )', 'कै गै शब्दे' भूयादिः ( प० ) । 'कमि-मनि-  
जनि-गा-मा-या-दिभ्यश्च ( उ० १, ७० )' इति नु-प्रत्ययः । गीयते  
स्तुयतेऽर्था, स्तुयन्ति वास्यां श्विता इन्द्रार्दान्, गच्छत्यस्यां  
भूतानीति वा, गायन्ति वास्यां श्विता गायता इति । यद्वा: गाय-  
नेऽनेनेति गानुमांगः, 'नृगकारेकारेपाञ्चयेति यत्तद्व्यम् ( ४, ४, १२८  
- २ )' —इति प्रत्ययार्थस्य लुक् । गानुः मार्तण्डी दि भूमिः ।

“इन्द्राय गानुस्वर्तीय येने (ऋ० सं० ५, ३३, १०)”-“अदशि गानु  
स्ववे परीयसी (ऋ० सं० ६, १३६, २)”-इति निगमा ॥

(२१) गोत्रा । ‘गुङ् अव्ययते शब्दे (भू० आ०) । ‘गु-घृ-घी-  
पचि-वचि-यमि- [ मनि-त्तनि ] सदि-श्रदिम्यस्त्रः ( उ० ४, १६२ )’

इति प्रत्ययः । गुणः । मृगपश्यादयोऽस्यामव्यक्तशब्दं  
कुर्वन्तीति गोत्रा । यद्वा : गोत्राः शैलाःसन्त्यस्याम् अशंभादित्यात्  
( ५, २, १०७ ) अच् । यद्वा: गोशब्दे कर्मण्युपपदे ‘त्रैःपालने  
( भू० आ० )’- इत्यस्मान् ‘धातोऽनुपसर्गे कः ( ३, २, ३ )’ । टाप्  
( ४, २, ४ ) । गाध्यायते गधति यवसोदफयत्तया । यद्वा, गोमिरा-  
दित्यकिरणैर्बृष्टिप्रदानेन त्रायते रक्षते इति, ‘इत्यत्पुटो बहुलम्  
( ३, ३, १६३ )’- इति कर्मणि ‘धातोऽनुपसर्गे कः ( ३, २, ३ )’ ।  
यद्वा, गोशब्दान् ‘नम्य समूहः ( ४, २, ३७ )’-इत्यस्मिन्नधिकारे  
‘खल-गो-रथान ( ४, २, ५० )’ इत्यनुवृत्तौ ‘इति-त्र-कट्यचञ्च  
( ४, २, ५१ )’- इति प्र-प्रत्ययः । गोत्रा, गवां समूहो मत्वर्यो-  
योऽकारः । गोसमूहोऽस्यामस्तीति गोत्रा । निगमोऽन्येषणीयः ॥

इत्येकविंशतिः पृथिवी-नामधेयानि ॥ “उवाच मे वरुणो  
मेधिराय ( ऋ० सं० ७, ८७, ४ )” इत्यत्र माधवः “उवाच  
महां वरुणो मेधाधिने” इति स तत्रैकविंशतिनामानि काचिद्  
गौर्यभिर्त्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्कपठितानि एकविंशतिनां-  
मानीति ॥ १ ॥

हेम (१) । चन्द्रम् (२) । रुक्मम् (३) ।

अयः (४) । हिरण्यम् (५) । पेशः (६) । कुश-

मम् (७) । लोहम् (८) । वनकम् (९) । काम-  
नम् (१०) । भर्म (११) । अमृतम् (१२) ।  
मम् (१३) । दध्रम् (१४) । जातरूपम् (१५) ।  
इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

(१) हेम । 'हि गर्गा वृषो म (भा० प०)' अस्मान्धातोः  
'नामन्-सोमन्-स्योमन्-नेमन्-रोमन्-लोमन्-शोमन्-विधमन् पाप्मन्  
( उ० ५. १५० )'—इति मनिघ्नन्तं निपात्यते । हिनोति गच्छति  
अनेन गुणं पुराणः, गम्यते वा तदधिभिः, गच्छति वा स्वयं  
कटकादिरूपा विरुतिम्, हिनोति याणिभ्यादिना प्रतिदिनं  
घटंते । 'ताम्राद्युपरि लेपनाद् घटंते'—इति मुचोधिनी । अथवा  
हितमापदि निहितं वा भूम्यादौ दधातेर्हिरादेशो निपातनान् । हेम ।  
"अम्य प्रेषां हेमना पूयमानः (ऋ० सं० ६, ६७, १)"— "अथो न  
स्वे दम आ हेम्यावान् (ऋ० सं० ४, २, ८)"—इति च निगमौ ।  
हेम्यावान्—हिरण्यमयकक्ष्यया युक्तः ॥

(२) चन्द्रम् । 'चदि आहादने दीर्घा च (भू० प०)' अस्मात्  
'स्फायि-तञ्चि-चञ्चि-शकि-क्षिपि-भ्रुदि ( उ० २, ६२ )'—इत्या-  
दिना रक् । चन्दयति, आहादयति तद्धत् दीप्यते वा स्वयं  
तैजसत्वात् । यद्वा, निजन्ताद्यदेशांहुलकात् णिलोपः, दीपयति  
धारयितृन्—दीप्यतेऽनेन धारयितेति वा । कान्त्यर्थो वा चदि-  
'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः (निह० ११, ५)'—इत्युक्तेः । काम्यते

सर्वैः इति चन्द्रम् । “ये षध्वधन्त्रं षहन्तु (ऋ० सं० १०, ८५, ३१)”  
 —“दक्षिणा चन्द्रमुत यद्विरण्यम् (ऋ० सं० १०, १०७, ७)”  
 —इति च निगमौ ॥

(३) रवमम् । ऋच दीर्घा (भू० आ०) ‘युजि-रुचि-तिजां  
 कुञ्च (उ० १, १४३)’—इति मक्प्रत्ययः कुत्वं च । रोचते तद-  
 तिशयेन दीप्यते तेन तदिति च रवमम् । “आ रवमैरायुधा नरः  
 (ऋ० सं० ५, ५२, ६)” —“एष रुचिमभिरीयते (ऋ० सं० ६,  
 १५, ५)” —इति च निगमौ ॥

(४) अयः । ‘इण् गती (अदा० प०) । असुन् (उ० ४, १८४) । पति  
 गच्छति अंगुलीयकारूपेण शरीरम्, अक्थकय-संविभागा-दिना  
 षा । पुण्यात्पुरुषान्तरं गच्छत्यनेन धर्मदानादिनेति षा ।  
 “अयः शीर्षा मदे रघुः (ऋ० सं० ८, १०१, ३)” —इति निगमः ॥

(५) हिरण्यम् । ‘ह्रस् हरणे (भू० उ०) अस्मात् ह्यतेः कन्यन्  
 ह्रि च (उ० ५, ४५)’—इति विधीयमानः कन्यन्-प्रत्ययो  
 हिरादेशश्च चाहुलकाद् भवतः । तथाच अन्यचित्यधिकृत्य ‘ह्रस्  
 इच’-इति भोजसूत्रम् । ह्रियते अनाजनमिति षा संव्यवहारार्थम्,  
 द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रायस्थायित्वं तस्य । अथवा ह्रिधानुजं  
 रूपम्,—हितोतेः रमतेश्च धानुद्रयात् समुदितात् कन्यन्-प्रत्ययो  
 चाहुलकाद्रूपसिद्धिश्च, हितश्च तत् आपदि दुर्भिक्षादौ, रमयति  
 च सर्वदा सर्वमिति । अथवा ह्यतेः प्रेप्साकर्मणः (निरु० २, १०),—  
 ह्यतेः कन्यन् ह्रिश्च ह्रियतेर्यथाप्राप्तं रूपम् । सर्वैर्हि तत् सर्वथा  
 प्राप्नुमिष्यते । ‘ह्यति स्वप्रभया दीप्यते’—इति सुबोधिनीकारः ।

“हिरण्यरूपः स हिरण्यसङ्घृग् ( ऋ० सं० २, ३५, १० )”—इति निगमः ॥

(६) पेशः । ‘पिश गतौ ( चु० प० )’ । असुन् । अय इत्यनेन समानार्थम् । “त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा ( ऋ० सं० १, ४७, २ )”—इति निगमः । “हिरण्ययेन रथेन ( ऋ० सं० ८, ५, ३५ )”—हिरण्ययी वां रभिः—( ऋ० सं० ८, ५, २६ )—इत्यादीं । अश्विनोरथस्य हिरण्यकेश्युवतेः पेशोऽत्र हिरण्यम् । वृहदारण्यके—‘तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रा मपादायान्यं नवतरं कल्याणतरं<sup>३</sup> रूपं तनुते ( ४ ४, ४ )’—इति । यथा । वाजसनेयके “सरस्वती मनसा पेशलम् ( १६, ८३ )”—इत्यत्र . ‘पेश इति हिरण्यनाम रूपनाम वा, इत्युवटेन व्याख्यातम् ॥

(७) वृशानम् । ‘वृश तनूकरणे ( दि० प० )’ । ‘कृ-पृ-वृजि-मन्दि-नि-धाप्-भ्यः षयुः ( उ० २, ७६ )’—इति विधीयमानः षयुर्वाहुलफावु भवति । वृश्यति तनूकरोति यम् । अत्र माध्वस्तु-‘हृशिदौप्यर्थः । वृश्यति स्वप्नभया दीप्यते, अपि वा कर्जयति संगृह्यते, वृशमेव वा भवति संस्थानतो रजनात्’ इति । “स्मदिष्ट्यः वृशानितो निनेके ( ऋ० सं० ७, १८, २३ )” ‘अभि श्यायं न वृशानेभिरश्यम् ( ऋ० सं० १०, ६८, ११ )” ‘अभिवृतं वृशानैर्विश्वरूपम् ( ऋ० सं० १, ३५, ४ )”—इति निगमाः ॥

(८) लोहम् । ‘लूह कल्पनादौ ( भू० प० )’ । षम् ( ३, ३, २१ ) । इत्यने श्दापतेऽनेनात्मा,—त्रिवर्गमाध्वनन्त्यात् पुरतः साप्रार्थ्यते

घा । 'ह्रो हः'—इति तु र्धासौजदेयः । लुनाति द्विनन्ति  
पापसम्बन्धं पात्रे दीयमानम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) कनकम् । 'कनी दीप्तिकान्तिगतियु ( भू० प० )' ।  
'चृभादिभ्यः संज्ञायाम् ( उ० ५, ३६ )'—इति चृन्-प्रत्ययो  
धात्वर्थेष्वपि । खमादिवदर्थोऽनुसन्धेयः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) काञ्चनम् । अत्र सुयोधिनी—'कचि दीप्तिबन्धनयोः  
( भू० आ० )' । कञ्चते चर्णेन दीप्यते दध्यते कुण्डलादिरूपेणेति ।  
'युच् बहुलम् ( ३, ३, १३० )'—इति युच्-प्रत्ययः । दीर्घोऽत्र  
चाहुलकात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) भर्म । 'डु भृञ् धारणपोषणयोः ( जु० उ० )' । मनिन्  
( ३, २, ७५ ) । त्रियते घाटयते, अङ्गुल्यादिभिर्घाष्यते आपदर्थमिति  
घा, पोषयत्यनेन कुटुम्बमिति घा । हरतेर्घा ( भू० उ० ) मनिनि 'ह्रप्र-  
होर्भंश्छन्दसि ( सि० कौ० घे० ३ अ० )'—इति भकारः । हिरण्येन  
हरति—धातुजेन समानार्थम् । "सुवीराभिहितरते वाजभर्मभिः ( ऋ०  
सं० ८, १६, ३० )"—"अरिष्टभर्मंजागहि ( ऋ० सं० ८, १८,  
५ )"—इति च निगमौ । 'वाजभर्मभिः', 'अरिष्टभर्मन्'—इत्यत्र  
माधवस्तु—'भर्त्तव्यं भर्म' इति ध्यास्यत्, तदा निगमोऽन्वेष-  
णीयः ॥

(१२) अमृतम् । तन्नपूर्वात् त्रियतेः ( तु० आ० ) 'तनिमृङ्'यां  
किञ्च ( उ० ३, ८५ )— तन्-प्रत्यये रूपम् । न त्रियतेऽनेन दुर्भि-  
क्षाद्दी, नास्ति मृतं मरणमस्येति घा,—न हि हिरण्यस्य यस्यां  
कस्याश्चिद्वस्थायामात्मनाशो विद्यते । 'धाम्नेः प्रजातं परि



यद्विरण्यममृतं दध्ने अधि मर्त्येषु ( अथ० सं० १६, २६, १ )—  
इति खैलिको मन्त्रः । न ध्रियते पात्रे प्रतिपादितेन ध्रियमाणेन वा  
आयुष्करत्वात् । 'आयुर्वै हिरण्यम्'—इति श्रुतिः । तथाच  
खैलिको मन्त्रः—'यो विमर्त्ति दाक्षायणः' हिरण्यः स देवेषु  
कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ( य० घा० सं० ३४  
५१ )—इति । "भत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ( ऋ० सं० १,  
७२, १ )"—"शुकं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन  
( य० घा० सं० ४, २६ )"—इति निगमौ ।

(१३) मरुत् । मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति,  
मातेः पूर्वाह्णं, रीतेर्वेत्तराह्णम्, पृषोदरादिस्थान् ( ६, ३, १०६ )  
साधुः । हिरण्यं हि आन्यादि-तेजस्वि-पदार्थेभ्यो मितं भोगादि-  
भ्योऽमितं रोचते, अर्थिभ्यो दीयमानं लोकद्वयेऽपि कीर्त्तिं  
कारयति । तथाच मुमादितश्लोकः—'शृणु पाणे ! त्वयि न्यस्तं  
कियरकाणादि कङ्कणम् । इदमेवाधिहस्तार्थं राययति च रोचते' ।  
यज्ञा, मृद्धो कनिः,—ध्रियनेर्घातोः ( नुः आ० ) कतिप्रत्यये रूपम् ।  
ध्रियन्नेऽनेन पुरुषा इति मरुत्, - एतदर्थं हि र्वागदिमिः पुरुषाः  
हन्त्यन्ते । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१४) दधम् । 'दु दान् दाने ( जु० उ० )' । 'अमिचिमि-  
न्दि-शीभिभ्यः क्तुः ( उ० ४, १५६ )'—इति विधीयमानः क्तुो  
बाहुल्यकान् ( ३, ३, १ ) मयति । 'दो ददयोः ( ७, ४, ४६ )'—  
इति ददमायः । दीयते पात्रे दधम् । "रन्द्र" यत्नं मादिनं दधमस्त्य०  
( ऋ० सं० ३, ३६, ६ )—इति निगमः ॥

(१५) जातरूपम् । 'जनी प्रादुर्भाये ( दि० आ० )' । निष्ठा-  
 तकारः । "जनसनसनाम् ( ६, ४, ४२ )" -इत्याद्यम् । जातः ।  
 "न्व दीर्घो ( भू० आ० ) । 'स्वप्-शिल्प-शष्प-घाष्प-रूप-परि-  
 तल्पाः ( उ० ३, २६ )'—इयि एप्रत्ययान्तो जिपातितः, जिपातना-  
 दुकारस्य दीर्घश्चकारलोपश्च । रोचते रूपम् । अनाहार्यतया जातं  
 रूपमस्य जातरूपम् । तथान्च रामायणे स्कन्दोत्पत्ती—'इह हैम-  
 चने भागे गर्भेऽयं सन्निवेश्यताम्' इत्यतः 'परिनिश्चितमाने गर्भे  
 तु तेजाभिरभिरञ्जितम् । सर्वं पर्वतस्रजं सौवर्णमभवदनम् ।  
 जातरूपमिति ख्यातं तदा प्रभृति राघव ! सुवर्णं पुरयव्याघ्र !  
 हुताशनसमप्रभम्— इति ( उ० का० ) । जातं रूपं सौन्दर्यमनैत  
 धारयितृणामिति वा जातरूपम् । "जातरूपमयेन च पवित्रेणा-  
 न्वर्थायाभ्यपिञ्चति ( ऐ० ब्रा० ८, १८ )" - इति निगमः ॥

इति पञ्चदश द्विगण्यनामानि ।

अन्वरम् (१) । वियत् (२) । व्योम (३) ।  
 बर्हिः (४) । धन्व (५) । अन्तरिक्षम् (६) ।  
 आकाशम् (७) । आपः (८) । पृथिवी (९) ।  
 भूः (१०) । स्वयम्भूः (११) । अध्वा (१२) ।  
 पुष्करम् (१३) । सगरः (१४) । समुद्रः (१५) ।  
 अध्वरम् (१६) । इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥३॥

(१) भाषाश्च । 'तन्निह शब्दे ( ऋ० भा० )' । 'यद्भाषाश्च  
 ( उ० ५, ५२ )'—इति भाषाव्यवस्थायां निगमने । अथवा  
 शब्दादधोऽपि भाषा, भाषणे शब्दावने वा स्वयं वायु-  
 शब्दादिगणनात्.—भाषायागुणो हि शब्दः । अथवा भर्तृधर्ताः  
 'भर्तृशक्तिरगमिनिषाद्यागुणित्वात्पुष्पुर्त्तृकागध ( उ० १,  
 २६ )'—इति भर्तृधर्तृधर्तृमान उग्रव्ययो युगागमध वाहुल्यकान्  
 ( ३, ३, १ ) भवति, तस्मिन्, गुणे, इ-परस्ये च रेफस्य मकारश्च,  
 अम्बु । भर्तृधर्तृ वा तेनैव सूत्रेण उग्रव्ययो युगागमध । उभयप्रापि  
 गच्छति शब्दादेशान्तरं गमने वा प्राणिभित्तियम्बु जन्म । नदानि  
 ददातीत्यस्यो मेघः । 'भातोऽनुपसर्गे कः ( ३, २, ३ )', 'पृषोड्गदि-  
 त्वात् ( ६, ३, १०६ ) उकारस्याकारः । नडदाकाराम्यभ्यम् ।  
 'लुगकारेकाररेफाश्च घक्तव्याः ( ४, ४, १०८ वा० २ )'—इति  
 मत्वर्थोऽयम्बु लुक् । तदेव वा वर्षासु प्राणिभ्य उडकं ददातीति  
 अम्बुम् । अथवा अम्बुशब्दे उपपदं गजनेधर्तोः 'अयेष्वपि  
 दृश्यते ( ३, २, १०१ )'—इति दृशिप्रहणान् डः, अपिशब्दस्य  
 सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वादर्थसिद्धिः । अथवा अम्बुवद्राजने  
 स्वस्थस्तिमितसागम्बुवद्वभासने । कल्पितोपमानञ्चैतन्, तद्यथा  
 'पुञ्जैर्दृशमिव ध्यानं मेघो भाति मतङ्गजः । सरः शब्दप्रसन्नाम्भो  
 नमः खण्डमिवो जिह्वतम् ॥' परमार्थतः स्वरूपमवकाशः । अथवा  
 अम्बुमत् भवति रो मत्वर्थोऽयः, पूर्ववद्दुकागम्याकारः, अन्तरिक्षं हि  
 वर्षोदकेन तदन् । 'यथासत्या परावति यद्भाषां अध्यम्बरे ( ऋ०  
 १, ८, १४ )'—इति निगमः ॥

(२) वियत् । 'यमु उपरमे (भू० प०)'—इत्यस्मान् औणादिके क्विप् 'गमः कौ (६, ४, ४०)'—'गमादीनामिति वक्तव्यम् (६, ४, ४० वा०)'—इत्युक्तेरनुनासिकलोपः । 'ह्रस्वस्यपिति कृति तुक् (६, १, ७१)' । विगतं यमत्रमुपगमणमस्मादिति वियत्, —अन्तर्गच्छं हि सर्वत्र व्याप्तव्यात् न कुत्रचित् उपरतम् । 'वियच्छति न विगमति' इति क्षीगम्यामी । यद्वा, विपूर्वात् 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' इत्यस्मान् क्विप् । विविधं यतन्तेऽस्मिन् प्राणिनः, आकाशे हि सर्वे ध्याप्रियन्ते । तिगमोऽन्वेषणस्य ॥

(३) व्योम । विपूर्वादयनेर्धाप्रयर्थत्वान् (भू० प०) औणादिके 'सर्वधातुभ्यो मनिन् (३० ४, १४४)'—इति सूत्रेण मनिन्प्रत्यये 'स्वरह्वरन्निथ्यविमवामुपधायाश्च (६, ४, २०)'—इत्युटि गुणः । व्यञ्जति व्याप्नोति सर्वं जगत् । यद्वा, भवतिरान्यर्थः (भू० प०) भावे मनिन् (३० १, १३६), —ओम्, अयनं शमनं विविधमस्मिन् प्रियने । यद्वा, शृणोत्यर्थः (भू० आ०), विशेषेणावति प्राणितोऽयकाशप्रदानेन । उणादीं नु 'नामन्-सीमन्-ध्यामन् (३० ४, १५०)' इत्यादिना 'व्येञ्स्संधरणे (भू० ३०)' इत्यस्मान्मनिनि उर्ध्वं निपात्यते । र्ध्वं यने तद्वायुना व्योम । तथाच निगमम् 'धोनिगमति' महानधययः परिवर्तनी धायुना (११, ४०)'—इति । इदं निर्वचनमेतत्पदकारण्योः शाकल्याश्वेपयोः रन्निमतं र्धान्यस्मिन्प्रयच्छेत्तद्वत् । "सहस्राक्षरा पंग्मे व्योमन् (ऋ० मं० १, १६५, ४१)" —'संयामाशिरं पूर्वं व्योमति (ऋ० मं० ६, ३०, १)" —इति च तिगमो ॥

(४) बृह्तिः । बृदि बृद्धौ (भू० प०) । 'बृह्तेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इति इति प्रत्ययः । "बृंहति बद्धतेऽनेन प्राणिजातम्"—सर्वे हि प्राणिन आकाशे बद्धन्ते, परिवृद्धं वा स्वयं विभ्रुवात् । "यस्य त्रिधात्ववृत्तं बृह्तिः (ऋ० सं० ८, १०२, १४)"—इति निगमः ॥

(५) धन्व । इवि रिवि धवि गत्यर्थाः (भू० प०) । इदित्त्वान्नुम् (७, १, ५८) । "कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्य प्रतिदिवः (उ० १, १५४)"—इति कनिन् । धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादापः । यद्वा, धतधान्ये ( दि० आ० ), अनेकार्यत्वादर्थनार्थः । कनिप् । धन्वते अधर्षतेऽधकाशप्रदानाय, देवतात्वान् स्वं स्वमर्भाष्टं वा । "यः परस्याः पराव्रतस्तिरोधन्वातिरोचते (ऋ० सं० १०, १८७, २)"—इति निगमः ॥

(६) अन्तरिक्षम् । 'अन्तरिक्षं कस्मान् ? (निरु० २, १०)'—इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिप्रन्यो यथादृष्टं निरूप्यते—'अन्तरा मध्ये सार्यभूतानां क्षान्तं शान्तं निःक्रियं वा शान्तमभ्यूहं विष्कम्भस्यानात्मकत्वान् । अन्तरा इमे रोदर्या क्षियतीति वा । अन्तरेमे शोण्याविति वा । एवमनेकविकल्पमुत्तरम् । पूर्वशरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा, अन्तःशब्दान् पूर्वपदमक्षयशब्दादुत्तरपदं विनाशिव्यपि अविनाशीत्यर्थः'—इति । सर्वत्र पृथोदरादित्यान् (६, ३, १०६) ताधु । "न यस्य वापावृषिरी न धन्व नान्तरिक्षम् (ऋ० सं० १०, ८६, ६)"—इति निगमः ॥

(७) आकाशम् । आङ्पूर्वात् 'काष्ठदीप्तौ ( दि० आ० )'—  
 त्यस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति  
 प्रत्ययः । आ समन्तात् काशन्ते दीप्यन्ते सूर्यादयोऽत्र । यद्वा  
 म्-पूर्वात् काशोः पचाद्यच् (३, १, १३४), नञश्छान्दसः (६, ३,  
 १६) दीर्घः । न काशते, पृथिव्यादिवत् अप्रत्यक्षत्वात् । तथा च  
 तिः—“तिस्रो महीरुपरास्तस्थुस्त्या गुहा द्वये निहिते दर्शका  
 ऋ० सं० ३, ५६, २”—इति । 'तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यति'—  
 ते च “तम्माह्वं एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ( तै० उ०  
 १ )”—इति निगमः ॥

(८) आपः । 'आङ् ध्यातो ( भू० प० )' । 'आप्तेर्ह्रस्वश्च  
 उ० २, ५५'—इति क्विप्प्रत्ययः उपधाह्रस्वश्च । जसि 'अप्तन्तृच्-  
 ष्ट् (६, ४, ११)'—इत्यादिना दीर्घः । व्याप्तेति ह्यन्तरिक्षं सर्वं  
 गच्छन्, आप्यते वा प्राजिभिः । अपृशब्दस्य निष्पन्नं घट्टुचनान्तःत्वात्  
 घट्टुचनान्तस्य पाठः । \* \* \* । “तृतीयमप्सु नृमणा अजहत्  
 ऋ० सं० १०, ४५”—इति निगमः ॥

(९) पृथिवी । 'प्रथ प्रथानि ( भू० आ० )' । 'प्रथेः पिचन  
 व्यसारेण च ( उ० १, पा० )' । 'पिङ्गोरादिभ्यश्च (४, १, ४९)'—  
 ते ङीप् । प्रथते पृथिवी । “यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा  
 १० सं० २, १४, ११”—“स दाधार पृथिवीं धामुनेमाम्  
 १० सं० १०, १२१, १”—इति च निगमौ ॥

(१०) भूः । भवतेः ( भू० प० ) क्विप् । भवत्यस्मादुच्यतेऽपि ।  
 तस्योऽन्वेषणीयः ॥

(११) लगधुः । लपं गपनि न केननिन् गुरपते, केगधिः  
 वारिनी एते निपं हाकारम् । लपमिगएगुकातानं केगुनिन् ।  
 तदा 'मृगाधुनिवात् (उ० १, ३५)' कुः । निगमम्यादरांनान्  
 उभापमनि निमित्तम्, निगमदरांनाभिर्णयः कार्यः ॥

(१२) मध्या । 'अद् मशजे (मदा० प०)' । 'अदेधं न  
 (उ० ४, ११२)'—इति वनिन् धकारध्वान्तादेशः । अदनं स्वस्ति-  
 गच्छतां पश्यादीनां विषमभ्यानाभावात् । यद्वा, अधिर्गत्यर्थः  
 कधिद्धातुः, यादुलकात् पूर्वैण वनिन्, गच्छन्त्यस्मिन् देवादय  
 इत्यध्या । 'अधिर्गतिक्रियात्'—इति माधयः । यद्वा, अध्या  
 मार्गोऽस्मिन् विद्यते मत्वर्थीयस्य लुक् सन्ति हाकाशे  
 मेघपथादयः । 'अतेर्धध'—इति भोजसूत्रम् । 'अत सातत्यगमने  
 (भू० प०)' । सततं गच्छन्त्यत्र सूर्यादय इत्यध्या । "भूमा रेजन्ते  
 अध्यनि प्रविके (ऋ० सं० ६, ५०, ५)" — "भममने अध्यनि वृजिने  
 पधि (ऋ० सं० ६, ४७, १३)" —इति निगमो ॥

(१३) पुष्करम् । 'पुप पुष्टी (म्या० प०)' । 'पुपः कित् (उ०  
 ४, ४)'—इति करन्प्रत्ययः । पुपिश्चान्तर्णीतप्यर्थाः, पोष्यति  
 भूतानि अधकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च । 'पुष्कं वारि  
 राति पुष्करम्'— इति क्षीरस्वामी । पुपेश्चान्तर्णीतप्यर्थात् 'सृष्टृ-  
 शुभियुधिभ्यः कित्'—इति विहितः करन्प्रत्ययो यादुलकाद्  
 भवति । 'हृदृहृस्पूर्वीचीपुपिमुपिमृड्शूभ्यः कित्'—इति करुः  
 श्रीभोजदेशः । पोष्यति भूतानीति । पुष्कोपपदाद्वातेः 'आतो-  
 ... कः (३, २, ३)' । यद्वा, वपुस्तियुदकनाम (निघ० १, ११)

सत्कर्तुं शीलमस्येति 'हृजो हेतुताच्छीत्यानुलोम्येषु (३, २, २०)'  
—इति टः, घपुष्करं सद् घकारलोपेन पुष्करम्, पृषोदरादिः ।  
“विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ( ऋ० सं० ७, ३३, ११ )” —इति  
निगमः ॥

(१४) सगरः । सहशब्दपूर्वात् 'गृ निगरणे ( तु० प० )'—  
इत्यस्मात् 'ऋदोरप् ( ३, ३, ५७ )', सहस्य सभावः ( ६, ३, ७८ ) ।  
सह गिरन्त्यस्मिन् स्थिता आदित्यरश्मयो भौमरसमिति सगरः ।  
सह उदुगिरन्त्यस्मिन् स्थिता मेघा घर्षोदकमिति घा । यद्वा, गीर्यन्ते  
अम्पयङ्गियते विद्यते इति गरः उदकम्, तेन सह घर्षन्ते इति  
सगरः । तथाच 'रश्मयश्च देवा गरगिरः'—इत्यत्र गृ (रा)-  
हृदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति गरगिरः'—इति भाष्यं कृतवान् ।  
यद्वा, 'गृ शब्दे ( ष्या० ष्या० प० )'—इत्यादि । गीर्यन्ते इति  
गरः शब्दः पूर्ववत्, गरेण शब्देन सह घर्षन्ते इति सगरः,—  
आकाशो हि स्वगुणेन शब्देन सहैव सर्वदा घर्षन्ते । “अपः प्रेरयं  
सगरस्य बुध्नात् ( ऋ० सं० १०, ८६, ४ )” —इति निगमः ॥

(१५) समुद्रः । समुद्रवन्ति सङ्गता उद्धर्षं द्रपन्ति गच्छन्त्य-  
स्मादापो रश्मिभिर्गट्टप्यमाणा आदित्यमण्डलम् । समुन्पूर्वान्  
द्रवतेर्गत्यर्थान् 'अभ्येष्वपि दृश्यते ( ३, २, १०१ )' —इति अपादाने  
इप्रत्यये शिबोपे न रूपम् । यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो  
भौमरसलक्षणा घापुना प्रेर्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा  
घर्षाकाले रश्मिभिः प्रघर्षमानाः । अथ उदित्येव उपसर्गोऽर्भात्यर्थे  
घर्षन्ते, फर्षणि इप्रत्यय इति विशेषः । सम्मोदन्नेऽस्मिन् भूतानि



अन्तरिक्षनामीर्नामि वा । सम्पूर्वात् 'गुर हरे (५० प्रा०)'—इत्य-  
 म्नात् 'एकायिनश्चिञ्चि (३० २, १२)'—इत्यादिना अधिकरूपे  
 र्क्प्रत्यये, नामो मलोपे च रूपम् । यदुया, 'सम्'—इत्येकीमाये,  
 उक्तात् उच्यन्ते, नो मन्वर्थायः । एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते  
 कर्माणि उदकान्दसोऽनुभाषश्छान्दसः । यदुया, सम्पूर्वात् 'उन्दी  
 हरे हरे (५० प्रा०)'—इत्यमनात् 'एकायिनश्चिञ्चि (३० २, १२)'  
 —इत्यादिना कर्त्तरि र्क्प्रत्यये किरघाञ्छ्लोपे च समुद्रः । समुनत्ति  
 पर्वेण भूयन् समुद्रः । 'एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश (ऋ०  
 सं० ८, ६, १६, ४)'—इति निगमः ॥

(१६) अध्वरम् । अध्वा व्याख्यातः (४८ पृ०) । अध्वानं  
 मार्गं राति ददाति (अदा० प०) स्वस्मिन् गच्छतां पश्यादीनाम् ।  
 यद्वा, अध्वा मार्गो विद्यतेऽस्मिन् मेघादीनाम् । रो मत्वर्थीयः ।  
 यद्वा ध्वरतिर्हिंसाकर्मा (निघ० २, १६), तन्प्रतिषेधः । अध्व-  
 त्त्वं न हिंस्यमित्यर्थः । नञ्पूर्वात् ध्वरतेः 'पुंसि संज्ञायां घः  
 प्रायेण (२, ३, ११८)'—इति घः । "शिशू कालन्तो परि यातो  
 अध्वरम् (ऋ० सं० ८, ३, २३, ३)"—इति निगमः । 'अध्वरं  
 यज्ञम्'—इति स्कन्दस्वामी व्याख्याति, तदा निगमोऽन्वेषणीयः ॥  
 इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्वः (१) । पृश्निः (२) । नाकः (३) ।  
 गौः (४) । विष्टप् (५) । नभः (६) । इति  
 षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

स्वरादीनि षट् तु माष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च हृतव्याख्यातानीति नास्माभिरश्रोच्यन्ते ॥ ४ ॥

खेदयः (१) । किरणाः (२) । गावः (३) ।  
रश्मयः (४) । अभीशवः (५) । दीधितयः (६) ।  
गभस्तयः (७) । वनम् (८) । उस्त्राः (९) ।  
वसवः (१०) । मरीचिपाः (११) । मधूखा (१२) ।  
सप्तऋषयः (१३) । साध्याः (१४) । सुपर्णाः (१५) ।  
इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

खेदयः । 'तेषामादितः साध्याख्याति पञ्चाश्वरश्मिभिः ( नि २, १५ )'—इत्युक्तेः पूर्वमादित्यरश्मिनामानन्तमश्वरश्मिनाञ्च निर्वचनं प्रदर्शयते । 'खिद् द्विन्ये' द्विधादिः रुधादिश्च आत्मनेपदी, 'खिद् परिधाने तुदादिर्मुखादिः परस्मैपदी । 'अकर्त्तरि चकारके सभृतायाम् ( ३, ३, १६ )'—इति घञ् । विद्यते पित्ते वाऽनया, लोको, घर्मकाले, अश्वो यन्धनकाले । यद्वा परिहन्यन्ते सर्वतो हिम्यन्ते अनया लोक आदित्येन, अश्वो यन्धनकाले । यद्वा, अनेकार्थत्वात् घानृतां गिदिः खेदने घत्तने । तथाच 'खेदन् छेदतम्'—इति माष्यः । अस्मात् पचाद्यचि ( ३, १, १३, ४ ) खेदति छिनत्ति नाशयति तमः । तथाहि 'द्वौपरिष्ठप्रः'—इत्यादौ छिदिनांशने इष्टः, घञि छिद्यतेऽश्वोऽनयेति खेदा अश्वरश्मिः ।

गृहीतं कृत्वा नामस्य पादो मगादृष्टः । 'भरुणा त्रिवृता दिक्-  
( ऋ० सं० १, ५, १५, ३ )'—इत्यम्बरश्मेर्निगमाः, आदित्यरश्मे-  
श्चेर्णाथः ॥

(२) किरणाः । 'कृ विरोपे' तुदादिः (प०), 'कृम् हिसायाम्'  
मपादिः (प०) । 'कृगृत्तमग्निधाम्भ्याः षयुः (उ० २, ७६)'—  
इति षयु-प्रत्ययः । किरन्ति तापम्, एकत्रोप्यन्ते, इतरत्र  
वन्धनं । पर्यन्ते वा, आदित्येन दिङ्मुखेषु, अश्वघालेना-  
श्वप्रीयादिषु । यदा, हृष्यन्ति हिसन्ति तमः, हिम्यन्त एभिरुद-  
किरणाः । 'मिया इल्हातः किरणा नैजन् (ऋ० सं० १, ५, ४, १)"  
—इति निगमः आदित्यरश्मेः । "रेणुं रेरिहन किरणं ददध्वान्  
( ऋ० सं० ३, ७, १२, १ )" —इत्यम्बरश्मेः ॥

(३) गायः । ध्यास्यातः पृथिवीनामसु ( १, १ ) । गच्छन्ति  
सर्वतस्तमो विहन्तुं, भौमं रसं वा हत्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते  
स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरुवपालैश्च । "यत्र गावो भूरिशृङ्गा  
अयासः ( ऋ० सं० २, २, २५, ६ )" —"को अद्य युद्धे घुरिगा  
प्रुतस्य ( १, ६, ८, १ )" —आदित्यरश्मेर्निगमो । अम्बरश्मेरन्वे-  
र्णाथः ॥

(४) रश्मयः । 'रशिर्यमनाथो धानुः (सौ०)' । 'नियोमिः (उ०  
४, ४३)'—इति विर्धयमानो मिप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति ।  
रशना रश्मिरिति कतिपयप्रयोगविषय एवायं रशिः, भरत्या-  
दिवन्, न सर्वत्र, वन्धनप्रतीतिः । वध्नन्त्युदकमथवा वध्यते  
तैरुदकमथो वा । यद्वा, 'अशू ध्याती ( स्या० आ० )' । 'अशेरश

। ( उ० ४, ४६ )—इति मि-प्रत्ययो रशादेशश्च । अधुघते सर्वे  
 णत् अश्वप्रीचादि चा रश्मयः । “सूर्यस्येव रश्मयो द्रावपिघ्नयो  
 ऋ० सं० ७, २, २२, १” —“विरश्मयोजना” अणु ( ऋ० सं०  
 ४, ७, ३ )—इति आदित्यरश्मेर्निगमौ । “मनः पश्चादनु यच्छन्ति  
 रश्मयः ( ऋ० सं० ५, १, २०, १ )” —“ते रश्मिभिस्तद्भ्रुक्रमिः  
 खाद्यः ( ऋ० सं० १, ६, १३, ६ )”—इति चाश्वरश्मेः ॥

(५) अभीश्रावः । अभिपूर्वात् ‘अशू व्याती ( खा० आ० )—  
 यस्मात् ‘भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः ( उ०  
 ७ )’—इति उपत्ययो बाहुलकाद् भवति धात्ववयवस्याका-  
 पेकारश्च । जम् । अभि व्याप्नुवन्ति जगदश्वप्रीचां चा । यदुषा,  
 भेपूर्वात् ‘ईश ऐश्वर्ये ( अदा० आ० )’—इत्यस्मात् पूर्ववदु-  
 षयः । ईष्टे सूर्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अश्वपालोऽश्वं बद्धुम् ।  
 भीशूनां महिमानं पनायत ( ऋ० सं० ५, १, २०, १ )—  
 श्वरश्मेर्निगमः । आदित्यरश्मेरन्वेषणीयः ॥

(६) दीधितयः । पतदादीन्यादित्यरश्मिनामान्येव । ‘दीधिङ्  
 तेदेवनयोः ( अदा० आ० )’ ‘क्विचूकौ च संज्ञायाम्  
 ७, ३, १७४’—इति क्विचि पृषोदरादित्वादेव ( ६, ३,  
 ६ ) यथाकथञ्चिदुपसिद्धिरुभेया । धीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते  
 हरणादिकर्मस्वादित्येन, धार्यन्ते चा धर्षार्घ्यमुदकमेमिरा-  
 येन तथा । ‘अघास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम्  
 , १०’—इति निहक्तम् । ‘न चा स धूर्तं गर्भं भास्करस्य  
 स्तिभिः । परित्वा रसं समुद्राणां यीः प्रसूते रसायनम्’—

इति भूःशब्दात्तम् । "गुर्नानन्दः/विनिगुर्भसागः ( ऋ०  
३, ४, ११, १ )"— इति निगमः । 'दीपिति इतिमिष्यार्थः'—  
( ११, १० ) वात्रगमेपभाष्यहनुषटोऽभाषयत् ॥

(७) गभस्तयः । गो शब्दपूर्वाद्गत्तर्णोत्पद्यमान् 'भ  
भाष्यार्थयोः ( गु० प० )'—इत्यस्मान् पूर्ववत् किर्चीडभाष्ये  
न पूर्वादिवात् गो-शब्दस्याकारान्तादेशः । गां भूमिः  
भाष्यन्ति दीपयन्ति । यद्वा, गवि संसर्गे दीप्यते । यद्वा,  
यमस्तिरत्तिकर्मा ( निघ० २, ८० ) । गामुदकं भौमगमलक्षणं  
यमसति अदन्ति । यद्वा, 'भसेर्गद् च'—इति भोज-सूत्रेण  
तिप्रत्ययः धातोर्गडागमश्च, यमसति दीप्यन्ते इति गभस्तयः ।  
'गृहेर्गभस्तिः'—इति माधवः, तदा पूर्वसूत्रेण तिप्रत्यये धातोरसु-  
गागमः, 'ह्रप्रहोर्भश्छन्दसि ( सि० कौ० वै० ३ आ० )'—इति  
निर्वाहः, गृह्णन्ति भौमं रसम् । "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो  
( ऋ० सं० ७, ३, १८, ४ )"—"वृष्णो अ३ शुभ्यां गभस्तिपूतः  
( य० घा० स० ७१ )"—इति च निगमौ ॥

(८) वनम् । "वन पण समभक्तौ" भूवादिः परस्मैपदी । 'पुंसि  
संज्ञार्या घः ( ३, ३, ११, ८ )' । वन्यते सेष्यते शीतादिनिवारणाय ।  
अथवा वनतिर्हिसार्थः ( भू० प० ) । वन्यते हिंस्यतेऽनेन तमः ।  
यद्वा, "वनु याचने" तनादिरात्मनेभाषा । वन्यते याच्यते वृष्टि-  
प्रदानाय । यद्वा, 'वन शब्दे' भूवादिः परस्मैपदी । वन्यते शब्दुयते  
स्तूयते स्तोतृभिः । "अवुञ्जे राजा वरुणो वनस्य ( ऋ० सं० १,  
२, १४, २ )"—इति निगमः । 'वननीयस्य तेजसः'—इति माधवः ॥

(९) उष्णाः । 'वस निवासे (भू० प०)' । "स्फादितञ्चिचञ्चि (उ० २, १२)"—इत्यादिना रष्, अदादित्चाम् सप्तसारणं वाहुल-  
कात्, 'शासिषसिषसीनाथ (८, ३, ६०)'—इति पत्वात्मावः ।  
वसत्येषु परतेजः वसन्त्येषु रसाः इति वा । यद्वा, उत्पूर्वात्  
'द्युगर्तो ( भू० प० )'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सद्भ्राजाम् ( ३, २,  
६६ )'—इति जनेर्विधीयमानो उपत्यो वाहुलकाद् भवति, उदोऽन्त-  
लोपश्च । उत्प्रवन्ति ऋभ्यो रसाः । "उष्णा इव स्वसराणि  
( ऋ० सं० १, १, ६, २ )" —इति निगमः ॥

(१०) वसवः । 'वस निवासे ( भू० प० )', 'वस आच्छादने  
(अदा० आ०)' । 'वृष्ट्वृञ्चिहित्रप्यसिचसिहनिह्रिदियन्त्रिमनिभ्यश्च  
(उ० १, १०)'—इति उ-प्रत्ययः । वसन्ति लोकेषु, वसन्त्यत्र  
रसाः, वसत्यत्र परं तेजः, आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या,  
विचासयति वा तमः । "बहुलमन्यत्रापि समृद्धाच्छन्दसोः  
( ६, ४, ५१ वा० )' —इति मिलुक् । वासयितापो वा लोकानां  
वृष्ट्यादिप्रदानेन । "उमया अत्र वसवो रन्त देवाः ( ऋ० सं०  
५, ४, ६, ३ )" —"सुगावो देवाः सदाना अकर्म य आङ्गमुः, सवन-  
मिदं जुषाणाः । जेक्षिवांसः पपिवांसश्च विःवस्मै धस वसवो  
वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)" —"हिङ्कण्वती वसुपत्नी वसूनाम्  
(ऋ० सं० २, ३, १६, २)" —इति च निगमाः ॥

(११) मरीचिषाः । 'मृद्वाणत्यागे (तु० आ०)' । मृकणित्वा-  
मीचिः (उ० ४, ७०)—इति ईचिः प्रत्ययः । प्रियते तमोऽसिन्निति  
मरीचिः रश्मिः । अत्र मरीचिशब्देन मरीचिमान् सूर्यं उच्यते,

मरुधोयस्य लुक् साहचर्याद् भाव्यते, मरीचिमत्सूर्यम  
 पान्ति मरीचिपाः, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' । "देवेभ्यः  
 मरीचिभ्यः ( य० वा० सं० ७, ३ )" —इति निगमः ॥

(१२) मयूखाः । 'डु मित्र् प्रक्षेपणे ( स्त्रा० उ० )' । अस्म  
 'मुहेः खो ड्यूद् च ( उ० ४, २२ )' —इति विधीयमानः स्वप्रत्यय  
 षादुलकाद् भवति, ड्यूडागमश्च प्रत्ययस्य षादुलकादेशः । मित्त्व  
 न्ति तमः मयूखाः । स्वप्रत्ययाधिकारे 'मयैरुद् च' —इति  
 श्रीभोजदेवः । मयतिर्गत्यर्थः ( भू० आ० ) । गच्छन्ति सर्वलोकेषु  
 मयूखाः । "दाघर्थं पृथिवी ममितो मयूखैः ( ऋ० सं० ५, ६, २५, ३ )" —  
 इमे मयूखा उपसेदुरं सदः ( ऋ० सं० ८, ७, १८, २ ) —इति  
 च निगमौ ॥

(१३) सतस्यः । 'सप्त सृता संख्या ( निरु० ४, २६ )' —  
 इत्युक्तेः सृतेर्गत्यर्थान् 'सप्तशृभ्यां तुद् च ( उ० १, १५५ )' —  
 इति सप्तेर्विधीयमानः कनिन् प्रत्ययानुडागमश्च षादुलकाद्  
 भवति ऋकारस्याकारश्च । षड्भ्यः सकारान् सृता संख्या सप्त ।  
 'ऋष गतौ ( तु० ५० ), भवेत्कार्यस्याडातूनां दर्शनार्थः । 'इगुपधान्  
 ( उ० ४, ११६ )' —इति इत् प्रत्ययः । ऋषयः द्रष्टारः । सत-  
 संख्याकाश्च नै ऋषयो द्रष्टाश्च शैलोपशम्येति सतस्यः ।  
 'ऋष्यकः ( ६, १, २०८ )' —इति प्रकृतिभाषः । "सत युञ्जति  
 ऋष्येकानकम् ( ऋ० सं० २, ३, १४, २ )" —इत्यत्र 'मत्त आदित्य-  
 ऋष्यकः ( ५, २६ )' —इति यदन्ति नैरुक्ताः । यद्वा, 'ष्य ऋष्ययो  
 ( तु० ५० ), 'सप्तशृभ्यां तुद् च ( उ० १, १५५ ), —इति कनिन्

प्रत्ययस्तुडागमश्च । समवेताः सत, ऋषिरपि गत्यर्थ एव  
प्रत्ययः । समवेता गच्छन्ति दिङ्मुक्तानि सतर्षयः । “यत्रा  
सत ऋषीन् पर एकमाहुः ( ऋ० सं० ८, ३, १७, २ )”—“सत  
ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ( य० वा० सं० ३५, ५५ )”—अत्रासत  
ऋषयः सत साकम् ( अथ० सं० १०, २६, ६ )”—इति  
निगमाः ॥

(१४) साध्याः । ‘राध साध संसिद्धौ ( खा० दि० प० )’ ।  
‘अहहलोर्ण्यन् ( ३, १, १२४ )’—इति ष्यन् प्रत्ययः, ‘वृत्त्यत्युटो  
बहुलम् ( ३, ४, ११३ )’—इति कर्त्तरि भवति । ‘रसाहरणादिकं  
स्वयापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति—इति स्कन्दस्वामी ।  
साध्यन्ते आराध्यन्ते साध्याः—इति क्षीणस्वामी, अत्र यथाप्राप्तो  
ष्यन् । “यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ( ऋ० सं० २, ३, २३,  
४ )”—इति निगमः ॥

(१५) सुपर्णाः । सूप्सृष्टान् ‘पृ पालनपूरणयोः ( जु० ष्या०  
प्या० प० )—इत्यस्मान् ‘धापृषस्यस्यञ्चनिभ्यो नः ( उ० ३, ६ )’—  
इति नप्रत्ययः । ‘पर्णं पतनेः पूणातेः प्रीणानेः वा,—इत्यष्टादशा-  
ध्यायदृष्टत्वान् पन्-धातोः यादुलकान् नप्रत्ययः लकारस्य  
रेफादेशश्च । प्रीणातेरीकारस्य अकारादेशः स च पकारान् परः ।  
शोभनं पूणन्ति पालयन्ति जगन् शान्तादिनिवारणान्, अथवा  
पूरयन्ति वा वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेवामिति धा, सुष्टु  
प्रीणन्ति तर्षयन्ति जगन् धर्षप्रदानेनेति धा सुपर्णाः । यद्वा,  
सुर्मत्त्वर्षाः, भावे च न प्रत्ययः । पतनादिमन्तः सुपर्णाः ।



ताभ्याम्—‘दृष्टुषदेम विदधो सुर्पागः ( ऋ० सं० २, ६, ६, ६ )’—  
 इत्यत्र ‘वीरघन्ताः षल्याणर्घारा वा (निघ० १, ७)’ । अष्टादशाध्याये  
 न ‘सुपर्णं विवाः ( ऋ० सं० ८, ६, १६, ५ )’—इत्यत्र ‘पर्णवन्त  
 षल्याणपर्णं वा,—इति चेति सुमन्वये यदुरां दृष्टः । “यत्रा  
 सुपर्णा भमृतम्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)”—“घयः सुपर्णा  
 उप सेदुस्त्रिन्द्रम् ( ऋ० सं० ८, ३, ४, ६ )”—इति च निगमौ ॥  
 रश्मिनां प्रायो यदुघचनान्तत्वेन दृष्टत्वात् रश्मिनामाभि-  
 प्रायेण यदुघचनान्तानि पठितानि । एषां दिङ्नामस्यपि द्रष्टव्यम् ॥  
 इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आताः (१) । आशाः (२) । उपराः (३) ।  
 आशाः (४) । काशाः (५) । व्योम (६) ।  
 ककुभः (७) । हरितः (८) । इत्यष्टौ दिङ्ना-  
 मानि ॥६॥

(१) आताः । आङ्पूर्वादितेर्गतिकर्मणः (भू० प०) ‘अकर्त्तरि  
 च कारके ( ३, ३, ६२ )’—इति घञ् आभिमुख्येन गम्यन्ते  
 प्राणिभिस्तं तं कार्यं प्रति । यद्वा, आङ्पूर्वात् तनोतेः ‘उपसर्ग  
 च सञ्ज्ञायाम् ( ३, २, ६६ )’—इति जनेर्धिर्धायमानो डप्रत्ययो  
 यदुघचनाद्भवति । आतताः आताः । “ऋजन्त्याताः सुस-  
 म्मृष्टास्तः ( ऋ० सं० ३, ३, ७, ६ )”—“उदातैर्जिह्वते वृहदुवारो  
 ( ऋ० सं० ६, ७, २४, ५ )”—इति निगमौ ॥

(२) आशाः । आङ्पूर्वात् 'शङ्लृ शान्ते ( भू० प० )—  
इत्यपमत्र गत्वर्थः, अनेकार्थत्वाद्गुप्रतुताम् । पूर्ववद्ः । तं  
तमर्थं प्रत्यागमनान् । यद्गुचा, आ इत्येपीऽभीत्यस्यार्थं वर्त्तते ।  
'अशा व्याती ( स्त्रा० आ० )'—इत्यस्मात् घञि रूपम् । आशा  
उपदिशा भवन्त्यभ्यशनात् परस्परादिभिः संख्याप्तेः । 'अः  
अशुवने आशाः'—इति क्षीरस्वामी । अत्र पचाद्यच् ( ३, १,  
१३४ ) । "इन्द्र आशाभ्यस्परि ( ऋ० सं० २, ८, ६, २ )"—  
इति निगमः ॥

(३) उपराः । उपरमन्ते आस्त्रभ्राजि प्राणिनो वा स्वस्त्र-  
व्यापारेभ्यः । पूर्ववत् ङः । "उपहरे यदुपरा अपिन्वन्  
( ऋ० सं० १, ५, २, १ )"—इति निगमः । "तमस्य पृक्षमुपरासु  
र्धमहि ( ऋ० सं० २, १, १२, ५ )"—इत्यत्र दिग्वाची न  
वेति चिन्त्यम् ॥

(४) आष्टाः । आङ्पूर्वात् तिष्ठतेः ( भू० प० ) घातोर्ध्वञ्च  
फविधानम् । 'स्थान्नागापाथ्यधिहनियुध्यर्थम् ( ३, ३, १६ म०  
भा० )'—इति फप्रत्ययः । सुषामाङ्त्वात् ( ८, ३, ६८ ) पठ्यम् ।  
आ समन्तान् स्थाप्यते आसिः । निगमोऽन्वेषणार्थः ॥

(५) काष्ठाः । काष्ठा दिशो भवन्ति ( निह० २, १५ )—  
इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'क्रान्त्या सर्वमर्तास्य स्थिताः आकाशावद्गु-  
ध्यतिरेकपक्षे । अत्रतिरेकेऽपि त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति  
संस्थिताश्चेति । उपदिशोऽप्येवमेव । ध्यतिरेकेऽपि इतरेतरापे-  
क्षया परत्वापरत्वघन् सर्वत्र व्यचहारोऽस्तित्यमिति' । क्रान्त्या-

शब्दात् पूर्वार्द्धं स्थिताशब्दादुत्तरार्द्धमित्यर्थः । पृषोदरादि-  
 यैयाकरणपक्षे तु 'काशु दीर्ता ( भू० आ० )' । 'हनिकुपिनी-  
 मिकाशिभ्यः कथन् ( उ० २, २ )'—इति कथन् प्रत्ययः । 'तितु  
 प्रतथसिसुसरकसेषु च ( ७, २, ६ )'—इति इड्भावः । काशन्ते  
 दीप्यन्ते काष्ठाः "नरस्त्वां काष्ठाभ्यर्धतः ( ऋ० सं० ४, ७, २७,  
 १ )"—इति निगमः ॥

(६) ध्योम । ध्याख्यातमन्तरिक्षनामसु ( ३ ) । स एवार्थो-  
 ऽत्रापि । परिर्वीता वायुना । 'पवमानो हग्नि आ विवेश  
 ( ऋ० सं० ६, ७, ८, ४ )'—इति ध्रुतिः । यदुवा, विविधमोम-  
 मधमस्मिन् विद्यत इति ध्योम । 'ओमानमापोमानुर्वाग्भृक्तम्  
 ( ऋ० सं० ४, ८, ६, २ )' इत्यथ 'अज्ञेर्वा ओमन्'—इति  
 माधयः । निगमोऽन्येर्णायः ॥

(७) ककुभः । 'ककुभ्नाति विस्तार्यतीति ककुभ'—इति  
 ह्निगस्वामी । 'ककुभ् कुभेरन्वृष्यायां उन्निष्ठा इय द्वि-  
 दिशो वृषाभे वृषाभ्यमानाः'—इति माधयः । येन प्रजापतिना  
 विस्तारिता इति या । सर्वत्र 'क्षिप्रचिप्रन्वृषायतन्तु  
 ( ३, २, १७८ पा० )'—इत्यथ 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिप्रसिद्धिः  
 ( म० मा० )' इत्युक्तेः वि. नि. पृषोदरादिव्याप्त रूपसिद्धिः ।  
 'यः ककुभो निघाग्यः ( ऋ० सं० ६, ३, २६, ४ )'—इति  
 निगमः ॥

(८) हलिः । 'हन् हर्णे' भूवादि. ( ३० ) 'ह प्रगाग कर्णे'  
 सुहोत्यादिः ( ३२ ) । 'हग्दहियुनिभ्यः ( ह्यवाभ्यामिन् । ३०

३, १० )—इति इतिः । हरन्ति जहति वा धासु स्थिताधीगद्यो  
धनादिकम् । 'हृन्त्याभिः'—इति क्षीरस्वामी । "पयमानो हरति  
आ विदेश ( ऋ० सं० ६, ७, ८, ३ )"—इति निगमः ॥ 'वायुरेव  
दितो हरति धाविष्टं'—इत्युपनिषत् ( ऐ० शा० २, १ ) ॥

इत्यर्थो दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

श्यावी (१) । क्षपा (२) । शर्वरी (३) ।  
अक्तुः (४) । उर्म्या (५) । गम्या (६) । यम्या (७) ।  
नम्या (८) । दोषा (९) । नक्ता (१०) ।  
तमः (११) । रजः (१२) । अस्मिन्ना (१३) ।  
पयस्वती (१४) । तमम्बती (१५) । घृताची (१६) ।  
शिरिणा (१७) । मोर्का (१८) । शोर्का (१९) ।  
उषः (२०) । पयः (२१) । हिमा (२२) ।  
पर्या (२३) । इति त्रयोविंशतीनामिनामानि  
॥ ७ ॥

(१) श्यावीः । इषेह कर्ता (पु० भा०) । इत्यर्थोऽप्या च (उ० १,  
१५०) इति निर्विकल्पको वस्तुत्वयो वादुक्त्याद भवति ।  
श्यावने गच्छति अन्धवमिति । श्यावो धूमगम्यो वपुः,  
अहः गम्यादिदृष्ट्या श्याववर्त्ता इति श्यावी, 'अन्धो

डीप् ( ४, १, ४० ) । “श्यावी च यदरुपी च स्वसारौ ( ऋ सं० ३, ३, ३०, १ )”—इति निगमः ॥

(२) क्षपा । ‘क्षप्यते सूर्य्यंचारेण क्षपा’—इति क्षीरस्वामी ‘क्षप् प्रेरणे,’ ‘क्षपि क्षान्त्याम्’—इति कथादिषु पठितोऽपि बहुलमेतन्निर्दानमित्यस्योदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते । ‘क्षपे क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेन्’—इति दैवम् । ‘क्षपः क्षपयतेर्निशा’—इति च माध्यमः । क्षपा-शब्दोऽन्तोदात्तो रात्रिनाम, आद्युदात्तन्तु क्षपणवचनः । “नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ( ऋ० सं० ७, ७, २२, १ )”—इति निगमः । “त्वमिदसि क्षपावान् ( ऋ० सं० ६, ५, ११, २ )”—इति क्षपणवचनः ॥

(३) शर्शरी । ‘शृ हिमायाम् ( ऋया० प० )’ । ‘कृशाशृष्-  
चतिभ्यः प्यरच् ( उ० २, ११५ )’ । शिरघान् ( ४, १, १५ )  
डीप् । शृणानि चेषाम्, शर्शो हि स्वस्वव्यापारेभ्यः उपा-  
मन्ने प्राणिनः, शर्शर्यन्ने चाभ्यां प्राणिनो नक्तक्षरैः । “अ-  
प्यन्दन्ति शर्शरीः ( ऋ० मं० ४, ३, ८, ३ )”—इति निगमः ॥

(४) भक्तुः । ‘भक्तु व्यक्तिस्रक्षणकान्तिगतिषु ( ऋ० प० )’ ।  
‘पः क्विष् ( उ० १, ६८ )’—इति विधीयमानः नुप्रत्ययः क्विष्पञ्च  
बाहुल्यकाद् भवति । ‘पाञ्चनृभ्यः क्तुः’—इति क्तुविति धर्मो-  
ज्ज्ञेयः । ‘अनिदिताम् ( ६, ४, २५ )’—इति नक्तोपः । भक्तवन्  
मिच्यन्तेऽभ्यामवश्यायेन जगत्, गच्छन्ति वा प्रतिदिनम् भक्तुः ।  
“विशामन्तोऽवसः पूर्वाह्नौ ( ऋ० मं० ५, ५, ६, २ )”—इति  
निगमः ॥

(५) ऊर्मा । 'ऊर्णुञ् आच्छादने (अदा० उ०)' । 'ऊर्णोतिर्णलो-  
( उ० १, २६ )'—इति मिप्रत्ययः—इति केचित् । 'अर्त्तुरुञ्च  
( ४, ४३ )'—इति मि-प्रत्ययः—इतिकमल्लनयनः । ऊर्मिः तमः-  
त्वात्, आच्छादकत्वात् लोकस्य । 'तमर्हति ( ५, १, ६३ )'  
'दसि च ( ५, १, ६७ )'—इति यत् प्रत्ययः । "इन्द्राय नक्त-  
र्माः सुवाचः ( ऋ० सं० ६, ६, ३२, १ )"—इति निगमः ॥

(६) राम्या । 'रमु क्रीडायाम् (भू० आ० )' । अन्तर्णीतप्यर्थात्  
कार्यविशिष्टादस्मात् 'वृत्त्यन्वुटो बहुलम् ( ३, ३, ११३ )'—इति  
व्यञ्जनान् 'पोरदुपधात् ( ३, १, ६८ )'—इति यत् षाधित्वा  
इलोप्यत् ( ३, १, १२५ ) भवति, 'अचोऽङिति ( ७, २, १६५ )'  
इति वृद्धिः । परमयतिभूतानि नक्तञ्चराणि, उपरमयति  
राचराणि स्वय्यापारेभ्यः । माधयन्तु सर्वभूतानि रमयति ।  
राच कौपीनकिः—'ये वै के चानन्दा अन्ने पाने मिथुने राध्या  
ते सन्तता अवच्छिन्नाः क्रियन्ते, तेषां रात्रिः कारौनरः'  
इति । 'अधोरामः सावित्रः (य० धा० सं० २६, ५८)"—इत्यत्र  
तः कृष्णोदरः—इति भाष्यम् । 'रामधारी सितेऽसिते'—इति  
व्यञ्जयन्ती । तस्माद्रामशब्दः कृष्णपर्यायः । स्वाश्रये रमते रामः  
इति कसन्तेभ्यो णः ( ३, १, १४० ) । 'तदर्हनि ( ५, १, ६३ )',  
'दसि च ( ५, १, ६७ )'—इति यत् । 'अहृद्य कृष्णामहरर्जुनं च  
( १० सं० ४, ५, ११, १ )'—इति ध्रुतिः । यद्वा, रमणं रामः ।  
'रमञ् ( ३, ३, १८ ) । स्त्रीभिः सह क्रीडा रामः । 'तत्र साधुः  
( ४, ६८ )'—इति यत् । "सहयान उपसो राम्या अनु ( ऋ० सं०

२, ५, २१, ३)”—इति “भाषिर्भेता भद्रानोदाभ्याणाम् ( सू० सं

३, २, १५, ३ )”—इति च निगमौ ॥

(७) गम्या । ‘गम उपगमे ( भू० प० )’ । भज्याद्गम्य ( उ०  
४, १०८ )—इति यच्प्रत्ययान्तो निरान्यने । उपरमयति प्राणिनां  
शेषः । भगवः ‘गय्मद्वनरपमभानुपरगौ ( ३, १, १०० )’—इति  
यन्कारोऽपि पादुस्त्रेण । यद्गया, यमनीया उपरमयितव्या भादित्य-  
घारेणेति यथाप्रानो यन् निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) नम्या । (९) क्षोया । (१०) नका । (११) तमः । (१२)  
रजः । (१३) भसित्री ॥

(१४) पयस्वती । पयोऽस्या भस्तीति । ‘अम्मायामेधाश्रजो  
चिनिः ( ५, २, १२१ )’ । ‘यदुलं उन्दसि ( ५, २, १२२ )’—इत्युक्ते-  
र्मतुपि पद्वे च ‘उगितश्च ( ४, १, ६ )’—इति ङीप् । ‘तसौ मत्वर्थे  
( १, ४, १६ )’—इति भसभ्रजाविधानान् स्वचं न भवति । निगमोऽ-  
न्वेषणीयः ॥

(१५) तमस्वती । ताम्यन्त्यनेनेति ( दि० प० ) तमोऽन्वकारं  
तेन तदुपती । पूर्वाच्चत् प्रष्टव्या । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) घृताची । ‘घृ क्षरणदीप्त्योः ( चु० प० )’ ‘गृ घृ सेचने  
( भू० प० )’ । ‘अञ्जिघृषिभ्यः कः ( उ० ३, ८६ )’—सेचयत्यनेन  
भूमिं पर्जन्याः, क्षरति मेघात् दीप्तं घा स्वने तेजसा देवतात्वादिति  
घृतमश्रावश्यायलक्षणं जलम्, तदञ्चति । अश्चिगद्भृक्स्वग्दिगु-  
षिगान्यु युजिकुञ्जाञ्च ( ३, २, ५६ )— इति अञ्चनेर्गत्यर्थात्  
( भू० प० ) किंनि ‘अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )’—इति नलोपे, ‘अचः

(६, ४, १३८) — इत्यकारलोपे, चो (६, ३, १३८) — इति दीर्घे,  
 'अञ्जनेभ्योपसहस्रानम् (४, १, ६ वा०)' — इति ङीप्, घृताचीति ।  
 निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) शिरिणा । शीङः (अदा० आ०) अन्तर्गोतण्यर्थात्  
 'बहुलमन्यप्राणि (उ० २, ४६)' — इति इत्च्प्रत्यये रुद्रागमोधातो-  
 र्हसञ्च । शाययति प्राणिनः शिरिणा । शाययेद्भिदोति मायवः ।  
 "शिरिणायां चिदनुनामहोभिः (ऋ० सं० २, ६, २, ३)" — इति  
 निगमः ॥

(१८) मोक्षी । 'मुच्छृ मोक्षणे (तु० उ०)' । 'इत् सर्वा-  
 धातुभ्यः (उ० ४, ११४)' — इति इनि षडुल्लकात् कुरचम् ।  
 'हृदिकारादकिनः (४, १, ४५ वा०)' — इति ङीप् । मुञ्चयस्याम-  
 षश्चार्थं मध्यमः, मुञ्चन्ति प्राणिनः स्वस्वव्यापारात् मोक्ष् ।  
 तदस्यामस्तीनि 'छन्दसीयतिषी च (५, २, १२२ वा०)' — इति  
 मत्वर्थीय ईकारप्रत्ययः, ध्यत्वयेन (३, १, ८५) हल्ङ्यादिलोपः  
 (६, १, ६८) । "अनुमत्तं सचिनुर्मौषयागात् (ऋ० सं० २, ८, २, ३)"  
 — इति निगमः ॥

(१९) शोकी । 'शुच् शोके (भू० ष०)', उचलतिकर्मा  
 (निघ० १, १७) वा । पूर्वचत् प्रक्रिया । शोचन्त्यस्यां चिरहिणः,  
 शोकस्तेजोऽस्या अस्तीति वा, 'अग्निना धी तेजसा रात्रिस्तेज-  
 स्वती' — इति ब्राह्मणम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) ऊषः । रात्रिनाम-निर्वाचनार्थप्रसिद्धं तावदुच्यते ।  
 मोक्षाय रुद्राणां अस्ति मायवोऽपि रुद्राणां चिदनुनामहोभिः



भवति ।- यद्वा, उपोन्नद्धमुपरि सृष्टमृदुध्वंमिव केनचित् । तत् स्नेहं रसानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूष उच्यते । यद्वा, 'उन्दी क्लेदने ( ६० प० )' । असुनि ( उ० ४, १८४ ), बाहुलकाश्रलोपे दकारस्य ध्रुवे दीर्घे च रूपम् । उनत्थयश्यायेन भूतानि । उनत्थूथः—इति क्षीरस्वामी । "यो अस्मै ध्रंस उत धा य ऊधनि ( ऋ० सं० ४, २, ३, ३ )"—"ऊधर्नं नग्ना जरन्ते ( ऋ० सं० ५, ७, १६, १२ )"—इति च निगमौ । ऊधनीत्यत्र छान्द-सत्यादनङ् ( ५, ४, १३१, —१४२ ) ॥

(२१) पयः । व्याख्यातं पयस्वतीत्यत्र, मत्वर्थोपस्य लुक् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(२२) हिमा । 'हग्नेर्हि च ( उ० १, १४४ )'—इति मक्प्रत्ययो हिरादेशश्च । हन्ति ( अदा० प० ) पमानीति हिमम्, अर्शादित्वा-दच् ( ५, २, १२७ ) । "शं भानुना शं हिमा जं घृणेन ( ऋ० सं० ७, ८, १३, ४ )"—इति निगमः ।

(२३) घर्मी । 'घस आच्छादने ( अदा० भा० )' । 'श्रुम्-छिहित्रप्यस्त्रियसि ( उ० १, १० )'—इति उ-प्रत्ययः । घस्ने आच्छा-दयने लोकमिति भयश्यायान्तमो घा, तदुपनी घतुः । 'छन्दसी-घनिषौ च ( ५, २, १२२ पा० )'—इति ईकारः 'घृषादीनाञ्च ( ६, १, १०२ )'—इत्यामुदात्तत्वम् । यद्वा, प्रशम्पयचनाद् घा-शब्दान् 'घोर्नोमुजययनात् ( ५, १, ४४ )'—इति शौन्, गर्शभूतरमज-त्यादात्वाः प्राशम्प्यम् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

इति त्रयोविंशतीतानि नामानि ॥ ७ ॥



माधयः । 'अन्येषामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः ।  
व्यत्ययेनावधारणाप्रायगृहणे । "ज्योतिर्गृणोति सूरी (सू० सं०  
५, ६, १, १)"—इति निगमः ॥

(३) भास्यती । 'भासु दीर्घौ ( भू० आ० ),' क्विप् । भासत  
इति भासः प्रकाशः । भासा, तद्धर्ता भास्यती 'तसौ मत्वष्टे  
( १, ४, १६ )'—इति भ-सञ्ज्ञया पदकार्यं क्त्वां न भवति  
भास्यती । "भास्यती नैत्री सूनृतानाम् (सू० सं० १, ८, १, ४)"  
—इति निगमः ॥

(४) ओदती । 'उन्दी क्लेदने ( रु० प० )' । उन्देल्लटः  
शतरि 'उन्दस्युभयथा ( ३, ४, १६७ )'—इति शतुर्वाद्धातुव  
त्येन विकरणाभावः; सार्वाधातुकत्वात् 'सार्वाधातुकमपि  
( १, २, ४ )'—इतिडिद्धभावात् 'अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )'  
इति न-लोपः, व्यत्ययेन गुणः 'उगितश्च ( ४, १, ६ )'—इति  
ङीप् । उन्त्यवश्यायेन ओदती । "पदं न वेत्योदती ( १, ४  
४, १ )"—इति निगमः ॥

(५) चित्रामघा । 'चित्र् चयने (स्वा० उ०)' । 'अमिचिमिमि-  
दिशंसिम्यः कूः (उ० ४, १५६)'—इति कू-प्रत्ययः, चित्रम् । मंघ-  
तिर्दानकर्मा ( निघ० ३, २० ), घञर्थे कविधानमित्यत्र परिगणन-  
स्योपलक्षणार्थत्वात् कप्रत्यये 'अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )'—इति  
न-लोपः, पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) घन्वम् । महान्ने दीयतेऽ-  
र्धिम्यः इति मघं घनम् चित्रमाश्चर्य्यं दूनं धनं यस्या इति चित्रा-  
मंघा, 'अन्येषामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः ।

सूर्यस्य योषा चित्रामया (ऋ० सं० ५, ५, २२, ५)—इति मः ॥

(६) अर्जुनी । 'अर्जं सर्जं अर्जने (चु० प०)' । अर्जेणिलुकि उन-  
ययः (उ० ३, ५५), अर्जति । यद्वा, 'अर्जं गतिस्नानार्जनेषु (भू०  
' । बाहुलकादुनन् । गम्यते तदर्थिभिः तिष्ठति स्वाश्रये । अर्जु-  
ति रूपनाम (निघ० ३, ७), तच्चात्रादित्यरश्मिसम्बन्धात् श्वे-  
अर्जुनी भवेता, 'अन्यतो ङीप् ( ४, १, ४० )', यद्वा, अर्जुन्व्यो  
: ता अस्याः सन्ति बाह्वन्त्येन मत्वर्थीय ईकारः, व्यत्ययेत  
त्यादिलोपः । "या गोमतीरूपसः सर्वं घीरा ( ऋ० सं० १,  
, ३)—इति ध्रुतिः । "द्विषपचतुष्पदर्जुनि (ऋ० सं० १, ४,  
)"—इति निगमः ॥

(७) घाजिनी । घाज इभ्यन्ननाम ( निघ० २, ७ ), घाजो  
र्भक्षणमभ्रमस्या अस्ति, 'अत इनिङ्गो ( ५, २, ११५ )—  
भ्यो ङीप् ( ४, १, ५ )' । यजमानेभ्यो यानि देवान्यन्नानि  
दुषती या । "यायचिन्द्रध चेतथः सुनातां घाजिनीयसू  
सं० १, १, ३, ५)"—इति निगमः ॥

(८) घाजिनीयती । घाजो यत्वं वेगो या तेन तद्वती घाजिनी,  
ती उपसः म्वभूता तेन तद्वती घाजिनीयती । यद्वा, घाजो  
ऋक्षणां भ्रम्राघम्या अस्तीनि घाजिनी यागसन्ततिः, तद्वती  
तीयती । यद्वा, घाजमन्नं तद्वती या घाजिनी, कासौ  
प्यभूतेनान्नेन तद्वती भ्रम्र संद्वतिः, तथा भ्रम्रसंहत्या तद्वती  
तीयती । यद्वा, द्वायेती मन्वर्षीया तपोरेकार्षेणातितपोम-

एवर्धोयः भतिशयेनाश्रयतीत्यर्थः 'याजिनीधनीषिषा दि सर्वेऽन्  
लभन्ते'—इति माधवः । 'साम्नायाम् ( ८, २, ११ )'—इति वा  
'छन्दसीगः ( ८, २, १५ )'—इति पा मनुषो षत्यम् । "व्यश्वेभ्यः  
सुभगे याजिनीषति ( ऋ० सं० ६, २, २२, ३ )"—"वसन्तं  
याजिनीषति ( ऋ० सं० ३, ८, ७, ४ )" इति निगमौ ॥

(६) सुझावरी । सुपूर्वान् 'झा माने ( अदा० प० )'—इत्य-  
स्मात् 'उपसर्गे च सद्भायाम् ( ३, २, १६ )'—इति जनेर्विधाय-  
मानो उपत्ययो बाहुलकाद् भवति । सुष्टु आघ्रायते अभ्यस्यं  
इति सुर्न सुखं, तद्धि सर्वैः सर्वदा ममेदं भूयादित्यभ्यासेन  
प्रार्थ्यते । तथाच—'सुखं सुझातेः, प्रजा वै पशवः सुझम्,—  
इति माधवः । तदस्या अस्ति । 'छन्दसीधनिषो न्व ( ५, २, १२२  
षा० )'—'वनो र च ( ४, १, ७ )'—इति दीर्घो, 'अन्येषामपि  
दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः । 'सुझावतीत्यर्थः । "सुझावरी  
सुनुता ईर्यन्ती ( ऋ० सं० १, ८, ३, २ )"—इति निगमः ।

(१०) अहना । 'अहि गर्तो,' भुयादिसात्मनेपदी, 'अह व्यर्तो,'  
वादिः परस्मैपदी । 'युच् बहुलम् ( ३० २, ७४ )'—इति युच्प्रत्यय-  
बाहुल्येचनात् पूर्वत्र नकारलोपः । अहन्तेगच्छत्याकाशे प्रतिदिनं  
त्यं गच्छतीति वा । व्याप्नोति स्वभासा लोकं व्याप्यते वादित्य-  
श्मिभिः । गृहं गृहमहना यात्यच्छा ( ऋ० सं० २, १, ४, ४ )"—  
ते निगमः ॥

(११) द्योतना । प्यन्तात् 'द्युत दीप्तौ ( भू० आ० )'—इत्यस्मात्  
गसश्चन्थो युच् ( ३, ३, १०७ )'—इति बाहुलकात् कर्त्तरि युच्

‘जेरनिट्टि ( ई, ध, ५१ )’—इति ङिलोपः । द्योतयति स्वर्गान्  
पदार्थान् प्रकाशकत्वात् । यद्वा, केवलात् ‘अनुदात्तेतश्च हलादेः  
( ३, ३, १४६ )’—इति युच् । द्योतते स्वयं द्योतना । “सिधासन्ती  
द्योतना शब्दागात् ( अ० सं० २, १, ५, ५ )”—इति निगमः ।

( १२ ) श्वेत्या । ‘श्विता वर्णे ( भू० आ० )’ । अयादित्वात्  
( उ० ४, १०८ ) यक् द्रष्टव्यः । श्वेतते श्वेत्या । ‘श्विता वर्णे’  
इति वर्णसामान्यं सामर्थ्यात् शुक्लवर्णेऽपि शीघ्रे पर्यवसितं  
द्रष्टव्यम् उपसि तथा दर्शनात् । “स्याद्वत्सा स्याती श्वेत्यागात्  
( अ० सं० १, ८, १, २ )”—इति निगमः ॥

( १३ ) अरुयी । ‘अद् स गती’ जुहोत्यादिः ( प० ), ‘अद्  
गतिप्रापणयो,’ भूवादिः ( प० ) । ‘अनहिभ्यामुपन् ( उ० ४, ७४ )’,  
पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वादीकारः । इयत्ति गच्छति घादित्योदये-  
नान्तं प्रतिदिनम् प्रापयति वा स्तोत्रं चैवर्ष्यादि । यद्वा,  
आह्रपूर्वात् ‘रुच दीप्तौ ( भू० आ० )’—इत्यस्मात् बाहुलकात् डुपच्,  
दिलोपः, आडो ह्रस्वश्च, आरीचते अरुयी । यद्वा, अरुयमिति  
रूपनाम ( निघ० ३, ७ ), सामर्थ्यादत्र शुक्लविषयम्, शुक्लवर्णा  
अरुयी । ‘अन्यतो ङीप् ( ५, १, ४० )’ । “अग्ने घ चित्रारुयी  
( अ० सं० ३, ८, ३, २ )”—इति च निगमः ॥

( १४ ) सूनृता । ( १५ ) सूनृतावती । ( १६ ) सूनृतावरी । सुष्ठु  
ऊन्यते अप्रियैरिति सून् । सुपूर्वात् ‘ऊण परिहाने ( दि० आ० )’  
—इत्यस्मात् क्विप् । श्रुतमिति सत्यनाम ( निघ० ४, १६ ) ।  
सुंश्च सङ्गतञ्च सूनृतम्, ष्टपोदरादिस्वात् ( ई, ३, १०६ ) न-ल्लोपा-

भाषः । त्रिपञ्च सत्यञ्च । पृथं मत्पर्योपोऽकारः, उत्तरत्र मतु  
 भन्यत्र उन्दीर्षावनिर्णय ( ५, २, १२२ पा० )—इति घनिष्  
 मनी पत्यग्न्यौ, 'भन्येषामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः ।  
 यदुषा, त्रिपसत्यरूपा पावः सूनृता उच्यन्ते । "सुप्रावरी सूनृता  
 र्व्यन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३, २)"—“उदीर्य प्रति मा सूनृता  
 उपः (ऋ० सं० १, ४, ३, २)"—इत्यादिदर्शनान् तदुच्यतेः सूनृता-  
 दयः । दीर्घो नापेक्षणीयः । यदुषा सूनृतेत्यभनामसु (निघ० २, ७)  
 पाठादक्षम् । सूनृता घननाम माघवपक्षेण अक्षयत्यो धतवत्यो  
 वा सूनृतादयः । "रेवन्स्तोत्रे सूनृते जायन्तो (ऋ० सं० २, १,  
 ८, ५)"—“रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति (ऋ० सं० १, ६, २६, ४)"  
 —“चिकित्थित् सूनृतावरि (ऋ० सं० ३, ८, ३, ४)"— इति च  
 निगमाः क्रमेण ॥

इति षोडशोपोनामानि ॥ ८ ॥

वस्तोः (१) । द्यौः (२) । भानुः (३) ।  
 वांसरम् (४) । स्वसराणि (५) । घंसः (६) ।  
 घर्मः (७) । घृणः (८) दिनम् (९) । दिवा (१०) ।  
 दिवेदिवे (११) । द्यविद्यवि (१२) इति द्वादशा-  
 हर्नामानि ॥ ९ ॥

(१) वस्तोः । अत्र स्कन्दस्वामी—“वस्तोरितिद्विषामेनेदं  
 नाम, न विभनयन्तरम्, “दोषावस्तोर्द्विष्यती घृताची (ऋ०

सं० ५, १, २४, १)”—दोषावस्तोर्बर्होयसः प्रपित्वे (ऋ० सं० १, ७, १८, १)”—इति समस्तस्वापि दर्शनात् । घस्ते ज्योतिरिति वस्तोः, हुयोतत इति घौः । एषं सर्वत्र—इति । घस्ते (अदा० आ०) आच्छादयतीति ज्योतिः । व्यत्ययेन कर्त्तरितोसुन् (३, ४, १३) । “कुह स्वितोषा कुह वस्तोरभिवना (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)”—इति निगमः । कुह क्वेति सप्तमीसामानाधिकरण्यान् दोषावस्तोरित्यपि सप्तम्या एवात्रयलुगध्यवसितः ॥

(२) घौः । ‘घुत दीर्घा (भू० आ०)’, बाहुलकात् डोप्रत्ययः (उ० २. ६४) । घोतने किरणसम्बन्धात् । यडा, ‘घु अभिगमने (अदा० ५०)’, ‘घुगमिभ्यां डोः’—इति श्रीभोजदेवः । अभिगच्छन्त्यस्मिन् स्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः । ‘घोतोणिम् (७, १, १०)’—इति वृद्धिः । “मध्य आरोघने दिवः (१, ७, २२, १)”—इति निगमः ॥ केचिन् घुरिति पठन्ति । तदा ‘डिघ’—इत्यधिकारे ‘घुद्रुभ्यां व’—इति भोजसूत्रेण उप्रत्ययः । ‘घु अभिगमने (अदा० ५०)’, घुनेरेव वा ‘अश्वाद्यथ (उ० ५, ३०)’—इति डुन्-प्रत्ययान्तो निपातितो द्रष्टव्यः । उभयत्र पूर्वोक्त पदार्थः । “घुमिरकुभिः परिपातमस्मान् (ऋ० सं० १, ७, ३७, ५)”—“त्वमने घुमिस्त्वमाशुशुशणि (ऋ० सं० २, ५, १७, १)”—इति निगमौ ॥

(३) मातुः । ‘भा दीर्घा (अदा० ५०)’, ‘मादाभ्यां तुः (उ० ३, ३१) । भत्यादिस्वाधिकरणसम्बन्धादेव । “उद्देध्या उपसो



भानुरसं (शु० सं० ३, ४, १५, २) इति निगमः । रं  
भानुरिति माधयोनममहर्मचिनुमर्दनि ॥

(४) वासरम् । 'यस निघामे (शु० १०)', जिजन्तः शु  
ऽपि विपूर्वस्यागौ परंते । 'अस्तिक्मिन्नमिदिविचमिघासि  
धित् (उ० ३, १२८)'—इत्यरच् प्रत्ययः । विघासयति अ  
नपति शीतादिकम् । यद्वा, घमेः स्वार्थे णिचि अधिकरणेऽच्  
घसत्यसिन् गुप्तेनेति वासरम् । यद्वा, 'घारु दीर्घा (दि० आ०  
पूर्वसादेव सूत्रादरच् दोष्यते वासरम् । यद्वा, विपूर्वा  
सर्त्तैर्गत्यर्थात् पचाद्यचि र्धात्यस्यैकारस्याकारः पृगोद्रादित्वात्  
विविधं सराणि सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः । 'वासराणि वेसराणि  
(निह० ४, ७)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी—'वेसरशब्दस्यायमेकार-  
स्याकारः । सादृश्येन चात्र वर्त्तते । यथा वेसरो निष्पादकगताभ्यां  
विहृदाभ्यां जातिभ्यामश्वत्थजात्या गर्दभत्वजात्या सम्पन्नः ।  
'एवं यावत् द्वौ निष्पादकौ पूर्वभागापरभागौ तदुगताभ्यां  
विहृदाभ्यां शीतोष्णाभ्यां पूर्वभागगतेन शीतेनापरभागगतेन  
चोष्णेन सम्बन्धाद् वेसरसदृशत्वाद् वासरम्'—इति । "अहानीव  
सूर्यो वासराणि (शु० सं० ६, ४, १२, २)" । अहानीत्यनेन  
मीनरुक्त्यादन्योऽपि निगमोऽन्येषणीयः ॥

(५) स्वसराणि । स्वशब्दे उपपदे सर्त्तैर्गत्यर्थात् (शु० १०)  
पचाद्यच् (३, १, १३४) । स्वेन आत्मनैव गच्छन्ति । अपि  
रं, स्वरित्वादित्यनाम (निह० २, १४) । सर्त्तैः 'पुंसि सम्प्रज्ञायां  
ः प्रायेण (३, ३, ११८)' । अन्तर्णोत्पत्त्यर्थंश्चात्र सर्त्तिः ।

स्वरित्येतस्य रेफलोपः पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) । आदि-  
त्येन सार्ष्यते । स हि खोदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति ।  
यद्वा, सुपूर्वान् 'असु क्षेपणे ( दि० प० )'—इत्यस्मात् वृद्धरादि-  
त्वाद्दर्च् ( उ० ५, ४२ ) द्रष्टव्यः । सुष्टु अस्यन्ते क्षिप्यन्ते सूर्य्येण  
खोदयास्तमयाभ्याम्, तथाच 'खसर इहेत्युपरुष्टात्'—इति माधयः  
“उस्त्रा इव खसराणि ( ऋ० सं० १, १, ६, २ )”—इति निगमः ॥

( ६ ) घंस् । 'ग्रह उपादाने ( प्रया० उ० )' अस्मात् घञि  
पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) गकारस्य घकारो जुगागमः  
हकारस्य सकारः । गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा अचश्याया आदित्येन ।  
“यो अस्मै घंस् उ त वा य ऊधनि ( ऋ० सं० ४, २, ३, ३ )”—  
इति निगमः ॥

( ७ ) घर्मः । 'घृ क्षरणादीप्तयोः ( जु० प० ),' 'घर्मः ( उ० १,  
१४६ )'—इति मप्रत्ययान्तो निपातः । जिघत्सि दीप्यते  
रग्मिसम्बन्धान् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

( ८ ) घृणः । जिघत्सैः ( जु० प० ) 'इण्त्सिञ्जिदीङुःप्यविभ्यो  
नक् ( उ० ३, २ )'—इतीणादिभ्यो विधीयमानो नक्प्रत्ययो  
बाहुलकाद् भवति । पूर्ववदर्थः । “घृणा घयोऽरुगामः परिमन्  
( ऋ० सं० ३, ७, १६, ६ )”—इति निगमः ॥

( ९ ) दिनम् । 'दो अवखण्डने ( दि० प० ),' पूर्ववदौणादिके  
नक्प्रत्यये बाहुलकात् ( उ० २, ४६ ), 'द्यतिस्यतिमास्थाम्  
( ७, ४, ४० )'—इतीत्वम् । द्यतितमः दिनम् । “अधो सखिभ्यः ।  
सुदिना व्युच्छान् ( ऋ० सं० ५, २, २८, १ )”—इति निगमः ॥

(१०) दिवा । घोमनाम् । अण्यमिदम् । “दिवा मि  
 स्वेऽपसागमिष्ठा ( ऋ० सं० ४, ४, १७, २ )” — “दिवा नक मवा  
 शान्तमेन ( ऋ० सं० ४, ४, १७, ३ )” — इति निगमो ॥

(११) दिवेदिवे । ‘दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहाराद्यु  
 म्नुतिमोदमदम्प्रकान्तिगतियु ( दि० प० )’ । ‘दिवेर्द्विकि-  
 इत्यधिकरणे द्विविप्रत्ययः । दिव्यन्तेऽसिधिति घोः । दि  
 शब्दात् पास्य सप्तम्या एकवचनस्य ‘सुपो सुलुक् ( ७, १, ३६ )’-  
 इत्यादिना शे आदेशः, प्रगृह्यत्वं ( १, १, १३ ) तु व्यत्ययेना  
 न भवति । चतुर्थी वा व्यत्ययेन । ततो वीप्सादिः ( ८, १, ४ )  
 दिवसे दिवसे इत्यर्थः । यथादृष्टं पठितमिदं नाम । “उपत्या  
 दिवेदिवे ( १, १, २, २ )” — “दिवे दिवे घाममसूमभ्यं सार्त्वाः ( ऋ  
 सं० ५, १, १५, ६ )” — इति च निगमो ॥

(१२) घविद्यवि । घोशब्दो व्याख्यातः ( २ ) । सप्तम्येकवचनं  
 वीप्सादि पूर्ववत्, “मिर्नामसि घविद्यवि ( ऋ० सं० १, २, १६  
 १ )” — इति निगमः ॥

इति द्वादशाहतांमानि ॥ ६ ॥

आद्रिः (१) । प्रावा (२) । गोत्रः (३) ।  
 ब्रलः (४) । अश्नः (५) । पुरुभोजाः (६) ।  
 बलिशानः (७) । अश्मा (८) । पर्वतः (९) ।  
 गिरिः (१०) । ब्रजः (११) । चरुः (१२) ।

वराहः (१३) । शम्बरः (१४) । रौहिणः (१५) ।  
 रैवतः (१६) । फलिगः (१७) । उपरः (१८) ।  
 उपलः (१९) । चमसः (२०) । अहिः (२१) ।  
 अश्रमू (२२) । बलाहकः (२३) । मेघः (२४) ।  
 वृत्तिः (२५) । ओदनः (२६) । वृषन्धिः (२७) ।  
 वृत्रः (२८) । असुरः (२९) । कोशः (३०) ।  
 इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः  
 ( निरु० २, २१ )—इत्युक्तेर्मेघनामत्वं पर्वतनामत्वं क्रमेण  
 निरुच्य प्रदर्शयते ।

(१) अहिः । 'अद् मक्षणे (अदा० प०) । 'अदिशदिभूशु-  
 भिभ्यः क्तिन् (उ० ४ पा०)'—इति क्तिन्प्रत्ययः । अस्ति हि  
 मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहतान् भौमरसान्, अस्ति मेघैर-  
 भिवृष्टं जलम्, अद्यते वा प्राणिभिस्तत्प्रमचपदार्थमक्षणं तत्रो-  
 पचर्यमाने, अदन्त्यस्मिन् पदार्थान् मनुष्या इति वा । यदुवा, नञ्-  
 पूर्वान् 'ट् विदारणे (क्या० प०)'—इत्यस्मान् वाहुलकान् रिन्-  
 प्रत्ययः टिलोपश्च । 'अदरणीय इत्यद्भिः पर्वतः । "विजयुया ययभुः  
 सान्वद्रेः ( १, ८, १६, १ )"—इति मेघस्य निगमः । "नाल्तरिक्षं  
 नाद्रयः सोमो अक्षाः (ऋ० सं० ८, ४, १५, २)"—इति पर्वतस्य ॥

(२) प्रायाः । हन्तेः ( मदा० प० ) भन्तेभ्योऽपि हृद्यन्ते  
 ३, २, ७५' -इति कनिष् । पृरोदरादिस्थान् ( ६, ३, १०६ )  
 घातोर्प्रादेशः । हन्यते हि मेघ इन्द्रेण 'अहग्रहिम् ( ऋ० सं०  
 १, २, ३६, १ )' -इति ध्रुयते । हन्यतेऽनेन सोमः । यद्वा,  
 'गृ निगरणे ( तु० प० )', गृ शब्दे ( षष्ठा० प० )', गृणानिम्नुति-  
 कर्मा ( निरु० ३, ५ )', एभ्यः पूर्वचन् कनिषि अङ्गागमः । इति  
 ग्रहणान् ( ३, २, ७५ ) सर्वं सिद्धम् । गिरत्युदकं वर्षितुम्  
 अथ गिरतिस्तुपूर्वस्यार्थे पसन्ते, समुद्रिरति जलं वृष्टिसमं  
 अमुद्गीर्णं इति घा अन्तरिक्षेण, गृणति गर्जितलक्षणं शब्दं करोति  
 स्नूयते घा वर्षार्थिभिरिति प्राया मेघः । पर्वतोऽपि इन्द्रेण हन्यं  
 पक्षच्छेदसमये, गिरति मेघैरभिदृष्टं जलमुद्रिरति निर्भरजलम्  
 समुद्गीर्णं इव घा गुहादिगतसिंहादिशब्देन, शब्दकारि, स्नूयते च  
 पदार्थबाहुल्यात् प्राणिभिस्तदाथयिभिरिति प्राया । "इन्द्र प्रायाणो  
 अदितिः सजोषाः ( ऋ० सं० ४, १, २६, ४ )" -इति मेघस्य  
 निगमः । "प्रायाणो अप दुच्छुनामप सेधत ( ऋ० सं० ८, ८, ३३,  
 २ )" -प्रायाण उपरेष्व्वा महीथन्ते ( ऋ० सं० ८, ८, ३३, ३ )" -  
 इति पर्वतस्य निगमौ ॥

(३) गोत्रः । 'गुह् अयक्ते शब्दे ( भू० आ० )' । 'गुष्ट-  
 घीपचिचचियमि [ मनितनि ] सदिक्षदिभ्यम्भ्रः ( उ० ४, १६२ )" -  
 इति भ्रप्रत्ययः । मेघो गर्जितलक्षणमयक्ताक्षरं शब्दं करोति,  
 गूयते शब्दुयते वा, - 'अहो ! अयमतीपघर्मकाले वर्षार्थमागतः' -  
 इति । यद्वा, गामुदकं रश्मिभिराहतं वर्षाव्यतिरिक्तेषु प्रायते

पालयति । 'भातोऽनुपसर्गे कः ( ३, २, ३ )' । शरदादिषु हि मैघेषु घर्नीभूतास्तिष्ठन्त्यापः । गां पशुजातिं प्रायते पा घृष्ट्वा पानीयप्रदानान् । पर्वतोऽपि निर्भरदिपतनजन्यमयत्तं शब्दं करोति, भमिवृष्टमुदकमुदकाघारेषु घाग्णाद् रक्षति च गोध सुपयसयत्तया गोत्राः । "गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिव्यने ( ऋ० सं० ८, १, ५, २ )" — "उद्रोत्राणि समृजे दंसनाद्यान् ( ऋ० सं० ३, २, २५, ४ )" — इति च मैघनिगमाः । "गोत्रभिदं गोविदं चन्द्र्याहुम् ( ऋ० सं० ८, ५, २२, ६ )" — इति पर्वतस्य ॥

( ४ ) घलः । 'वृ आचरणे ( स्या० उ० )' । 'महवृद्धनिधि-  
गमश्च ( ३, ३, ५८ )' — इत्यप् । अपि लकादित्वात् लथम् ।  
यद्वा, 'घल संचरणे ( भू० आ० )' अस्मात् 'पुंसि सम्ज्ञायां घः  
प्रायेण ३, ३, ११८' — इति घः । विपतेऽनेन दिश आकाशश्च  
मैघः पर्वतेनापि स्व्याररेण भूमिराकाशश्च संविपते । "अला-  
तुणो घल इन्द्र प्रजो गोः ( ऋ० सं० ३, २, २, ५ )" — इति निगमो  
मैघस्य । "इन्द्रो घलं रक्षितारं दुघानाम् ( ऋ० सं० ८, २, १५, ६ )" — इति पर्वतस्य ॥

( ५ ) अन्नः । 'अशू व्याप्तौ ( स्या० आ० )', 'अश भोजने  
( ऋ० प० )', आभ्याम् 'इण्सिभृजिदीङुष्यविभ्यो नक् ( उ०  
३, २ )' — इति विधीयमानो नक्प्रत्यो बाहुलकाद् भवति, चुत्वं च  
न भवति 'शात् ( ८, ४, ४४ )' — इति प्रतिषेधात् । उभावपि  
व्याभ्रुत् आकाशमध्रीतश्चोदकम्, एकी घर्षितल्यमपरो घृष्टम् ।  
अशनेन चात्र तत्स्त्वत्वं लक्ष्यते । "अध्रापिनदुधं मधुपर्ष्यं पत्न्यन्

(.श० सं० ८, २, १८, २)"--इति मेघस्य । निगमोऽन्वेषणीया ॥

(६) पुष्पमोजाः । 'भुज पालनाभ्यवहारयोः ( ६० प० )'-इत्यस्मात् 'विदिभुजिभ्यां विश्वे ( ३० ४, २३१ )'-इति विश्वशब्दे उपपदे विहितोऽनुप्रत्ययः पुस्त्याश्चेऽप्युपपदे बाहुलकात् ( ३, ३, १ ) भवति, पुरु यद्वा प्राणिजातं भुनक्ति पालयति वृष्टिप्रदानेन मेघः, पर्वतो हि दुर्भिक्षादेरक्षति । 'समुद्रः पर्वतो राजा इव दुर्भिक्षनाशकः'-इत्युक्तेः । पुरु अभ्यवहरति, सामर्थ्याञ्जलमत्र विशेष्यम्, एको घर्षितव्यमपरो हि वृष्टिमिति विशेषः । बहुभिर्मुञ्ज्यते पाल्यते अभ्यवह्रियते वा । मेघस्य त्विन्द्र आद्रित्यरश्मयश्च रक्षितारः, पर्वतस्य तत्तद्देशाधिपतयः । मेघः स्ववृष्ट्युदकद्वारेण अभ्यवह्रियते । द्वयोरपि निगमावन्वेषणीयौ ॥

(७) बलीशानः । बल संघरणे ( भू० आ० ), औणादिकः क्तिप् । 'ईश वैश्वर्यै' अदादिकः ( आ० ) । लट् शानच् । संवृण्वन्नाकाशमीष्टे घर्षितुम्, पर्वतोऽपि स्वभोगेन भूमिमाकाशं संवृण्वन्मीष्टे दुर्भिक्षादेर्मनुष्यादींश्छित्तुम् बलीशान इति, लोकवेदनिघण्टौ दृष्टान्तात् पूषोदरादित्यात् ह्रस्वः । निगमावन्वेषणीयौ ॥

(८) अश्मा । 'अशू घ्यातो ( स्वा० आ० ),' 'अश भोजने ( तया० प० )' । 'अशिशकिभ्यां छन्दसि ( ३० ४, १५४ )'-इति मनिच् । अथ इत्यनेन समानार्थः । "अपावृणोदुरो अश्म-

वजानाम् ( ऋ० सं० ८, ७, २७, ६ )—इति मेघस्य निगमः ।  
 “यी अश्मनोरन्तरशिं जजान ( ऋ० सं० २, ६, ७, ३ )”—इति  
 र्वतस्य । अत्र स्कन्दस्वामिना मेघत्वेन व्याख्यातम् ॥

.. (६) पर्वतः । ‘पृ वालनपूरणयोः ( ऋ० सं० ५० )’ । ‘छाम-  
 देपयत्तिपृशकिभ्यो घनिप् ( उ० ४, १०६ )’ । पृणन्ति पाल्यन्ति  
 स्वयविनं पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि । यद्वा, प्रीणातेर्वाहुल-  
 ङत् ( ३, ३, १ ) घनिपि ईकारस्याकारः स च पकारात् परः  
 णियन्ति स्वाश्रयमिति । पर्वाण्यवयवाः सन्त्यस्य ‘पर्वमरुदुभ्यां  
 ष् घक्तव्यः ( ५, २, १२१ षा० )’—इति मत्वर्थोपस्तप्रत्ययः ।  
 अस्य पर्वतस्य च देवतात्मकत्वस्य च विद्यमानत्वात् अवयविनि  
 त्तुं शक्यम् । यद्वा, परिदृश्यमानाकारेणापि मेघस्य धूमादि-  
 रङ्गात्त्वात्, पर्वतस्य च शिष्टादिमरुदादवयवित्त्वम् । यद्वा, ‘पर्व-  
 रणे ( भू० सं० ५० )’ ङसात् ‘भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितस्मिन्मिह-  
 ष्यभ्योऽतच् ( उ० ३, १०७ )’—इत्यतच्प्रत्ययः । पर्वति पूर्यति  
 णिणं भूमिं स्वशरीरेणाकाशं वा पर्वतोऽपि निर्भरतदीप्रवाहादिना  
 णिं स्वोश्रयाकाशञ्च पूर्यति । “नि पर्वता अन्नसदो न सेदुः  
 ऋ० सं० ४, ७, २, ३”—यलित्था पर्वतानाम् ( ऋ० सं० ४,  
 , २६, १ )—इति मेघस्य निगमी । “यदद्रयः पर्वताः  
 णकमारावः ( ऋ० सं० ८, ४, २६, १ )”—“प्र पर्वतानामुशकी  
 पस्यात् ( ऋ० सं० ३, २, १२, १ )”—इति च पर्वतस्य ॥

(१०) गिरिः । ‘गृ निगरणे ( तु० सं० ५० )’, अथवा ‘गृ शब्दे  
 ऋ० सं० ५० )’, गृणातिः स्तुतिवर्मा ( निद० ३, ५ ) । किदिति



वर्तमाने (उ० ध, १३७), 'कुग्गृष्टृकुट्टिमिदिछिदिभ्यश्च इः (उ० ध. १३८)'—इति इप्रत्ययः, 'अत इधातोः (७, १, १००)'—इत्यम्, गिरिः । प्रावेत्यनेन समानार्थः । "निराविध्यं मि भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः (ऋ० सं० १, ४, २१, ३)"—इत्पर्वतस्य । "मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ० सं० २, २४, २)"—इत्युभयस्य ॥

(११) व्रजः । व्रज गतौ (भू० ष०)' । 'गोचरसञ्चं चद्व्रजत्रयजापण निगमाश्च (३, ३, ११६)'—इति निपातनान् घञ्कारणाधिकरणयोस्तदुच्यतिरिक्ते कारकेऽपि घो भवति । व्रजत्यन्तरिक्षे व्रजत्यनेनेन्द्र इति वा व्रजो मेघः, मेघवाहनो हीन्द्रः पर्वतोऽपि पक्षच्छेदान् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति । अथवा स्वशरीरेण भूमिमन्तरिक्षञ्च व्रजति । व्रजन्ति तत्र प्राणिन इति वा । "अप व्रजमूर्ण्यः सनाम्यम् (ऋ० मं० ७, ८, १६, ३)"—इति मेघस्य निगमः । "व्रजं गोमन्तमुशिजो विवश्रुः (ऋ० सं० ३, ४, १४, १)"—इति पर्वतस्य ॥

(१२) चरः । चर गतिमक्षणयोः (भू० ष०)' । 'भृष्टृशी सृचस्त्सत्तिनिघनिमिमस्त्रिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययः । चरन्ति गच्छन्त्यस्मादापो मेघाद्गर्गाफाले, पर्वतानां निर्धरदक्षणाः चरन्ति जलं घर्षिण्यमिति चरमेघः, चरन्ति तत्र प्राणिनः, चर्यन्ते मर्यन्ते स्वप्रमयपदार्थरूपेणेति चरः पर्वतः । "स सो वृषभ्रमुं चरम् (ऋ० सं० १, १, १५, १)"—इति मेघस्य निगमः । पर्वतस्यान्वयवर्णावः ॥

(१३) घराहः । 'वृणोतेः ( स्वा० प० )' । 'ग्रहवृद्धनिधि-  
गमिध्वं ( ३, ३, ५८ )'—इत्यकारः ( अप् ), घराशब्दे कर्मण्युपपदे  
आङ्पूर्वाद्धरतेः 'कर्मण्यण् ( ३, २, १ )' । चरमुदकमाहस्तीति  
घराहः । घर उदकलक्षणः आहारोऽस्येति घा घराहः ( निरु०  
५, ४ ) आङ्पूर्वाद्धरतेर्घञ् । 'चरमाहारमाहार्णोः'—इति =  
ब्राह्मणम् । पृषोदरादित्वात् आहारशब्दस्याकाररेफत्योर्लोपः  
यद्वा, घराशब्दे उपपदे हस्तेराङ्पूर्वात् 'अन्येष्वपि वृश्यते ( ३  
२, १०१ )'—इति घाहुलकात् डप्रत्ययः । घराहाकारो घा कृष्णे  
मेवो घराहसादृश्येन वर्तते । चरमुत्कृष्टमुदकं वृहति उच्यते  
घर्षितुम् 'वृह उद्यमने ( तु० प० )' । हन्तेः पूर्ववत् डः । यद्वा  
घराशब्द उपपदे जुहोतेर्दानार्थात् डः । चरमुदकं ददाति आदरं  
या घर्षितुमिति घराहो मेघः, पर्वतोऽपि चरमुत्कृष्टं पदार्थमाहार  
पनि प्राणिभिः, पदार्थानां सर्वत्र सौलभ्यादाहरणतीत्युच्यते  
पर आहारोऽस्येति घा । घराहणन् कृष्णवर्ण इति घा । घ  
भूलं वृहत्युद्यच्छत्यस्मादिति घा ( निरु० ५, ४ ) । घर् घरमिन्ध  
त्रैकस्य घराशब्दस्य निवृत्तिः । घराशब्दाद् वृहेभ्य घराह इत्यर्थः ।  
चरमुदकमाददाति आर्हायने च तस्मात् पुरुषैर्घटः पदार्थ उदकमेव  
घा । "विध्यदुघराहं तिरो अद्रिमस्ता ( ऋ० सं० १, ४, २८  
२ )"—"घराहमिन्द्र एमुण् ( ऋ० सं० ६, ५, ३०, ५ )"—इति  
च मेघस्य निगमो । पर्वतस्वान्वेषणीयः ॥

(१४) शम्यतः । 'शमु उपशमि ( दि० प० )' अत्रान्तर्णो-  
सण्यर्थः । 'शमैर्घन् ( उ० ४, ३१ )'—इति यनप्रत्ययः । शमयति

मातापति. मातुगनिति शम्भो यज्ञः । यदुवा, -शालां  
 पांडुरालकात् वनप्रत्यये वृगेदरास्तिपात् शम्भोऽम् । शम्भोऽम्  
 प्रदत्तं त्येनास्ति । री मन्वर्गोऽयः । प्रदरति हि यज्ञः इन्द्रं  
 मेषान् पर्यंतानाञ्च पक्षच्छेदसमये । यदुवा, सागूर्यान् वृजोने  
 ( स्या० प० ) 'मद्वृद्धनिधिगमञ्च ( ३, ३, ५८ )'—इत्यदि  
 सम्प्रः सन् पर्जन्यस्यवेन शम्भः । मं नियन्ते मेषेनाकार्यं  
 भूमिः पर्यन्तेन । यदुवा, शम्भरमित्युदकनाम ( निय० १, १३)  
 मत्वर्धोऽस्य लुक्, उदकमायास्तीति या, उभयप्रापि तुव्यम् ।  
 “उ ताददंमंयुना शम्भराणि वि ( श्र० सं० २, ७, १, २ )”—  
 “अधूनोत् फाष्टा भय शम्भरं भेत् ( श्र० सं० १, ४, २७, ६ )”  
 -इति मेषस्य निगमौ । पर्यंतस्यान्वेषणीयः ॥

( १५ ) रौहिणम् । ‘रुह षोडशजन्मनि ( भू० प० )’ । मवे  
 घञ् ( ३, ३, १८ ) रौहः आरोहणम् आदित्यपक्ष्यादीनामस्ति-  
 स्तीति । ‘अत इतिङ्गौ ( ५, २, ११५ )’, रौहि अन्तरिक्षम् ।  
 ‘तत्र भवः ( ४, ३, ५३ )’—इत्यण्, ‘इनण्यनपत्ये ( ६, ४, १६४ )’  
 —इति प्रकृतिभावः रौहिणः । अन्तरिक्षेण हि गच्छति  
 मेषः, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्यंतश्चेति तत्र भव इति वक्तुं शक्यते ।  
 यद्वा, बहुलमन्यप्रापि ( उ० २, ४६ )—इति इनच्प्रत्यये रौहिण  
 इन्द्रः । ‘तस्येदम् ( ४, ३, १२० )’—इत्यण् रौहिणः । आरोहति-  
 मेषमिन्द्रः स्ववाहनत्वान्, ‘तुरापाण्मेघवाहनः ( जम० को० १,  
 ४७ ),—इति तत्पर्यायेषु पश्यते । अप्सरोनिः सह रिरंसया  
 पर्यन्तेष्विन्द्रस्य गमनान्, तदीयता । यदुवा, उभयप्रापि

श्लेष्मलेदकभावेन सम्बन्धः । तथाच चरकाध्यपूर्णां ग्राह्यां  
 इतिहासः श्रूयते—‘प्रजापतेर्वा एतज्जयोक्तन्तोक्तं यत्पर्यतास्ते  
 पक्षिण आसन्, ते यत्र यत्र कामयन्ते तन्परा समासत, इयं  
 हि शिथिलासीत्, तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनन्, तैरिमा बृहदेति’ ।  
 “अहन्नहिमभिनद्रीहिणम् (ऋ० सं० १, ७, १६, २)” —“यो  
 रौहिणमस्फुच्छन्नवाहुः (ऋ० सं० २, ६, ६, २)” —इति  
 निगमो क्रमेण ॥

(१६) रैवतः । रैवत्यो गावः ‘पशवो वै रैवतीः’—इति  
 श्रुतेः । ‘तस्येदम् (४, ३, १२०)’—इत्यण् । मैघो हि सर्वत्र  
 ययति ययसं पानीयं च जनयित्वा सदीयो भवति, पर्यतस्तद्वत्तया ।  
 यद्वा, रविरस्थास्तीति मतुपि ‘रयेर्मती’ बहुलम् (६, १, ३४ षा०)  
 —इति सम्प्रसारणम्, ‘सन्नजाषाम् (८, २, ११)’—इति घत्वम्,  
 सर्वस्य धनस्येशितृत्वान् रैवान् इन्द्रः, मघयेनि हि तस्य नाम,  
 सदीयो रैवतः । पूर्वपत् सदीयत्वं द्रष्टव्यम् । निगमावन्येषणीयो ॥

(१७) फलिगः । प्रतिफलति तन् फलम् । तदस्मिन्नस्तीति  
 फलि स्वच्छभुदकं तद्गच्छत्याघास्त्वेन मैघो घर्षिष्यमाणं पर्यतो  
 हि पृष्टमिति विशेषः । इप्रकरणे ‘अन्येध्वपि दृश्यते (३, २, १०१)’  
 —इति गमेर्दप्रत्ययः, रचच्छ्रोदकपूर्ण इत्यर्थः । यद्वा, फलपत्-  
 स्नानपानादिप्रयोजनवत् उदकं फलि, तद्गच्छतीति पूर्वपत् ।  
 माधयस्तु—फलिर्भेदनकर्मापि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो  
 गच्छतीति षा’—इति निरघोचत् । तस्यायमभिप्रायः प्रायेण  
 मैघो हि पर्वासु ग्रीष्मजन्यं तापं भिन्दन् गच्छति, पर्यतोऽपि

स्वभारेण भूमिं निन्दन्प्रयोगच्छति, भक्तकाले वा शतधा स्वयं  
 भिद्यमानो गच्छति तदाम् । कृषिकलम्य मेवायत्तत्यान् क  
 संयुक्तो गच्छति इत्युच्यते । तथाच कालिदासः—‘त्वय्यात्  
 कृषिकलमिति भूयिकागनभिर्गोः’—इति मेघकाव्यम् । पर्वतार्द्र  
 शस्यादिकदृष्ट्यादिफलसंयुक्तो गच्छति च । फलवत्त्वदशायात्  
 फलेर्गमि गम्यादित्यादिन्, गमेः पूर्वघन् डः (३, २, १०२) इति व ।  
 “बलं हरोज्ज फलिगं श्वेण (ऋ० मं० ३, ७, २६, ५)”—इति निगमः ३  
 (१८), (१६) उपरः, उपलः । ‘आ उपर उपल इत्येताभ्यां  
 साधारणानि पर्वतनामभिः (निह० २, २१)’—इत्यादिभाष्यस्य  
 स्कन्दस्वामिग्रन्थः—‘आ उपर उपल इति, आङ् अभिविधी  
 मर्ष्यादायामित्यन्ये, विना उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणा-  
 नीत्यर्थः । आ उपरादिति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रह्योर-  
 विशेषत्वप्रदर्शनार्थम् । तयोर्ध्वनिर्वचनत्वप्रदर्शनार्थमेकयोगप-  
 क्षत्वं चाङ्गीकृत्याह—‘उपर उपलो मेघो भवति ( निह० २, २१ )’  
 —इति । वक्ष्यमाणनिगमापेक्षया उपलशब्दस्य च पायापे  
 प्रसिद्धत्वात् ‘तेषामुपरः स्वधिष्ठो मध्यमः’—इति तत्सङ्घातशब्दे  
 पर्वत उपलशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्ध एवेति मेघग्रहणं कृतम् ।  
 मर्ष्यादापक्षस्य च मेघग्रहणमेव लिङ्गमिति उत्तराणि मेघस्यैवेति ।  
 यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते ह्यस्मिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप  
 रति । अभिविधिपक्षे ‘नेदं निर्वचनम्’—इति । जनेर्विधीय-  
 डप्रत्ययः (३, २, ६७) बाहुलकाद्भवेति (३, ३, १)  
 (६, २, १३६) बाधित्वा अव्ययपूर्वपदग्रह

तिस्वरत्यम् (६, २, २) । 'उपरो जलयापनात्'- इति माधवः ।  
 प्रवेः इदरादित्वात् ( उ० ५, ४२ ) अरन् द्रष्टव्यः, सम्प्रसारणं  
 न बाहुलकात् । 'उपरमिव हि नमस्यन्नं भूमौ पर्यतश्च'-  
 इति माधवः । अत्र श्रीभोजः—'पृषिपदिदेविकेपिचपिचचिभ्य-  
 श्चिन्'-इत्यलच्प्रत्ययः । ध्युत्परयनबधाराणांभावगृह्यते । मेघ-  
 नामत्वे तत्र—'क्यामुपरा उदायन् ( ऋ० सं० ७, ७, १६, ३ )'  
 —इति निगमः । पर्यतानां चान्येषणीयः "हिरण्यनिर्णिगुपरा  
 न ऋष्टिः ( ऋ० सं० २, ४, ४, ३ )"—इति । अत्र 'उपरा  
 अस्माच्छिला दीर्घाः'—इति माधवः ॥

(२०) चमसः । 'चमु अदने ( मृ० प० ),' 'अत्यविचमि  
 ( उ० ३, ११३ )'—इत्यादिना असच् ॥

(२१) अहिः । 'इण् गती ( अदा० प० ),' 'इन् सार्वधातुभ्यः  
 ( उ० ४, ११४ )'—इतीनप्रत्ययः, गुणावादेशौ, यकारस्य हकारो  
 व्यत्ययेन । परत्यन्तरिक्षे । अयतरेव गत्यर्थादिनप्रत्यये पूर्ववद्  
 व्यत्ययः । यद्वा, 'अहि गती' भीवादिकः ( आ० ), इन्प्रत्ययः,  
 बाहुलकान्नलोपः, आगमानित्यत्वाद्वा नुम् न क्रियते । इत्य-  
 याधिकारे धीभोजदेवः—'आहिकुण्डलिकं पात्रलोपश्च'—  
 इति । यद्वा, 'अह्य्यात्ती' स्वादिः ( प० ), इन्, अहोति व्याप्नोति  
 आकाशं दिगन्तराणि वा । यद्वा, आङ्पूर्वादन्तेः हिसार्थाद्  
 गत्यर्थाद्वा 'आङि श्रिहनिभ्यां हस्वश्च ( उ० ४, १३३ )'—  
 इति इण्प्रत्ययो डिश्च, आ समन्तात् हन्ति भिनत्ति उष्णमाभि-  
 मुख्येन, हन्ति गच्छत्यन्तरिक्षम् । यद्वा, केवलादेव हन्तेर्बाहुल-

कादिष्प्रत्ययो द्विश्च, ःहिः हन्ता, नहन्ता अहन्ता, अंहिः अहिस  
 इत्यर्थः, सर्वदा लोकस्य वर्षप्रदत्त्वात्। माघनेन तु—त्वमपामपि  
 धाना धृणोरप (श्रु० सं० १, ४, ६, ४)—इत्यत्र पात्रसनेये तु  
 'सोऽग्निषोमाद्यभिसम्यभूय सर्वां विद्यां सयंयशः सर्वमन्नाद्यं सर्वां  
 धियं स यत्सर्वमेतत् समभवत् तस्मादहिः'—इति इदर्शितम्। तेन  
 घेतद् युक्तम्। अहिशब्दोऽसुरस्याचक आसुदात्तः। "यदिन्द्राह  
 प्रथमजामहीनाम् (श्रु० सं० १, २, ३६, ४)"—इति। मदी  
 घचनोऽन्तोदात्तः। 'इन्द्रोदक्षं परि जानादहीनाम् (श्रु० सं०  
 ८, ७, २७, ६)"—इति। अत्राहिशब्दस्मैघनामटोनाभाषण्य  
 स्कन्दस्वामी। "दासपत्नीरहिगोपा भतिष्ठन् (श्रु० सं० १, २,  
 ३८, १)"—इति निगमः ॥

(२२) भघ्नम्। 'अघ्न गतो (श्रु० प०), पचाद्यच् (३, १,  
 १३४)' भघ्नन्त्यन्तस्थो। धापो रातीति वा भप्शब्दे कर्मण्यु  
 पपदे रानेर्दावार्यान् 'भानोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)', पकारस्य  
 भकारो व्यन्त्येन (३, ४, १८)। न घ्नन्त्यस्मादापो पर्या  
 तमपारन्त्येति वा। यदुक्तं—'न घ्नन्ति यत्सनेभ्यो  
 यदायज्ञानि नश्यन्ः'—इति भम्पुर्वात् 'धराधरा शपः—  
 नरे (श्रु० धा०)—इत्यस्मात् 'भन्त्येभ्यनि इत्यने (३, २, १०१)'  
 —इति इत्यन्त्यः। न घ्रात्तने वा यथांगु मन्त्रियणंत्वात् घ्रात्तने  
 यंश्च इः (३, २, १०१)। "प्राणः मित्यविगुह्येव रोदसी  
 ३, ३, १, ३"—इत्यस्मात् यत्समयप्रियति (श्रु० सं०  
 १)"—इति च निगमो ॥

(२३) घलाहकः । घलाकामिर्होपते गम्यते इति घलाहकः ।  
घारिवाहको घा, पृशेदरादित्वात् ( ६, २, १०६ ) घर्णागमादिना  
साधुः । घराहशब्दाद्वा भ्रंश्रापां फन् ( ५, ३, ७५ ),  
रैफस्य लकारः । उकार्यो घराहशब्दः ( १३ ), विरुत्तस्या-  
साधारण्यार्थत्वप्रदर्शनाय पुनः पाठः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२४) मेघः । 'मिह सेचने ( भू० प० )', पचाचच् ( ३, १,  
१३४ ), न्यङ्कादित्वात् कुर्यम् । मेहति सिञ्चति पर्यणभूमि  
मेघः । "वृषा घां मेघो वृषणा पीपाय ( अ० सं० २, ४, २६,  
३ )" — "अस्मिन् मेघे चिद्युन्" — इति च निगमौ ॥

(२५) दृतिः । 'दृ विदारणे ( वपा० प० )' । 'दृणातेर्हस्यश्च  
( उ० ४, १७८ )' — इति तिप्रत्ययः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याद्गुणो न  
भवति । दीर्घते इन्द्रेण, दृतिघन् स्यन्दमत्नाधारत्वाद्वा । "दृति  
सुकर्षं विपितं न्यञ्चम् ( अ० सं० ४, ४, २८, २ )" — "ईशानो  
विद्युजद् दृतिम्" — इति च निगमौ ॥

(२६) धोदनः । उदकशब्दे उपपदे ददातेः 'दृत्यत्स्युटो बहुलम्  
( ३, ४, ११३ )' — इति कर्त्तरि ल्युट् । धोदनः उदकदातेत्यर्थः ।  
यद्वा, 'उन्दी कलेदने ( रु० प० )', 'उन्देर्नलोपश्च ( उ० २, ७२ )' —  
इति युच्प्रत्ययः, शुणः, उन्नति घनभूमिम् धोदनः । "धारयत्  
पञ्चमोदनम् ( अ० सं० ६, ५, ३०, १ )" — इति निगमः ॥

(२७) वृपन्धिः । 'वृप सेचने ( भू० प० )', 'कनिन्युवृपीत्यादिना  
( उ० १, १५५ ) कनिन्, वृपा । शत्रुजयादिसाधनत्वात् कामानां  
घर्षिता घञः, सन्निधीयतेऽस्मिन्निन्द्रेण प्रहारकाले 'कर्मण्यधिकरणे



व्यः (३, ३, ६३) — इति क्प्रत्ययः नलोपाभावश्चान्दसः  
 “विपन्धिः” — इति केषुचित् कोशेषु दृष्टम् । तदा विषं जल-  
 धीयतेऽसिद्धिति निर्वाहः, मुगागमश्चान्दसः । निगमदर्शनाभि-  
 र्णयः । “वृषा वृषन्धिञ्चतुरश्रिमस्यन् (अ० सं० ३, ६, ७, २)”  
 — इति मेघनाम न वेति सन्दिग्धम् ॥

(२८) वृषः । वृषोतेराच्छादनार्थात् (स्वा० प०) ‘अमिचिमि-  
 मिदिशंसिभ्यः क्त्वं (उ० ४, १५६)’ — इति क्त्वंप्रत्ययो वाहुलकाद्  
 भवति, आच्छादयति हासी हृत्स्नं नभः । घर्त्ततेर्वा गतिकर्मणः  
 (निघ० २, १४) ‘स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)’ — इत्यादिना  
 रक्प्रत्ययः, गच्छत्यसौ हृत्स्नं नभः । घर्त्ततेर्वा वृद्धुध्यर्थात्  
 (भू० भा०) वाहुलकान् घन्, घफारस्य तकारो व्यत्ययेन, पदुर्धने  
 दि घर्त्तसु मेघः । प्राह्वणोक्ता एषामी त्रयोऽप्यर्थाः — ‘घरि-  
 मांशोक्तानवृषोन् तद् वृषस्य वृषत्पम्, स इणुमात्रभिणुमात्रं  
 पिष्यद् अघर्त्तन’ — इति । “वृषाय घर्त्तमीशानः क्रियेपाः  
 (अ० सं० १, ४, २४, २)” — “अहन्यद् वृषत्तयं विवेरपः  
 (अ० सं० ८, ८, ५, १)” इति च निगमौ ॥

(२९) भग्नुः । ‘भग्नु शोणने (दि० प०)’, ‘असिमसोऽहत्त्वं  
 (उ० १, ४२, — ४३)’ — इति उग्नप्रत्ययः, भस्यति क्षिपतिभुमी  
 जन्म । यडा, भायने क्षिपने स्वाने इग्रेण घर्त्तयम् । यडा,  
 अग्नि (भू० प०) निघृति ‘शम्नुमिदिशप्यतिपति (उ० १, १०)’  
 — इत्यादिना वप्रत्ययः भग्नु । शर्त्ते घर्त्तनीत्यातुः प्राजः ।  
 ‘प्राजा वा भानः’ — ‘घर्त्तनीयं प्राजिनं प्राजाः’ — इत्यादिघर्त्तान

असुशब्देनात्र जलमुच्यते । तद्राति, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' यद्वा, जलवान् प्राणवान् वा । रो मत्वर्थीयः । यद्वा, 'अ गतिदीप्त्यादानेषु' भौवादिकः स्वरितेत्, पूर्वसादेव सूत्रादुरन् असति गच्छत्यन्तरिक्षे, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वर्षि तुम् । यद्वा, 'सुर ऐश्वर्ये ( तुदा० प० )', इगुपधलक्षणः क ( ३, १, १३६ ), सुरतीति सुर ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः असुरः अर्नाश्वरः, इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थाः । "दिवः श्येनासं असुरस्य नीलयः (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)"—"दीर्घाधियोर क्षमाणा असुर्यम् (ऋ० सं० २, ७, ६, ४)"—इति निगमौ ॥

(३०) कोशः । कोशतेः शब्दकर्मणः ( भू० प० ) पचायति ( ३, १, १३४ ) षूयोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) रेफलोपः कोशः मैत्री हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति । कुप्यतेर्षा वृद्ध्यर्था ( दि० प० ) अस्मिन्नेषार्षे षकारस्य शकारः, इगुमात्रमघर्द्धतेत् कम् । कोशतिशब्दानार्थ इति माभवः, पूर्वबदवच्छादयत्यदृष्टान्नं नमः । जलस्य कोशस्थानीयत्वान् कोश इत्यन्ये यद्वा, 'कु शब्दे ( तु० भा० )', 'बुदापाभ्यः शः'—इति धीभं जदेषः, कौति ( अदा० प० ) गर्जितशब्दं करोति कोशः । "दि० न कोशासौ अभ्रवर्षाः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ६)"—"महाः कोशमुदचा नि विश्व (ऋ० सं० ४, ४, २८, ३)"—इति निगमौ ॥

इति त्रिशन्नेषनामानि ॥ १० ॥

श्लोकः (१) । धारा (२) । इला (३) । गौः  
 (४) । गौरी (५) । गान्धर्वी (६) । गभीरा (७) ।  
 गम्भीरा (८) । मन्द्रा (९) । मन्द्राजनी (१०) ।  
 वाशी (११) । वाणी (१२) । वाणीची (१३) ।  
 वाणः (१४) । पविः (१५) । भारती (१६) ।  
 धमनिः (१७) । नालीः (१८) । मेना (१९)  
 मेलिः (२०) । सूर्या (२१) । सरस्वती (२२) ।  
 निवित् (२३) । स्वाहा (२४) । वसुः (२५) । उप-  
 द्विः (२६) । मायुः (२७) । काकुत् (२८) । जिह्वा  
 (२९) । घोषः (३०) । स्वरः (३१) । शब्दः (३२) ।  
 स्वनः (३३) । शकः (३४) । होत्रा (३५) । गौः  
 (३६) । गाथा (३७) । गणः (३८) । धेना (३९) ।  
 ज्ञाः (४०) । विषा (४१) । नसा (४२) । फडा  
 (४३) । धिग्णा (४४) । नौः (४५) । अक्षम  
 (४६) । मही (४७) । अदिनिः (४८) । शर्णा  
 (४९) । शकः (५०) । अनुष्टुप् (५१) । धेनुः (५२) ।

बल्युः (५३) । गल्दा (५४) । सरः (५५) ।  
सुपर्णा (५६) । वेकुरा (५७) । इति सप्तपञ्चाशद्  
वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

'आ उप उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्यतनामभिः ।  
पाङ्नामान्युत्तराणि ( मि० २, २१—२३ )'—इति भाष्ये  
स्कन्दस्वामी - 'उत्तराणि सप्तपञ्चाशन् श्लोकित्वादीनि वाङ्ना-  
मानि । उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्यः शब्दोऽप्युच्यते  
इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थः इति वाक् स्तनपित्तुलक्षणा  
माध्यमिका साप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठाप्यपि देवता  
प्राणिष्यते । सर्वतद्भासा मेघहेतुत्वात् मेघनामस्य उत्तरा-  
र्णाति । स च वाक्शब्दः 'घञि परिभाषणे ( अ० १० प० )'—  
इत्यस्यान् घातोः 'किञ् घञि ( उ० २, ५४ ) ( ३, २, १७८ घा० )'  
—इत्यादिना किञ् क्षीर्णस्ये सम्प्रसारणाभावे च व्युत्पन्नः ॥

(१) श्लोकः । 'धु धवणे ( भू० प० )' 'इण्मीकापाश्च्यति-  
मचिभ्यः षन् ( उ० ३, ४१ )'—इति कन्प्रत्ययो वाङ्मूलाद्भवति,  
गुणः, कषिलकादित्यात् लस्यम्, ध्रुयते इति श्लोकः । यदुपा,  
श्लोक सहस्रानि ( भू० भा० ) 'पुंसि सम्प्रसारणं घः ( ३, ३, ११८ )'  
श्लोकघने परते रूपेण संहरते कविभिः श्लोकः 'घञे यशसि  
च श्लोकः ( ३, ३, २ )'—इत्यमरलिङ्गः । "कृतस्य-श्लोको  
वधिरा ततरं ( अ० सं० ३, ६, १०, ३ )" - "श्लोको न यातामपि  
पातो अग्नि ( अ० सं० ३, ६, ११ )" ; निगमो ३

(२) धारा । 'धृम् धारणे ( मू० उ० )' हेनुमति घ ( ३, १, २६ ) - इति णिचि 'परजण्यन्तानाम् ( ३, ३, ५६ भा० )' - इत्यस्याप्रापकत्वादेव 'इत्यन्त्युटो बहुलम् ( ३, ३, ११३ )' - इति कर्त्तरि भवति । यद्वा, धारेः पचायच् ( ३, १, १३४ )' लोफस्य धारयित्री परंप्रदानेन स्वामिधेयस्य वा । "तनसहे सुधारा" - इत्यत्र धारा घाङ्नाम । "धारा सुतस्य रोचते ( ऋ० सं० ७, ५, २४, १ )" - "यः ससाद धारामृतस्य ( ऋ० सं० १, ५, ११, ४ )" - इति च निगमौ ॥

(३) इला । 'इल क्षेपणे ( तु० प० )' इगुपधेभ्यः ( ३, १, १३५ ) कर्त्तरि विधीयमानः कः प्रत्ययो बाहुलकान् ( ३, ३, १ ) भवति । क्षिप्यते प्रेर्यते उच्चारणकाले प्राणेन, इला । यद्वा - चानां लत्वमुक्तं पूर्वमेव । यद्वा, 'ईङ् स्तुती ( अद्वा० आ० )' - 'जि इन्धी दीती ( रु० आ० )' आभ्यां पूर्ववत् कः ( ३, ३, १ ), पृषोदरादिः ( ६, ३, १०६ ), ईङ्गिति स्तूयतेऽनया देवता ईड्यते वा या स्वयं देवतात्वात्, दीपयति प्रयोक्तारं, दीप्यते वा स्वेन तेजसा । यद्वा, इलेत्यङ्नाम ( निघ० ३, ७ ), अकारो मत्वर्थीयं यजमानानां देयेनान्नेन हविल्लक्षणेन वा तद्धती इला । "अभि न इला यूधस्य माता ( ऋ० सं० ४, २, १६, ४ )" - इति निगमः ॥

(४) गौः । व्याख्याता पृथिवीनामसु ( १ ) । गच्छति यज्ञे - ध्याहता, गीयते स्तूयते वा । "अयं स शिङ्क्ते येन गौ रभी - ( ऋ० सं० २, ३, १६, ४ )" - इति निगमः ॥

(५) गौरी । रोचतेऽञ्चलतिकर्मणः ( निघ० १, १६ ) ।  
 'ऋजेन्द्राप्रवज्जपिप्रकुम ( उ० २, २७ )'—इत्यादिसूत्रेण रञ्-  
 प्रत्ययान्तो गौरशब्दो निपातितः, तस्माद्दुर्घातोर्गाघादेशः,  
 'विदुगौरादिभ्यश्च ( ४, १, ४१ )'—इति ङीप् । स्वया दीप्त्या  
 उच्यते षाब्देवतात्वात् । यद्वा, 'गूरी उद्यमने ( तु० भा० )'  
 अस्मात् इति पूर्ववन्निपातनादुकारस्योकारः, रोरि ( ८, ३, १४ )—  
 इति रेफलोपः, ङीप्, गुरते उच्यञ्छति स्वमभिधेयम्, उद्यमनं  
 चारु प्रकाशनम् । यद्वा, 'गुह् अव्यक्ते शब्दे ( भू० भा० )'  
 इत्यस्मान्निपातनादिनि वृद्धिः, गद्यते गर्जितलक्षणमव्यक्तशब्दं  
 हरोतीति गौरी । यद्वा, शुक्लवर्णत्वात् गौरी, 'भास्वत्कर्पदं  
 शिकलामिन्दुकुन्दापदन्ताम्'—इत्याचार्याः, 'सर्वशुक्ला सर-  
 त्वती'—इति च । "गौरीमिमाष सलिलानि तक्षति ( ऋ०  
 सं० २, ३, २२, १ )"—"सोमो गौरी अधिष्ठितः ( ऋ०  
 सं० ६, ७, ३८, ३ )"—इति च निगमो ॥

( दे० प्रा० २, ४, २ )—इति । यदुवा, गन्धर्वा देवानां गायका-  
 तेषामियम् । तथाचैतरेयब्राह्मणे—‘सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वर्षात्  
 ( दे० ब्रा० १, ५, १ )—इत्यस्मिन् खण्डे - वाचो - गान्धर्वोर्त्वं  
 स्पष्टमुक्तम् । ‘तां गन्धर्वोऽवदीत् गर्भे अन्तः’—इति धृतिः ।  
 “अग्निर्गान्धर्वी पथ्या मृतस्य ( ऋ० सं० ८, ३, १५६ )”—  
 इति निगमः ॥

(७) गर्भीरा, (८) गम्भीरा । भीयन्ति ( दि० प० ) रातीति-

( अदा० प० ) भीराः । ‘आतोऽनुपसर्गो कः ( ३, २, ३ )’ । गवां  
 भीरा गर्भीरा गम्भीरा च । पृषोदरदित्वात् ( ६, ३, १०६ )  
 गोशब्दस्य गभावो गम्भावश्च । स्तनयित्नु-लक्षणा द्वि माध्यमिका  
 पाठ् ध्रुवमाणेषु सर्षप्राजिनां भियमादधाति । यदुवा, उणादी  
 गर्भीरादिरूपेण गमेर्धातोरीदृशयये नुमागमो मकारस्य  
 विकल्पेन लोपो निपात्यने ( उ० ४, ३४ ) । गच्छति यो,  
 भधिगम्यते वा शानार्थिभिः । यदुवा, ‘गाभृ प्रतिष्ठाद्धिस्तयोर्भन्थे  
 न’ भौवादिकः ( प्रा० ), अस्य त्वत्त्वं भधान्तादेराः, वा य नुम्  
 निपात्यते । प्रतिष्ठिता म्भिन् ल्घाने, लिट्स्वन्ते वा प्राथिभिः,  
 प्रथिता वा गयपयादिरूपेण गभीरा गम्भीरा । उन्नयोर्धि  
 निगमायन्वैर्धर्वायो ॥

(९) मन्द्रा । ‘मदि म्नुनिमोद्मद्व्यञ्जकान्तिगानिषु ( भृ०  
 प्रा० )’ । गच्छति स्वामिजेर्ष प्राप्नोति, भधिगम्यते वा तद-  
 धिभिः । “स मन्द्रया च त्रिदया ( ऋ० सं० ५, २, २२, ३ )”  
 —इति निगमः ॥

(१०) मन्द्राजनी । मन्द्रशब्दो व्याख्यातः । 'अज गति-  
क्षेपणयोः ( भू० प० )' ल्युट् । मन्द्रमजनं गमनं क्षेपणं प्रेरण-  
मुच्चारणं वा यस्याः सा मन्द्राजनी, पिप्पल्यादिषु द्रष्टव्यम् ।  
( ४, १, ४१ ग० ) "मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि ( ऋ० सं०  
७, २, २१, २ )" —इति निगमः ॥

(११) वाशी । 'वाश्ट्र शब्दे' दैवादिकः ( आ० ) । 'वसिष्ठ-  
पियजिराजिग्रजिध्वजिसदिहनिकमिवाशिवादिवारिभ्य इञ् ( उ०  
४, १२१ ) कर्मणि कारके वा दृश्यते, वाशिः । 'कृदि कारा-  
दक्तिनः ( ४, १, ४५ घा० )' —इति ङीप्, वाशी । "ते वाशी  
मन्त इप्पिणो अभी सौ ( १, ६, १३, ६ )" —वाशीभिस्त  
क्षताश्मन्मयीभिः ( ऋ० सं० ८, ५, १६, ४ )" —इति च निगमौ ॥

(१२) वाणी । 'वाणि शब्दे ( भू० प० )' । बाहुलकादिभू  
( उ० ४, १२१ ) ( ३, ३, १ ), ङीप् ( ४, १, ४५ घा० ) । "वाणीः  
पुष्टृतं घमन्तीः ( ऋ० सं० ३, २, २, १० )" —"अभियाणीर्ऋ-  
षीणां सप्त नूपत ( अ० सं० ७, ५, ६, ३ )" —इति निगमौ ॥

(१३) वाणीची । वाणी स्तुतिरूपां वाचमञ्जलि गच्छतीति  
विग्रहा 'ऋत्विगित्यादिना ( ३, २, ५६ ) किति, नलोपे, 'अचः  
( ६, ४, १३८ )" —इत्यकारलोपे 'अञ्जतेध्रौपसङ्ख्यातम् ( ४, १,  
६ घा० )" —इति ङीप् । "रथे वाणीव्याहिता ( ऋ० सं० ४, ४,  
१५, ४ )" —इति निगमः ॥

(१४) वाणः । वण्यते शब्दते वाणः । "अकर्तरि च कारके  
सम्भावयाम् ( ३, ३, १६ )" —इति घञ् । यदुवा वणनं शब्दनं



घाणः, माये यम् ( ३, ३, १८ ), अशंमादिवाद् ( ५, २, १२१ )  
 ह्युनिमती हि याक् । “दोना दसा वि दृक्षन्ति प्र पाजम् ( ऋ०  
 सं० ३, ६, १२, ४ )”—इति निगमः ॥

(१५) पविः । ‘पूम् पवने ( षष्ठा० उ० )’ ‘अच इः ( उ० ४,  
 १३४ )’—इति इप्रत्ययः । पुनाति हि याक् । ‘पावका न  
 सरस्यती ( ऋ० सं० १, १, ६, ३ )’—इति मन्थः । पूवने न  
 सङ्कीर्तनादिना, ‘घाचं शौरिकपालापप्रसङ्गे पुनामहे’ इत्युक्ते ।  
 पूवतेऽनयेति या शुद्धिकरणं हि याक् । ‘पवित्रं हि याम्  
 विदुषाम्’—इति माध्वयः । “घाणस्य चोदया पविम् ( ऋ० सं०  
 ७, १, ७, १ )”—इति निगमः ॥

(१६) भारती । ‘डु भृम् धारणपोषणयोः ( भू० उ० )’  
 ‘भृम्भृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्षिभ्योऽतच् ( उ० ३, १०१ )’  
 भरतशब्दात् ‘प्रहादिभ्यश्च ( ५, ४, ३८ )’—इति स्वार्थिकोऽणः  
 डीप् ( ४, १, १५ ) । विभर्त्ति जगद्वर्षप्रदानेन, स्यामिधेयं च  
 म्रियते ( प्राणिभिः व्यवहारसाधनत्वेन । अथवा ‘अग्निर्भरतः  
 प्राणो भूत्वा हवींषि विभर्त्ति’—इति वाजसनेयकम्, तदीया  
 भारती । तथाच ‘अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्’—इत्युपनिषत्  
 ( दे० उ० १, ६ ) । अथवा ‘भरतः ( निघ० ३, १८ )’—इति  
 ऋचिचङ्नाम, तदीया, स्तुतिसाधनत्वात् भारती । “आ भारती  
 भारतीभिः सजोषा ( ऋ० सं० २, ८, २३, ३ )”—इति निगमः ॥

(१७) धमनिः । धमतिर्गतिकर्मा ( निघ० २, १४ ), ‘अर्त्ति-  
 सुधुधम्यस्यश्चयितरिभ्योऽनिः ( उ० २, ६५ )’—इत्यनिप्रत्ययः ।

गत्यर्था बुद्धयर्थाः । गम्यते ज्ञायते अनया अर्थः, ज्ञायते वा विदुषद्भिः साध्वसाधुचिन्तानेन । यद्बुधा, 'धमति'—इति वधकर्म-स्वपि पठ्यते ( निघ० २, १६ ) । हन्यतेऽनया शापाक्रोशादिरूपयेति । तथाच 'घञ एव चाक्'—इति ब्राह्मणम् ( ऐ० ब्रा० २, ३, ३ ) । 'चाक्सायका घटनाभिःसरन्ति पौराहताः'—इति च महाभारतम् । "इन्द्रेपितां धमन्ति पप्रथन्नि ( ऋ० सं० २, ६, ४, ३ )" —इति निगमः ॥

(१८) नालीः । 'नल गन्धे ( भू० प० )' 'वसिषपियञ्जिरा-ञ्जिवञ्जि ( उ० ४, १२१ )'—इत्यादिना विहितः इन्द्रप्रत्ययो चाहुलकाद् भवति, 'कृदिकारात् ( ४, १, ४५ वा० )'—इति डीप् व्यत्ययेन सौर्विसर्जनीयः । 'गन्ध अर्दने ( चु० आ० )' 'अर्द हिंसायाम् ( भू० प० )' इति पठ्यते । गन्धनं हिंसात्मकं सूचनम्, सूचयति परमर्हाणि । "श्रमस्य घम्यते नालीः ( ऋ० सं० ८, ७, २३, ७ )" —इति निगमः ॥

(१९) मेना । 'मान पूजायाम् ( चु० आ० )'—इत्यस्मात् 'वहुलमन्यत्रापि इन्च् भवति ( उ० २, ४६ )'—इति घञना-दिन्च्, बहुलप्रहणाप्रलोपः । पूज्यतेऽनया गुर्वादिरुपदेशावाक्येन, पूज्या वा द्रियतात्वात् । श्रान्मेनां कृष्वन्नच्युतो भुषद्गोः ( ऋ० सं० ८, ६, १०३ )" —इति निगमः । 'मेनां गर्जितशब्दम्'—इति माधयः ॥

(२०) मेलिः । सम्पर्कार्थो धातुः ( चु० आ० ) । पूर्ववत् चाहुलकादिम् । समृक्ता ह्यर्थेन वाक् । तथाच—'चागर्था-

पिय समृक्तौ—इति ( रघो १, १ ) कालिदासः । “मेलि मन्त्र  
पिप्रोक्ष्यस्ये ( ऋ० सं० ३, १, २७, ४ )”—इति निगन्तः ।  
मत्वर्थोपस्य लुफि षाग्मिनमित्यर्थः । “मेलिः स्यान् प्राप्-  
योजनान्”—इति माधवः ॥

(२१) सूर्या । सत्तेर्गत्यर्थात् ( भू० प० ), सुयतेर्वा प्रेरणा-  
र्थात् ( तु० प० ) ‘राजसूर्यसूर्या ( ३, १, ११४ )’—इत्यादित्  
निपातनात् क्यपि सत्तेरुत्वं सुयतेर्वा रुडागमः । सति  
गच्छति स्तोतृन् प्रति, कर्णशङ्कुलि वा सुयति प्रेरयति बोध-  
नारूपा पुरुषादीनिर्दं कुर्वति । यद्वा, सुपूर्वादीरतेः ‘वृत्त्य-  
ल्युटो बहुलम् ( ३, ३, ११३ )’—इति कर्मणि क्यपि निपात-  
नाद्रूपसिद्धिः । सुष्टु ईर्ष्यते उच्चार्यते इति सूर्या । यद्वा  
‘पु प्रेरणे ( स्वा० उ० )’ ‘सुसूधीगृधिभ्यः कन् ( उ० २, २३ )’—  
इति व्रन्प्रत्ययः । प्रेर्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरा ‘उन्दसि स्वार्थे  
—इति यत्प्रत्ययः, सूर्या । यद्वा, सूरयो मेधाधिनः, नानर्हति  
‘उन्दसि च ( ५, १, ६७ )’—इति यत्प्रत्ययः । यद्वा, सूरिषु साधुः  
‘तत्र साधुः ( ४, ४, ६८ )’—इति यत् । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(२२) सरस्वती । सत्तेरसुन् ( उ० ४, १८४ ) सत् । गण-  
पदादिरूपेण प्रसरणमस्यास्तीति ‘अस्वायामेधास्त्रजो विनिः ( ५,  
२, १२१ )’ ‘बहुलं उन्दसि ( ५, २, १२२ )’—इत्युक्ते मनुषि-  
र्नाम् । यद्वा, सर इत्युदकनाम ( निघ० १, १२ ) । सत्तेस्त-  
दुपता वृष्ट्यधिदेवतात्वाद्दुदकयती हि माध्यमिका वाक् । सैव  
चासीन्नदी सरस्वती । तदुक्तं भाष्यकारेण—‘तत्रसरस्वती-

त्येतस्य नदीयन् देवातायश्च निगमा भवन्ति ( निद० २, २३ )  
 —इत्यादिना । “पाचका नः सुरस्वती ( ऋ० सं० १, १, ६,  
 ३ )” — इति निगमः देवतायाः । “इयं शुश्रुमेभिः ( ऋ० सं० ४, ७,  
 ३०, २ )” — इत्येषा नद्याः ॥

( ३ ) निचिन् । ‘विद ज्ञाने ( अदा० प० )’, निपूर्वः  
 ‘सन् द्विषद्द्रहदुह ( ३, २, ६१ )’ — इत्यादिना क्विपि [ अन्तर्णी-  
 गण्येधात्र विद्धिः ] नितरां वेदयति ज्ञापयति स्वमभिधेयम् ।  
 “जान् पूर्वया निचिदा हूमहे घषम् ( ऋ० सं० १, ६, १५, ३ )”  
 — इति निगमः ॥

( २५ ) स्वाहा । यस्य नास्ती यादृङ्निर्वचनं दृष्टं तत्सर्वं  
 सद्रूपेणैव लिख्यते । अथ निरुक्तम् — ‘स्वाहेत्येतन् सु भाहेति  
 या स्वा यागाहेति या स्व्यं प्राहेति या म्वाहुनं हविर्जुहोतीति या  
 ( निद० ८, २० )’ — इति । अस्य स्रन्दस्वामी — स्वाहेत्येतन्  
 म्वाहाटितिशब्दस्य पूर्वपदं म्वाहाकारान्तो होममन्त्राणां फर्कव्यः,  
 ‘न ह वै आहुतयो देवान् गच्छन्ति य अचपद्रुता या अम्वाहा-  
 रुता या भवन्ति ( शत० ब्रा० ६, ३, ६, १४ )’ — इतिधृतिः ।  
 म्वाहाकारस्य सामप्रदानत्वेन मन्त्रान्तेऽवश्यम्भाषित्याम् । अय-  
 मर्थः यस्यान्ते ध्रुयते स होममन्त्रः शोभनमर्थमाह । अथवा  
 यज्ञोपदेः स्वा स्वात्मीयता यागाहेति म्वाहाकाररूपा याश्च यज्ञा-  
 तिसृष्टेः स्व्यः । मध्यमा स्व्यं प्राहेति यज्ञमानस्य, स्व्यं हविः  
 यज्ञायै इत्तं तद्दृश्येन स्यागात्, तस्य यज्ञमानो स्व्यं प्राहेति  
 म्वाहा, सामप्रदानत्वं म्वाहाकारस्य स्पष्टमनेन प्रकारेण दर्शितं

स्वाहुतमित्यादिना । अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्टुमर्ष्यादया जुहोतीति, एवञ्च सति पूर्वकाणि निर्वचनानि ब्रूमः । इदन्तु जुहोतेरिति । अत्र भास्करमिश्रः—‘स्वयं स्वस्यती आह ब्रूते’ । ‘स्वैष ते वागित्यब्रवीत्’—इति ब्राह्मणम् । स्वयमेवाहेत्यस्यार्थस्य द्योतकोऽयं निपातः प्रदेशान्तरेऽपि किञ्चान्तसमुदायात्मनिपातः स्वाहेति । संस्कारविशेषानवधारणं प्रायगृह्यते । अत्र क्षीरस्यामी—‘सुष्टु भाह्वयति स्वाहा’ । भास्व्याहाशब्दो नाव्ययम् अप्यग्निजायावाचित्वमित्यर्थः । भास्वे तु स्वाहाशब्दस्य पाङ्नामत्वेनाभिव्यक्तेर्द्वैष्टानि निर्वचनानि लिखितानि, तेषु यथोच्छ्रितं तद् गृह्णन्तु विदुषांसः । तस्यापाचः पृथ्वी पृथिवी वाग्निश्चेति पाचोऽग्नेश्च कारणकार्यमात्र धूपने । ‘अग्निर्पाञ्च भूपा मुग्धं प्राविशत् ( वे० उ० १, १ )’—इति । तस्माद्गोर्वाचश्च सम्बन्धान् भगवती स्वाहा वागित्युच्यते । यानि वातारमन्थेन वागुच्यन्ते इति सन्देहः । त्रिगम्बुत्तमः स्वाहाकारपरि, भग्यत्रान्येनर्णीयः ॥

(२५) वानुः । ‘यस्य भाग्ये ( भृ० ५० )’, ‘यस्योर्ध्व ( उ० ३, ३२ )’ इति मुख्यतया, वाकारस्य गकारश्च । वानुः वाया सामानोऽर्थः । ‘वानु मिपति वं पिदे ( अ० नं० ६, ८, ४, १ )’—‘इन्द्रस्यैव वानुग भृष्य भात्री ( अ० नं० ७, ४, १३, ३ )’—इति च त्रिगम्बो ॥

(२६) इवजिः । इवृषांश्च पदेर्गन्त्येषांश्च ( दि० भा० ) । तत्रं वानुव्यः ( अ० ४, ११४ )—इतीन्द्रस्यैव वागुच्यते

पधालोपः, 'न पदान्तद्विघर्षचन ( १, १, ५८ )'—इत्यनेन जश्चिधि  
 प्रति स्थानिवद्भावनियेधात् 'भलां जश् भशि ( ८, ४, ५३ )'—  
 इति पकारस्य यकारः । उप समीपे भक्तानां गच्छति, उप  
 आचार्य्यसमीपे गम्यते इति घा । यद्वा, उपूर्वात् ददातेः ( जु०  
 उ० ), यतेः ( दि० प० ), दयतेः ( भू० आ० ) वा 'वृत्त्यल्युटो  
 बहुलम् ( ३, ३, ११३ )'—इति बहुलवचनात् 'उपसर्गे घोः किः  
 ( ३, ३, ६२ )'—इति किप्रत्ययः कर्त्तरि भवति यकारश्चोपजनः ।  
 उपेत्य ददातीत्यभिलषितम्, प्रयोक्तृणां, खण्डयत्यज्ञानं तर्कादि-  
 समये प्रतिवादिनां वा, रक्षति भक्तानिति घा उपधिः । "आघो-  
 पकतः पृथिवीमुपधिभिः ( ऋ० सं० ८, ४, २६, ४ )—उपधिर्ग्य-  
 त्तिसोमः ( ऋ० सं० ७, ३, २४, ५ )"—"शृण्व आयता मुपधिः  
 ( ऋ० सं० २, ४, ६, २ )"—इति निगमा ॥

(२७) मायुः । 'डु मिञ् प्रक्षेपणे ( ऋ० उ० )' । वृषापा-  
 जिमिस्वदिताध्यशुभ्य उण् ( उ० १, १ ), 'मीनातिमिनोतिदीडां  
 ल्यपि न्व ( ६, १, ५० )'—इत्यास्थम्, 'आतो युक् चिण्वृत्तोः ( ७,  
 ३, ३३ )'—इति युक् । क्षिप्यते प्रेर्यति उच्चार्य्यते इति मायुः,  
 प्रक्षिपति वृष्टयुदकं भूमाविति घा । "मिमाति मायुं ध्वसन्ताव-  
 धिश्रिता ( ऋ० सं० २, ३, १६, ४ )"—इति निगमः ॥

(२८) काकुन् । 'कैगैरे शब्दे ( भू० प० )' । सम्पदादि-  
 त्पात् ( ३, ३, ६४ घा० ) क्विप् । कानं शब्दनं करोतीति का,  
 मृगव्यादित्पात् कुः ( उ० १, ३६ ) घाहुलकात् तकार उपजनः ।  
 यद्वा, 'कक कक लौल्ये ( भू० आ० ), 'मृग्रीरुतिन् ( उ० १,

६१)'—इत्येव पाठुल्लफात् ( ३, ३, १ ) भस्मात् भवति चिच  
 फाकुत् । फकने चक्षुः भवति एकस्मिन्नर्थे न प्रतिनिष्टी-  
 त्यर्थाः, तथाहि शब्दा भनेकार्था यद्यपः, एकार्थाश्चकाद्यादिनाऽमि-  
 धीयमाना भनेकार्था भवन्ति । फकुदुष्यन्थानमास्यास्तीनि फाकुत् ।  
 मत्पर्योपस्य लुक्, छान्दसो दीर्घः, सत्यथा णोदरादित्यं इष्टः ।  
 “या ते फाकुम् सुरता या यष्टिा ( ऋ० सं० ४, ७, १३, २ )”  
 —इति निगमः ।

(२६) जिह्वा । ‘शेषयत्हजिह्वाप्रोवाप्यामीवा’—इतिनिपाताः ।  
 ‘लिह आस्वादने ( अदा० उ० )’, यप्रत्यये, अस्यादेर्जकारो  
 निपात्यते । लिट्यास्वादयत्यनया प्रत्यविषयाचसारान् । यद्,  
 आह्वयतेः ( भू० उ० ) जुहोतेः ( जु० प० ) घायं यङन्तस्य  
 कः, सम्प्रसारणम् ‘अभ्यस्तस्य च ( ६, १, ३३ )’—इति,  
 सम्प्रसारणे च ‘न धातुलोप आर्द्धधातुके ( १, १, ४ )’—इति  
 गुणनिषेधादुवडादेशे रूपम् । जोहुवाति पुनः पुनराह्वयति शब्दं  
 करोति रसान् घादत्ते जुहोत्यस्यात्मनि, जोहुया सति ओकारस्ये-  
 कारादेशे उकारलोपे च जिह्वा । “पुरो विषा दधिरे मन्द्रजिहम्  
 ( ऋ० सं० ३, ७, २६, १ )”—“अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिहम् ( ऋ०  
 सं० २, ५, १२, १ )”—इति च निगमी ॥

(३०) घोषः । ‘घुष शब्दार्थः ( भू० प० )’, ‘हलश्च ( ३, ३,  
 २१ )’—इति घञ् । घुष्यते शब्दयते घोषः । “उतो पितृभ्यां  
 विदानु घोषम् ( ऋ० सं० ३, १, २, १ )”—“इन्द्रे घोषा संसु-  
 ( ऋ० सं० ६, ४, ४३, १ )”—इति च निगमी ॥

(३१) स्वरः । 'स्वृ शब्दोपतापयोः ( भू० प० )', पुंसि सप्त-  
 आषां घः ( ३, ३, ११८ ) । स्वर्ण्यते शब्दयतेऽनेन देवता, उप-  
 सव्यतेऽनया मर्मस्पर्शप्रयुक्तयेति वा । स्वरतिर्त्वेतिकर्मा घा  
 ( निय० ३, १ ) । स्वर्ण्यते स्तूयते देवतात्वात् । 'गोचरसञ्चर ( ३, ३,  
 ११६ )'—इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् घः । यद्वा, स्वरति  
 देवतामिन्द्रादिषु, पचायच् ( ३, १, १३४ ) । "स्वर्ध्व मे श्ठीकध्व  
 मे ( य० घा० सं० १८, १ )" —इति निगमः ॥

(३२) शब्दः । शपत्याक्रोशे शाशपित्यां दानी । अस्य  
 घृत्तिप्रत्यः—'शपते अनेनेति शब्दः संसृज्ता चाक् । भ्रूतां तृतीये  
 इति योगधिभागान् अचतुर्येऽपि तृतीयं भवति'—इति । 'शब्द्वर्न  
 शब्दः'—इति क्षीरस्वामी । खेऽन्तरिक्षे शब्दं करोतीति घा ।  
 "शब्दो रोगिणी मीमांसा च"—इति निगमः ॥

(३३) स्वनः । 'स्वन शब्दे ( भू० प० )' 'स्वनहसोर्वा ( ३, ३,  
 ६२ )'—इत्यप् । स्वन्यत इति स्वनः । "सिन्धोरुर्मैरिव स्वनः  
 ( ऋ० सं० ७, १, ७, २ )" —इति निगमः ॥

(३४) ऋच् । ऋच्यते ( तु० प० ) स्तूयतेऽनया । यद्वा,  
 स्तूपते स्वयं देवतात्वात् । 'ऋच स्तुती ( तु० प० )'—इत्यस्यात्  
 सम्पदादित्यात् ( ३, ३, ६४ घा० ) क्विप् । "ऋन्वा वने मानूचः  
 ( ऋ० सं० ८, ५, २७, ३ )" —इति निगमः ॥

(३५) होत्रा । 'हु दानादानयोः ( जु० प० )'—'हुयामाधु-  
 भसिम्यस्त्रन् ( उ० ४, १६६ )' । हुयतेऽनया मन्त्ररूपया हविः,  
 हुयतेऽस्यां प्राणः, हुयते घा प्राणः । तथाच—'घाचि हि प्राणं



शुद्धमः प्राणे वा वागम्'—इत्युपनिषत् ( वे० ) । यद्वा, होवेति  
 यज्ञनाम ( निघ० ३, १७ ) 'द्वयतेऽस्मिन् इषिरिति यज्ञश्च वागित्स्व-  
 ष्यते तत्साध्यस्यात् । पार्श्वं यच्छति वाग्ये यमः'—इति ब्राह्मणम्  
 ( वे० ब्रा० ५, ४, ५, ४, ५ ) । अतुयात्प्रैवेतु वरामे प्रैवे—'घनेन  
 तदोत्रया चिन्तन्त्या ( ऋ० सं० २, १, १७, २ )'—इति निगमः  
 'पीतिहोत्रं स्या कथे ( ऋ० सं० ४, १, १६, ३ )'—इति  
 निगमः ॥

( ३६ ) गीः । गृणातिर्चर्तिकर्मा ( निघ० ३, १४ ), औणादिक  
 क्विप्, 'अत इदातोः ( ७, १, १०० )' 'घौरुपधाया दीर्घश्क  
 ( ८, २, ७६ )'—इति दीर्घः, हल्ङ्यादिलोपः ( ६, १, ६८ ), रेफस्य  
 विसर्जनीयः । गृणात्यनया गीः । "तमिदुषर्दन्तु नो निष्  
 ( ऋ० सं० ६, १, १०, ३ )"—इति निगमः ॥

( ३७ ) गाथा । 'गै शब्दे ( भू० प० )' अर्चतिकर्मा च ( निघ०  
 ३, १४ ), 'उपिकुपिगार्त्तिभ्यस्त्वं ( उ० २, ३ )' । गायतीत्यसौ  
 देवताः, 'गायन्ति तामिति वा गाथा । "तं गाथया पुराण्या  
 ( ऋ० सं० ७, ४, २५, ४ )"—"युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया  
 ( ऋ० सं० ६, ७, २, ३ )"—इति निगमो ॥

( ३८ ) गणः । गण 'गणने' चुरादिरदन्तः ( प० ) । 'अकर्त्तरि  
 च कारके सम्ज्ञायाम् ( ३, ३, १६ )'—इति घञ् । 'अतो लोपः  
 ( ६, ४, ४८ ) । गण्यते वा गणः, अतो लोपस्य स्थानिवद्भावात्  
 भवति । गणेति केचित् पठन्ति । निगमोऽन्वै-

(३६) घेना । दधातेर्लटः शानचि व्यत्ययेन पृथ्वाभ्यासलोपी दधाना स्वमभिधेयं चर्षप्रदानेन लौकिकाय वा । यद्वा, 'धेद् पाने (भू० प०)' 'घेट इध (उ० ३, १०)'—इति नप्रत्ययः इकारश्चान्ता-  
द्वैशः, गुणः, घयन्ति सामिति घेना । पानमत्र स्वीकारः । यद्वा,  
आस्वादः । धीयते पीयते आस्वादते घानेन, घयन्ति प्राणमिति  
वा घेना । तथाच—'तं माता रे हि स उ रेहि मातरम्'—इति  
श्रुतिः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४) । यद्वा, 'धिविः प्रीणनार्थः  
(भू० प०)' बाहुलकात् नप्रत्ययो नकारघकारयोर्लोपश्च, गुणः,  
घेना । प्रीणयति हि घाक् सुप्ठु प्रयुक्ता । 'घेना घाक् प्रीणनादि  
घा'—इति माधवः । "घेना जिगाति दाशुषे (ऋ० सं० १, १,  
३, ३)"—जनानां घेना अवचाकशद्गृपा (ऋ० सं० ७, ८,  
२५, १)"—इति च निगमी ॥

(४०) प्राः । गमेर्धातोः (भू० प०) 'धापृथस्यञ्यतिभ्यो नः  
(उ० ३, ६)'—इति बाहुलकात् नप्रत्ययो भयति टिलोपश्च ।  
टाप् (४, १, ४) । गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः । जानन्ति काममिति  
प्राः । यद्वा, गच्छति, यक्षोष्यभूत् । 'अभि यक्षं गृणीहि नो  
प्रायः (१, १, २८, ३)' इत्यत्र 'छन्दांसि घै ग्नाः'—इति प्राक्षणम्  
—इति माधवः । तस्मात् छन्दासां गायत्र्यादीनां धाप्रूपत्वात्  
ग्नाव्यपदेशः । निगमीऽन्येषणीयः ॥

(४१) विपा । 'विप् प्रेरणे (सु० प०)' । सम्पदादित्वात्  
(३, ३, १४ पा०) विप् । तृतीयैकवचनम् । प्रेर्यते मनसा  
विपा । 'मनसा वा इपिता घाघदति (ऐ० प्रा० २, १५)'—इति

घातनम् । “वदजाय विना गिग (अ० सं० ४, ४, ६, १)” — इति  
निगमः । गिरेति पञ्च निरुपया योजनीयम् ॥

(४२) नना । न गच्छति विशृणुत्यात् धान्यात् धनावरणानि  
न गच्छति लज्जामिति वा । ‘नन्निकाऽनागतार्सवा’ — इत्यमरः  
(२, ६, ८) । नना कत्या । नाशब्दः पूर्वमेव निरुक्तः, इह  
नपूर्वः । नायं नमः, किन्तु प्रतिषेधार्थोऽयं निपातः, अतः ‘न होषो  
नमः ( ६, ३, ७३ )’ — इति न भवति । “नना” — इति केचित् ।  
नमतेर्नप्रत्ययो यादुल्लफान्मकारलोपश्च । नमयत्यनयेति नना ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४३) कशा । ‘काश्ट दीती (भू० आ०)’ । अन्तर्णीतप्यर्थः ।  
पचायच् ( ३, १, ११४ ) । आकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम् । प्रकां-  
शयत्यर्थान् । यद्वा, खेशया सर्ती वर्णव्यत्ययादिना कशा, धान्धि-  
मुखान् काशते तत उपलब्धेः । यदुवा, ‘कश शब्दे (भू० प०)’ ।  
अत्र शब्दायते कशा । यदुवा, ‘कश गर्तो (भू० प०)’ अच् ( ३, १,  
११४ ) । गच्छति गन्तव्यम् । “या वां कशा मधुमती (अ० सं०  
१, २, ४, ३)” — इति निगमः ॥

(४४) धिपणा । धारयत्यर्थमिति धीः बुद्धिः । धारयति  
कर्त्तारं फलप्रदानेनेति धीः कर्मबुद्धिः कर्म वा । सतीति  
सम्मज्जते इति सतीतेः (घण्टु त० उ०) पचायचि ( ३, १, ११४ )  
पृषोदरादिन्वात् ( ६, ३, १०६ ) पूर्वपदह्रस्वत्ये च धिपणा ।  
यद्वा, ‘धिं धृषां प्रागल्भ्ये (सा० प०)’ । ‘धृषेधिप् च सञ्ज्ञा-  
, )’ — इति ष्युप्रत्ययो धिपादेशश्च धिपणा ।

प्रगल्भसमर्था रक्षितुं जगद् वर्षप्रदानेनेत्यर्थः । यद्वा, 'दिधि-  
 वामि विल्लैः ( ऋ० सं० २, ७, २३, १२ )'—इत्यत्र स्कन्दस्वा-  
 मिना पठितात् 'धिपि धारणे'—इत्यस्मात् 'धिपशब्दे ( जु० प० )'  
 —इति धातुपाठपठिताद्वा बाहुलकात् क्युप्रस्ययो धिपणा  
 याचि स्त्रामिधेयं धारयति सुम्बन्धस्य नित्यत्वान् । शब्दायत्ते  
 धा मेघे अधिधिता 'मिमाति मायुं धिपणावधिधिता ( ऋ०  
 सं० २, ६, १६, ३ )'—इति ध्रुतिः । "आपध मित्रं धिपणा  
 च साधन् ( ऋ० सं० १, ७, ३, १ )"—इति निगमः ॥

( ५० ) नीः । 'मुद प्रेरणे ( जु० उ० )' 'लानुदिभ्यां डौ  
 ( उ० २, ६० )'—इति डौप्रत्ययः । नुयते प्रेर्यते मूलाधारा  
 दिव्यानेभ्यः प्राणेन । नमनेर्वा ( भू० प० ) धाहुलकात् ( ३, ३, १ )  
 डौ, मय्यते धा देयतात्वान् । "सुतर्माणमधिनाचं रुहेमेति  
 यज्ञो वै गुतर्मा नीः कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नीर्वाग्धै सुतर्मा नीः  
 ( ऐ० प्रा० १, ३, २ )"—इति प्राहजन्, "समितो नश्चाहितम्  
 ( प्र० सं० ८, ७, २३, ४ )"—इति च निगमा ॥

( ५६ ) भध्तरम् । 'भग् इषानी ( स्वा० भा० )' 'भरा भोजने  
 ( ऋ० प० )' । 'भदोः सरत् ( उ० ३, ६७ )'—इति सरत्प्रत्ययः,  
 प्रधादिना ( ८, २, २६ ) क्त्यम्, 'पदोः कः सि ( ८, २, ४१ )' ।  
 भग्नुने धोनुं स्वाभिधेयम्, ध्याप्नोति धा भधाति धा हविः ।  
 भध्तेर्वा ( ऋ० प० ) धाहुलकात् सरत् नकात्लोपध । 'सरि च  
 ( ८, ४, ५० )'—इति चत्वंम् । भनक्ति स्रह्यति सेचयति  
 पौन भूमिम् । यद्वा, नभ्रपूर्वात् शक्तेः ( भू० प० ) पश्चात्

( ३, १, ११३ ) । न क्षरति, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः । 'घाघै समुद्रो न वै घाक् क्षीयते'—इति ( ऐ० ब्रा० ५, ३, १ ) ब्राह्मणम् । "अक्षरेण प्रति मिम एताम् ( ऋ० सं० ७, ६, १३, ३ )" —इति निगमः । 'घाचा विरूपनित्यया'—इत्यर्थं माधवोऽघादीत् । "उपाक्षरा सहस्रिणी ( ऋ० सं० ५, २, १६, ४ )" —इति च निगमः ॥

( ४७ ) मही । ध्युत्पादिता पृथिवीनामसु ( १, १४ ) । महते पूज्यतेऽनया देयता इति घा । "अमात्रं त्या धियणा तित्येदे मही ( ऋ० सं० १, ७, १५, २ )" —इत्यत्र घाङ्नामत्थमपि युज्यते ॥

( ४८ ) अदितिः । ध्युत्पादिता पृथिवीनामसु ( १, १४ ) । अदीना, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः । "अनागमो आदित्ये स्याम ( ऋ० सं० १, २, १५, ५ )" —इति निगमः ॥

( ४९ ) शर्वा । अत्र क्षीरस्वामी—'शच श्यच गर्तो' । शच-  
र्त्तानि तु धानुपाटे गत्यर्त्तो न दृष्ट । 'शच व्यक्तायां घावि  
( ऋ० ब्रा० ) ' इत् सर्वधानुभ्यः ( उ० ४ पा० ११४ ) । 'हृदिका-  
राम् ( ४, १, ४२ पा० )' —इति ङीप् । शचने गच्छति यत्रम्,  
शचने गम्यते आचनेऽनवाङ्ग्यं, शचने व्यक्तां घाविं करोतीति  
वा । "शर्वाभेदस्य उत दक्षिणामिनेन्द्रियायस्यो नरकं पताम  
( निरु० १, ११ )" —इति निगमः ॥

( ५० ) निरुक्ता नृप्येभ्य ( १० १३ ) । "यडात् पर-  
( ऋ० सं० १, ७, ५, ४ )" —इति निगमः ॥

(५१) अनुष्टुप् । स्तोमतिवृद्धयर्थः ( भू० भा० ) । क्विप् । अनुपूर्वेण क्रमेण, पूर्वमकारात्मना ततः स्पर्शादिभिर्व्यंज्यमाना षट्ते । तथाचोपनिषत्—‘अकारो वै सर्वा वाक् सैव स्पर्शोऽप्यभिर्व्यंज्यमाना यद्वा नानारूपा ‘परा’ ‘पश्यन्ती’ ‘मध्यमा’ ‘वैखरी’ इति । तथाच ‘विरूपं षक्ति वाक् तावकं षपुः’—इति संवित्प्रकाशे घामनदत्तः । ‘ध्वनिः घर्णः पदं वाक्यमित्याहुः पदचतुष्टयम् । ब्रह्माः सूक्ष्मादिरूपेण वाग्देवीं तामुपासहे’—इति श्रीभोजदेवः । अतिस्तुतिषु ‘चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि ( निरु० १३, ६ )’—इत्यत्र निरुक्तथा एव वा वृद्धिः प्रतिपादिता । यदुवा, पूर्वं पञ्चशदक्षरात्मना तन्नो गद्यपद्यादिरूपेण षट्ते । तथाहि—‘परिमिता षणां अपरिमितां वाचो गतिमाप्नुवन्ति’—इति भगवानाश्वलायनः । यदुवा, स्तोमतिरघंत्तिकर्मा ( निघ० ३, १४ ) । अनुपूर्वेण स्तोति देयताः । “अनुष्टुभमनु च घर्ष्यमाणमिन्द्रम् ( ऋ० सं० ८, ७, १०, ४ )” —इति निगम ॥

(५२) घेनुः । घेनुपाने ( भू० प० ) । ‘घेट एव ( उ० ३, ३३ )’—इति नुप्रत्ययः, एकारोऽन्तादेशः । घयति तामिनि घेनुः घेनुपाने हि वा तन्प्रवृत्तवृष्टिद्वारेण, घेनुपदोऽगधी सर्वकामान् इति वा । ‘अधेन्याः धरति माययैव वाचं शुभ्रुषाऽ’ अरुत्ता-मपुण्याम् ( ऋ० सं० ८, २, २३, ५ )—इति धृतिः । “गौर्गोः कामदुषा, सम्पक् प्रपुनर स्मर्ष्यते शुभैः”—इति दण्डी । तथा-त्यागमः—‘पक्वः शब्दः सम्पक् षातः शुष्टु प्रपुनः स्वर्गे लोके च

कामधुग् भवति ( शि० भा० )—इति । “अभि० सप्त धेनवः  
( ऋ० सं० ७, ३, १६, ५ )”—“नेष्टुः सचन्त धेनवः ( ऋ० सं० २,  
५, २६, ५ )”—इति च निगमौ ॥

( ५३ ) घल्गुः । ‘घल् संवरणे ( भू० आ० )’ । ‘घल्गुक् च  
( उ० १, १६ )’—इत्पुप्रत्ययः । संवृणोत्याच्छन्दयति । जान्  
व्याप्नोतीति याचन् । यद्गुहा, घल्गतिः शब्दार्थः ( भू० प० ), याहु-  
लकादुप्रत्ययः । गर्जितादिलक्षणं शब्दं करोति घल्गुः ।  
“अयं नामा घदति घल्गु धो गृहे ( ऋ० सं० ८, २, १, ४ )”—  
इति निगमः ॥

( ५४ ) गल्दा । ‘गल् अदने’ भौवादिः ( प० ) । गलनं पूरणं  
कामानां, गल्ः पूरणार्थः स्कन्दस्वामिनोक्तः, तद्ग्राति । ‘अतो-  
ऽनुपसर्गे फः ( ३, २, ३ )’ गल्दा । निगमोऽन्येषणीयः ॥

( ५५ ) सरः । ‘सृगतौ ( भू० प० )’ असुन्प्रत्ययः ( उ० ४,  
१८४ ) । गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः । सरति जानाति सर्यं देवता-  
त्यान्, शायते वा विद्वद्भिः, सरति गच्छत्येव घाहता । “सरो  
न पर्णमभितौ घदन्तः ( ऋ० सं० ५, ७, ४, २ )”—इति निगमः ।  
अत्र प्रकरणान् स्तोत्रशस्त्रात्मिका धामुच्यते ष्यं माधय घेच्छन् ॥

( ५६ ) सुपर्णौ । सुपर्णशब्दो रश्मिनामसु व्याख्यातः ( १, ५ ) ।  
‘पाककर्णोपर्णोपुष्पकल्मूद ( ४, १, ६४ )’—इत्यादिना ईत् ।  
निगमोऽन्येषणीयः ॥

( ५७ ) वेङ्गुः । ‘मा ईर्ता ( ऋदा० प० )’—कान्तिं करोतीति  
किञ्चिद् विगृह्य करोनेरीणादिके कप्रत्यये ईत्ने ‘उदोच्छगूर्वस्य

(७, १, १०२) — 'बहुलं छन्दसि (७, १, १०३)' — इति ऋकारस्या-  
नोप्यपूर्वस्यापि उकारो मकारस्य एकारेण आकारस्य एकारेण  
च व्युत्पत्तिश्छान्दसत्वात् वेकुरा दीर्घकारिणी प्रयोक्तुः ।  
'वेकुरानामसि जुष्टा (ता० म० ब्रा० १, १, ३)' — इति निगमः ।  
छन्दोगानां सामकल्पे पठितोऽयं मन्त्रः । 'व्यन्नेर्व्योतिकर्मणः  
वेकुरा' — इति भरतस्वामिभाष्यम् ॥

इति सप्तपञ्चाशत् षाड्नामानि ॥ ११ ॥

अर्णः (१) । क्षोदः (२) । क्षन्नः (३) ।

नभः (४) । अम्भः (५) । कन्नन्धम् (६) ।

सलिलम् (७) । वाः (८) । वनम् (९) ।

घृतम् (१०) । मधु (११) । पुरीषम् (१२) ।

पिप्पलम् (१३) । क्षीरम् (१४) । त्रिपम् (१५) ।

रेतः (१६) । कशः (१७) । जन्म (१८) ।

बृबूकम् (१९) । वुसम् (२०) । तुग्र्या (२१) ।

बुर्वुरम् (२२) । सुक्षेम (२३) । धरुणम् (२४) ।

सिरा (२५) । अरिन्दानिः (२६) । ध्वस्मन्वत्

(२७) । जामि (२८) । आयुधानि (२९) ।

क्षपः (३०) । अहिः (३१) । अक्षरम् (३२) ।



स्रोतः (३३) । तृप्तिः (३४) । रसः (३५) ।  
 उदकम् (३६) । पयः (३७) । सरः (३८) ।  
 भेषजम् (३९) । सहः (४०) । शवः (४१) ।  
 यहः (४२) । ओजः (४३) । सुखम् (४४) ।  
 क्षत्रम् (४५) । आवयाः (४६) । शुभम् (४७) ।  
 यादुः (४८) । मृतम् (४९) । भुवनम् (५०) ।  
 भविष्यत् (५१) । महत् (५२) । आपः (५३) ।  
 व्योम (५४) । यशः (५५) । महः (५६) । सर्गा-  
 कम् (५७) । स्वृतीकम् (५८) । सतीनम् (५९) ।  
 गहनम् (६०) । गभीरम् (६१) । गम्भरम् (६२) ।  
 ईम् (६३) । अन्नम् (६४) । हविः (६५) ।  
 सद्य (६६) । सदनम् (६७) । ऋतम् (६८) ।  
 योनिः (६९) । ऋतस्य योनिः (७०) ।  
 सत्यम् (७१) । नीरम् (७२) । रयिः (७३) ।  
 सत् (७४) । पूर्णम् (७५) । सर्वम् (७६) ।  
 अक्षितम् (७७) । वर्हिः (७८) । नाम (७९) ।

सर्पिः (८०) । अपः (८१) । पवित्रम् (८२) ।  
 अमृतम् (८३) । इन्दुः (८४) । हेम (८५) ।  
 स्वः (८६) । सर्गाः (८७) । शम्बरम् (८८) ।  
 अभ्रम् (८९) । वपुः (९०) । अम्बु (९१) ।  
 तोयम् (९२) । तूयम् (९३) । कृपीटम् (९४) ।  
 शुक्रम् (९५) । तेजः (९६) । स्वधा (९७) ।  
 वारि (९८) । जलम् (९९) । जलापम् (१००) ।  
 इदम् ( १०१ ) । इत्येकशतमुदकना-  
 मानि ॥ १२ ॥

‘उदकनामान्युत्तराण्येकशतम् ( निरु० २, २४ )’—

(१) अर्णः । ‘ऋ गती (भू० प०)’ । ‘उदके मुद् च (उ० ४, १६२)’—इति अर्त्तसुन् प्रत्ययः । अर्णति तत् प्राणिभिरित्यर्थः । ऋच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा अकारान्तोऽप्यस्ति । ‘ऋ गती (षया० प०)’ पचायच् (३, १, १३४) । ऋणाति गच्छति दिवो भूमिं घृणमाणम् । “सृजदर्णास्यव ययुधा (ऋ० सं० २, ४, १६, ४)” —“अग्ने दिवो अर्णं मच्छा जिगाति (ऋ० सं० ३, १, २२, ३)” —इति निगमौ ॥

(२) क्षोदः । ‘धुदिद् सम्प्रथणे’ औघादिः स्वरित् । असुन् (उ० ४, १८४) । सुपते क्षोदः । धुर्णं हि जलं पर्यतादिभ्यः

शिलादिष्वधःपननात् । “नाया न क्षोः प्रदिराः पृथिव्या  
(ऋ० सं० ८, १, १८, ७)”—“यामो रसाद्दसोः पिपित्त्वा  
(ऋ० सं० १, ७, ३५, २)”—इति च निगमौ ॥

(३) क्षम । ‘क्ष्म म्येष्ये (सौ०)’—इति स्कन्दसाम्नी ।  
‘क्ष्म गतिर्हिसनयोः (सौ०)’—इति सुषोधिर्नाकारः । ‘अन्वे-  
भ्योऽपि दृश्यते (३, २, ७५)’—इति मनिन् । क्ष्मीति पिपा-  
सादनियर्त्तने । स्वकार्ष्ये स्थिरं भवतिः जलाशयं व्याप्य स्थिरं  
भवतीति घा । तथाच ‘स्थायराद्गु गृह्णामि’—इति ध्रुतिः, गता-  
घर्णं सोरसमित्यर्थः । दिनस्ति पिपासामुष्णं घा अतीप्सितं वा  
पुरुषम् । “क्ष्ममेवायंषु तर्त्तरीथ उग्रा (ऋ० सं० ८, ६, २, २)”  
—इति निगमः ॥

(४) नमः । ‘णह वन्धने (दि० उ०)’ ‘नहेर्दिवि भध (उ० ४-  
२०५)’—इति विधीयमानोऽसुन् भकारादेशश्च बाहुलकादुदकेऽपि  
भवतः । नद्यते हि तन्मेघैर्दिवि भूमौ सेचादिभिः, नहति  
प्राणिनां मनांसीति घा । प्राणिनो हि यत्रोदकं विद्यते तत्रैव  
स्थातुं मनः कुर्वते । तथा—‘समनसः खलु वै पशवोऽनावृतास्ते  
पशवो हि समनसः’—इति ध्रुतिः । न न भातीति घा, एकस्य  
नञो लोपः इतरस्य नलोपाभावः । भातेरसुनि टिलोपश्च बाहुल-  
कात् । भात्येव स्वया दीप्त्या देयतात्वात् । यद्वा, नम इव  
नमः । तथाभ्वरनिर्वचने ‘अम्बुवद्वाजते’—इत्यादिना प्रत्येन  
आकाशस्य जलसाम्यमुक्तम्, साम्यस्योभयनिष्ठत्वात् अत्र जल-  
मप्याकाशसदृशमित्युच्यते । “मदच्युतमोशानं नमोजाम् (ऋ०

३, ७, २५, ४)"--"नभोवसानः परियास्यध्वरम् (ऋ० सं० ३, ८, ५)"--इति च निगमौ ॥

(५) अम्भः । 'आप्लु व्याप्तौ (स्वा० प०)' । उदके नुम्भौच ३० ४, २०४ ), अत्रापौ ह्रस्वोऽसुन्निति ( उ० ४, २०२ ) च ति । व्याप्नोति सवमम्भः । तथाचाथर्वणी श्रुतिः--'सर्व-  
मम्भः ( अथ० ब्रा० )--इति, 'आपो वा इदं सर्वम् ( अथ० १ )--इत्यादिरनुषाकश्च । "अम्भः किन्नासीद्गु गहनं गभीरम्  
० सं० ८, ७, १७, १)"--इति निगमः ॥

(६) कयन्धम् । यन्धिरनिभृतत्वे ( निह० १०, ४ )' निभृतं  
ब्रह्मतोऽन्यदनिभृतमचञ्चलम् तदनिभृतं, कयन्धः कमनीयञ्च  
यन्धं चेत्यर्थः । फमेर्डप्रत्यये कः, यन्धेः पचाद्यचि यन्धः  
। निर्वाहः । यद्वा, कं सुखं यध्नाति स्नानपानादिना । कर्म-  
न् । यवयोरविशेषान् षकारः, कयन्धम् । नीचीनयारं वरणः  
यन्धम् ( ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३ )" --"अर्यमणो न भरतः  
यन्धितः ( ऋ० सं० ४, ३, १५, ३ )" --इति च निगमौ ॥

(७) सलिलम् । 'सल गतौ ( भू० प० )' । 'सलिकल्प-  
प्रहिमद्भिभण्टिशण्डिषिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच् ( उ० १,  
१ ) । सलति गच्छति निम्नं देशं, गम्यते प्राणिभिरिति वा ।  
तीरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति ( ऋ० सं० २, ३, २२, १ )" --  
इति निगमः ॥

(८) घाः । 'घृन् घरणे ( स्वा० उ० )' । स्वार्थिकोऽण्  
न्वसः, तदन्तान् क्विप्, अणि लोपः, हल्ङ्घ्यादिलोपः, रैफस्य

विसर्जनीयः । । वृत्तं हि तदिन्द्रेण । तथा च धृतिः—‘अपकारं  
स्यन्दमाना अधीचरत वाहिकम्’—इति । इन्द्रो दिवः शक्तिनि-  
र्देशः तस्मादर्णमघो हितमिति । “घार्णं पथा रघ्ये ष सार्तव  
( ऋ० सं० २, ५, २५, १ )”—इति निगमः ॥

(६) घनम् । “घन पण सम्भक्तौ ( त० आ० )” । पुंसि  
सञ्ज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ ) । घन्यते सेच्यते घनम् ।  
“यथा चातो यथा घनम् ( ऋ० सं० ४, ४, २० )”—“सोमो  
पिबान्यतसा घनानि ( ऋ० सं० ८, ४, १४, ५ )”—इति च  
निगमौ ।

(१०) घृतम् । ‘घृ घृ सेचने ( भू० प० )’ । ‘अञ्चिघृसिम्भ-  
सः ( उ० ३, ८६ )’—इति कप्रत्ययः । सेचयत्यनेन भूमिं षरण-  
तिञ्चयनेनेति घा । ‘क्षरणं निपानं हरयः सुपर्णाः ( मं० सं०  
१, २२, ८, ४७ )’—इत्यत्र ‘घृतमित्युदकनाम ( निघ० १, १३ )  
त्रिघर्त्तः सिञ्चनिकर्मणः ( निघ० ७, २५ )’—इति भाष्यम् । घृत्त-  
‘घृ क्षरणदीप्स्योः ( तु० प० )’ । गत्यर्थाकर्मक्षयादिनाऽकर्मक-  
स्यान् कर्त्तरि कः ( ३, ५, ७२ ) । त्रिघर्त्ति क्षरति मेघान् पर्यन्ता-  
दिभ्यो वा, दीप्सने वा म्यया दीप्स्यवा । “भादिदुपुनेन वृथिषी  
प्युदने ( ऋ० सं० २, ३, २३, १ )”—इति निगमः ।

(११) मघुः । मेघोदरघर्त्ति सञ्चितं मघ्वित्युच्यते । तत्र  
पुरवैपुतात्मा दक्षमानं सरः मघर्त्तेन तद्गुणेनेष वायुना घ्यायमानं  
घमन्ति ( मं० प० ) । घमनिर्गतिकर्मा ( निघ० २, १५ ) वा घमनी-  
तस्यर्त्तौ निष्काल्ये द्रष्टव्यः निष्काल्ये निष्काल्ये हि तर्कणम् ।

पदा, 'मद् वृत्तौ (दि० प०)' । अस्माद्वाहुलकादुप्रत्ययो धान्ता-  
देशश्च । माघन्ति हि तेन पीतेन प्राणिनः । पद्म, मधुचन् स्वादु-  
त्वात् मध्यित्युच्यते । इमानि स्कन्दस्वामिनिर्वचनानि । वैया-  
करणपक्षे तु 'मन ज्ञाने (दि० आ०)'—इति, अस्मात् निदिति (उ०  
१, ६) घर्त्तमाने 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिघतश्च  
(उ० १, १८)'—इत्युप्रत्ययो धौऽन्तादेशश्च । मन्यते अतिशयेन  
जनैः इति मधु । 'मननीयं मधु'—इति महभास्करमिश्रः ।  
"विद्वान् मध्य उज्जभारा इरो कम् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ५)"—  
इति निगमः ॥

(१२) पुरीषम् । 'पृ पालनपूरणयोः (जु० प०)' । 'शृपृभ्यां  
किघ (उ० ४, २७)'—इति ईपनप्रत्ययः । 'उदोऽप्यपूर्वस्य (७,  
१, १०२)'—इति लृट्परत्वम् । पूरयति जगन् प्रलयकाले, पूर्व्या-  
तेऽनेन तद्वाक्कादि, पालकं वा जगतः शम्बोत्पत्तिहेतुत्वात् ।  
प्रीणातेषां (मथा० उ०) वाहुलकान् क्रीपनप्रत्ययः, ईकारस्यो-  
कारादेशः स च पकारान् परो द्रष्टव्यः । प्रीणाति जगन् पुरीषम् ।  
"उचनन्समुद्रादुत वा पुरीषान् (ऋ० सं० ७, १, ११, १)"—इति  
निगमः ।

(१३) पिप्पलम् । 'पृ पालनपूरणयोः (जु० प०)' । 'कल  
पृपृपादिभ्यः'—इति कलप्रत्यये 'उदोऽप्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'  
—इति 'बहुलम्' इति (७, १, १०३)—इति बहुलघञनाम् उत्था-  
भाये, वाहुलकस्यान् द्विस्ये, मभ्यात्तस्य उत्तरस्ये, 'भक्तिविपत्तौश्च  
(७, ४, ७३)' 'बहुलम्' इति (१, ४, ७८)—इति, उत्तरस्य

पकारस्य द्वित्वमृकारलोपश्चापि । पिपत्ति पिप्पलम् । पुं  
 समानार्थम् । 'अपि वृवते'—इति निरुक्ताः—इति क्षीरस्वाम  
 वृवतेऽपि । 'प्लुङ्गतौ (भू० आ०)' । गच्छत्यपि । अपिशब्द  
 तिष्ठतीति च गम्यते । तथाहि—जलं नदीषु प्रवाहवत्त्वात्  
 गच्छति निम्नं प्रदेशं वा । 'जलाशयादिषु तीरादिनिरुद्धत्वात्  
 कचिद् गच्छति'—इति माधवः । अपि वा वृवतेर्गत्यर्थाद् ऊर्णो  
 तैर्इप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, टिलोपाभावो बाहुलकाद्  
 पकारस्य द्वित्वमकारोपजनश्च । 'घष्टि भागुरिष्टोपमवाप्योस्व-  
 सर्गयोः (२, ४, ८२ भा०)'—इत्यपिशब्दस्याकारलोपः, पिप्पलम्,  
 पृगेदरादिः । "तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वप्रे (शृ० सं० २, ३, १८  
 २)"—इति निगमः ।

(१४) क्षीरम् । 'घस्त्ु भदने (भू० आ०)' । 'घसेधिष  
 (३० ४, ३३)'—इति ईन् प्रत्ययः, चकारान् किञ्चेति अनुवर्तते,  
 किरणान् 'गमद्गजन (६, ४, ३८)'—इत्युपधालोपः, 'क्षरि च  
 (८ ४, ५०)'—इति अत्यं चकारस्य ककारः, 'शासिषसिषर्माञ्च  
 (८ ३, ६०)'—इति कल्पम् । भवन्ति तदिति क्षीरम् । 'क्षर सञ्ज  
 र्त्ने (भू० १०)'—इत्यासाद् बाहुल्यकान् डीगन्प्रत्ययः टिलोपश्च ।  
 क्षरति द्वि तर् मेघान् । "क्षीरेण स्नातः कृष्यथ्य योने (शृ० सं०  
 १, ०, १८ ३)"—इति निगमः ॥

(१५) विष्णुम् । 'विष्णु व्याप्तौः (हु० उ०)' । 'विश्व्यांतिर्गर्भं'  
 —इति कल्पः । वेपेष्टि व्याप्तौति मर्षं विष्णुम् । वदुवा, विष्-  
 णुः—इत्यासात् 'अन्त्येत्वपि इत्यने

( ३, २, १०, १ )'—इति जनेर्विधीयमानो इप्रत्ययो घादुलकाद् भवति, णकारल्लोपोऽपि घादुलकादेव । विशेषेण स्नात्पनेनेति विषयम्, तद्धि प्रथमं शौचसाधनम् । विपूर्वात् सचतेर्वा पूर्वचत् इप्रत्ययः । तद्धि स्नात्पानावगाहनार्थिभिः सेष्यते । “जातं विध्वान्तो ब्रह्मं विषेण (ऋ० सं० १, ८, १६, १)”—“केश्यऽग्निं केशी विषम् (ऋ० सं० ८, ७, २५, १)”—इति च निगमौ ॥

(१६) रेतः । ‘रि रीद् स्रवणे’ दैवादिकः ( आ० ) । स्तुरिभ्यां हुद् च ( उ० ४, १६७ )—इत्यसुन्प्रत्ययो तुडागमश्च गुणः । रीयते स्रवति रेतः । यद्वा, वृष्टिलक्षणानामपां देवानां रेत-स्त्वाद्देत उच्यते तथाचोपनिषत्—‘देवानां रेतो धर्मम्’—इति । “अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् (ऋ० सं० ५, १, १४, २)”—“सतार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतः (ऋ० सं० २, ३, २१, १)”—इति निगमौ ॥

(१७) कशः । ‘कश गतौ (भू० प०)’ ‘कश शब्दे (भू० प०)’ उभयोरसुन् ( उ० ४, १८४ ) । कशति गच्छति निम्नं प्रदेशम्, मेघेभ्यः पतन् शब्दं करोतीति वा कशः । “याभिर्महामतिधिग्वं कशो जुचम् (ऋ० सं० १, ७, ३५, ४)”—इति निगमः ॥

(१८) जन्म । ‘जनी प्रादुर्भावे ( दि० आ० )’ । ‘अन्ये-भ्योऽपि कृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )’—इति मनिन्, औणादिको वा ( उ० ४, १४० ) । जायते सृष्टिकाले स्वकारणात् । ‘अने-रापः ( तै० उ० )’—इत्युपनिषत् । जायन्ते वासिन् जलचारिणो वत्स्यादयः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥



(१६) वृचूकम् । वृषीतेः शब्दार्थात् (अदा० उ०) ; संश्लेषार्थात् (भू० आ०), उमाभ्यां समुदिताभ्यां 'ऋकादयश्च (उ० ४, ४०)'—इति ऊकप्रत्यये निपातनादूपसिद्धिः । ऊकप्रत्यये धातुद्वयस्य वृचूमाकः,—इति श्रीनिवासः । इमेणार्थः—तद्धि विपतन् साध्याकारं शब्दं करोति, स्रश्यति दिवोऽनावरणत्वात्, मेघेभ्यो स्रश्यति शब्दवच्चेति "इषा वृचूकं घटतः पुरीषम् (श्रु० सं० ७, ७, १६, ३)"—इति निगमः ॥

(२०) युसम् । यिपूर्वात् स्नातेः (अदा० प०) 'आतधोपसर्गं (३, ३, १०६)'—इति कप्रत्यये उपसर्गकारस्योक्तात् याहुलकाद् भवति, धातोर्नकारलोपोऽपि याहुलकादेव । विशेषेण प्रात्यनेनेति युसम् । तद्धि प्रथमं शौचसाधनम् । संश्लेषार्थात् पचायन्ति (३, १, १३४), पृषोदरादित्वाद्गृह्णीयं रूपम् । पूषंपदार्थः । यद्वा, 'युस उत्सर्गं (दि० प०) । गेहे कः (३, १, १४४)'—इति याहुलकादस्मादपि भवति । युस्यते उत्सर्ग्यते मेघैरिति युसम् । "आधिः स्वः ह्युने गृह्णे युसम् (श्रु० सं० ७, ७, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(२१) मुप्र्या । मुजनिर्दिंसायाम् (भू० प०) । 'किप् (३, २, ७६)'—इति किप् । मुजनि हिंसनि तत्र धीण्येन अनानिनि वा मुजो रमयः । तद्वान् मुप्र्यः । सं मन्वर्गोऽनिसायने । मुप्र आदित्याः, तत्र भया मुप्र्या । 'मं

वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः'—इति मनुः ( ३ अ० ७६ श्लो० ) । यद्गुणः, तुप्रशब्देन प्रीप्स उच्यते, अतिशयेनादिरय किरणधान् द्वि प्रीप्स-कालः । 'तत्र साधुः ( ४, ४, ६८ )'—इति यत् । तुम्पा । 'अग्न्याकाशयज्ञघटिष्ठेषु तुप्रशब्दः'—इति वृत्तिकारः । तत्र मये इत्यर्थे 'तुम्पाद् घन् ( ४, ४, ११५ )'—इति घन्प्रत्यये प्राप्ते ष्यत्ययेन 'भवे छन्दसि ( ४, ४, ११० )'—इति यत् । 'तुम्पा आपः'—'तुम्प्यमुदकम्' उभयमपि दृश्यते । 'अग्नेरापः ( तै० उ० )'—इत्येषां कारणत्वेन अग्नेः धृतत्वात्, अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः ( मु० उ० २, ५ )—इति क्रमेण धा आकारो वृष्टिलक्षणेनापां विद्यमानत्वात्, यज्ञ-स्यापि 'अग्नी प्रास्ताद्गुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदि त्याज्जायते वृष्टिः'—इति ( मनुः ३ अ० ७६ श्लो० ) पारम्पर्येण वृष्टिहेतुत्वात् । सर्वैश्वर्यवत्तया परिष्ठ इन्द्रो विवक्षितः, धृष्टिप्रदानाय, तस्मात् तत्र भय इत्येवोऽर्थः सर्वत्र यथाकथञ्चित् यत्तुंशक्नोते । "आयः शमं वृषभं तुम्पासु ( ऋ० सं० १, ३, ३, ५ )"—"उत यस्तुम्प्ये सत्त्वा ( ऋ० सं० ६, ३, ४, ५ )"—इति च त्रिगमी ॥

(२२) बुर्बुम् । 'पृ पालतपूरणयोः ( जु० ५० )' । 'निद्रे कः ( ३, १, १४४ )'—इति बाहुलकात् कः । 'उदोऽष्ट्यपूर्वस्य ( ७, १, १०२ )' । पुम् । षपुः शरीरस्य पूरकं पालकं धा षपुः पुरं सत् । षृपोदयदित्वात् ( ६, ३, १०६ ) घकाराकार-लोपेन पकारदुषणस्य वकापदेशो घितर्जनीयस्य रेकापदेशेन

सुर्वुरम् । सुर्वुरमस्मिन्नस्तीति घा मत्यर्थोयोऽकारः (५, २, १२३)  
सुर्वुरवन् । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(२३) सुक्षेम । 'क्षि निवासगत्योः ( तु० प० )' 'क्षि क्षौ  
( भू० प० )'—इत्यस्माद्बुवा 'अर्त्तिस्तु सुहुसृष्टिशिक्षमायायापदि  
क्षिनीभ्यो मन् ( उ० १, १२७ ) बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा । 'अवि  
न्कारस्येभ्यस्सञ्ज्ञा न भवति'—इति उणादिवृत्तिः । शिथलि  
निवसन्त्यनेन प्राणितः, गच्छन्त्यनेन पन्थानमिति घा, उपगिभागेन  
धीयने घा । यथा, पूर्वम्माद् धातुद्वयान्मनिनि रूपसिद्धिः ।  
'सुक्षेम'—इति माधयः पठति, निगमदर्शनान्निर्णयः । 'सृष्टी  
त्या शेमाय त्या ( घ० )'—इत्यत्र क्षेमशब्द उदकतामार्गि  
भधितुमर्हति ॥

(२४) धरुणम् । 'धृम् धारणे ( भू० उ० )' । हेतुमति च  
( ३, १, २६ )—इति जिच् । धारोर्जित्पृक् षयुन्प्रत्ययः । धारयति  
अगन् धरुणम् । "घां विगर्गो धरुणेभ्यु तस्यो ( प्र० सं० ३, ५,  
२३, ६ )"—"धीग इवते कुर्वन्ते, ध्यातवम् ( प्र० सं० ३, २, २६,  
३ )"—इति निगर्गो ॥

(२५) विग । 'म् गर्गो ( भू० प० )' । 'पवायति ( १, १,  
१२४ ) टात् ( ४, १, ४ )' मग, अकाराद्येकारो ध्यान्प्रत्येन ( ३, १,  
८९ ) । "द्वयमशान्तं विगात् ( प्र० सं० १, ८, २६, १ )"—  
इति विगमः । 'सत्कारोऽभ्यन्तु'—इति माधयमाध्यम् ।  
'गर्ग'—इति वेविच् पठन्ति । 'पुम् प्रमितये ( त्या० उ० )'  
... कटेदस्य—इति मद्गुणिः । 'पु प्रमितये' इति

दादिभ्य (प०) । सुगृहाण्यभ्यः क्तन् (उ० २, २३) — इति क्तन्प्रत्ययः । सुगृह्णाति बलेद्यति मुमिमिति । प्रगृह्णाति धनु-  
जानाति मन्व्याण्युत्पत्तिं स्वयत्तया, गृह्णे वा पौषां स्यामिना  
पिनिर्पोषात् । षट्त्वा, 'सुर लेश्यो' मुदादिः (प०) । सुगृहि  
ईषां मयति क्तन् क्तन्' समारो मारणात्तयः । निगमोऽप्ये-  
पर्यायः ॥

(२६) भरिन्दानि । 'रा दाने (धश० प०)' । भाद्  
गमहनजनः क्तिक्तो न्द्रि च (३, २, १७१) — इति क्ति  
त्ययः । ङिष्पट्टापात् द्विपर्ययनादिः । रविर्दाता । रविर्वंश म  
पिउने तद्वरि, अन्येद्दत्तमित्यर्थः । तद्दानि 'भानोऽनुपसर्गे कः  
(३, २, ३)' भारिदम् । नकार उपजनः भरिन्दम् । अथवा  
'ष्टपञ्चुटो षट्त्वात् (३, ४, ११३)' — इति षर्मणि क्तन्पति ।  
रि-दत्तम्, न ररि भरि-धदत्तन् पृथिव्यादिभिः, विस्तन् ?  
सुप्तम् । भरि ददातीति पृथयन् । उदकेन षरीयते सुखादिकं  
तद्यान्वैः पृथिव्यादिभिः दानुमशब्दयस्याद्दत्तमित्युच्यते । "अधा-  
र्यदरिन्दानि सुकतुः (स० मं० २, २, ४, ५)" — इति निगमः ।  
अत्र 'अदत्तदानमुदकैः' — इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी ॥

(२७) ध्यस्नन् । 'ध्वंसु गतो च (भू० भा०)' । चकारा-  
दधःपतनेऽपि । धीणादिको मन्निन् भावे (उ० ४, १४०) ।  
वाहुन्कादुर्लोपः (१, ३, १) । ध्यस्म ध्वंसनं मैत्रेयः पर्वता-  
दिव्यो वा अधःपतनं निम्नप्रदेशगमनम् । जलार्पिकसृक् वा गम-  
नमध्यासीति मनु१, 'अनो तुद् च (८, २, १६)' — इति मनुषो-

नुडागमः, नुटोऽसिद्धत्वात् ( ८, २, १ ) तस्य च पत्वं भवति ( ८, २, ६ ) । 'ध्वस्मन्वत् स्यात् ध्वंसनघत्'—इति माधवमिर्चनानुक्रमणी । "सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः ( प्र० सं० ४, ५, १६, २ )—इति निगमः । माधवस्तु 'समभ्येतु त्वां मदीये घर्द्धमानं ध्वंसनक्रियायुक्तमन्नं घचनं स्पृहणीयं सहस्रसङ्ख्याकरम्—इत्यभाषयत् ॥

(२८) जामि । जामेर्गतिकर्मणः ( निघ० २, १४ ) 'घसिच-पियजि ( उ० ४, १२१ )'—इत्यादिना विहित इञ् बाहुलकात् भवति । जमति गच्छति निम्न प्रदेशं, गम्यते वा जलार्थिभिः । यद्वा, 'जनी प्रादुमवि ( दि० भा० )' । अस्मान् 'जनिघसिम्बामिण् ( उ० १२६ )'—इति इण्प्रत्ययो बाहुलकात्प्रकाशेऽपि दीर्घः ( ३, ३, १ ) । जायतेऽस्मान् पृथिव्यादि, जायते वा स्कारणान् 'अग्नेरापः अद्भयः पृथिवीति ( ते० उ० )' ध्रुवेः । "जामिण्"—इत्यन्ये षडन्ति । निगमदर्शनाभिर्ज्ञेयः ॥

(२९) आयुधानि । 'युष सम्प्रहाते ( दि० भा० ) । 'गर्भे कथिधानम् ( ३, ३, ५८ वा० )'—इति कः । आयुष्यत्यनेनेत्या-युषम् । यद्वा, 'युष्यपत्रापीकिरः कः ( ३, १, १३५ )'—इति कर्त्तरि कः । आयुष्यते सम्प्रहरति रक्षामि । जमि आयुधानि । "इद्रे सन्निवृत्त प्रकवायुधानि ( ष० सं० ७, ४, ८, २ )"—"जामि षुवात् आयुधानि हेति ( ष० सं० ७, ६, ४, २ )"—इति च निगमौ ॥

(३०) इणः । 'इण प्रोत्ते ( ष० सं० )' । कणादिष्वपि-होऽपि 'अनुत्तेजिर्गाम् ( ष० सं० १० )'—इत्यर्थात्प्राह-  
 त्वात्

त्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते । असुनि णिलोपः । क्षिपयति प्रेरयति  
नाशयति पिपासाम् । “क्षपो जिन्यन्तः पृथ्वीमिर्द्धृष्टिभिः ( ऋ०  
सं० १, ५, ७, ३ )”—इति निगमः ॥

(३१) अहिः । मेघनामसु निरुक्तम् (१, १०) गच्छन्ति निम्नं  
प्रदेशम्, आभिमुख्येन हन्ति तापम्, अहिंसकं वा प्राणिनाम् ।  
“पृथिव्या निश्शशा अहिम् ( ऋ० सं० १, ५, २६, १ )”—इत्यत्र  
‘शशा प्लुतगतौ ( भू० प० ), अन्तर्णीतण्यर्थः, निर्गमभूमौ पातन-  
मुच्यते, अहिम् मेघं वृक्षमित्यर्थः’—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ।  
उदकं भवितुमर्हति । अन्येषणीयो निगमः ॥

(३२) अक्षरम् । निरुक्तं घाङ्नामसु (१, ११) व्याप्नोति जगत्,  
अश्यते मुञ्चयते वा प्राणिभिः, अनक्ति सेचयति भूमिं वा, न क्षरति  
क्षीयते कदाचिदपीति वा । “ततः क्षरत्यक्षरम् ( ऋ० सं० २, ३,  
२२, २ )”—इति निगमः ॥

(३३) स्रोतः । ‘स्रु गती ( भू० प० )’ । ‘स्रुरीभ्यां तुद् च  
( उ० ४, १६७ )’—इत्यसुन् । स्रवति निम्नं देशम् । “धन्वन् स्रोतः  
छुणुने गातु मूर्मिम् ( ऋ० सं० १, ७, २, ५ )”—इति निगमः ॥

(३४) सृष्टिः । ‘सृप् प्रेरणे ( दि० प० )’ । क्तिन् । यद्वा,  
‘क्विक्की च सभ्रह्मायाम् ( ३, ३, १७४ )’—इति क्तिच् । सृष्यन्ति  
हि देवतास्तेन तर्पिताः, सृष्यन्ति तेन पीतेन प्राणिन इति वा ।  
तथाच ध्रुतिः—‘मन्ये भेजानो अमृतस्य सर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं  
यदा वः ( अथ० सं० ३, १३, ६ )’ । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३५) रसः । रसतिः शब्दार्थः ( भू० प० ) । पचायच् ( ३,

१. १३४) । रमणि दि तामेपपर्यन्तादिभ्यः क्त्वा । यद्वा, ५५  
 भाग्यादने (भू० प० ४०) । भुमि गमजायां क्त्वा (३, ३, ११८) ।  
 रमणे भाग्यादने त्रिहया दिहाने इति रसः । यद्वा, रसोऽयं  
 गुणः, गुणगुणिनोऽभेदोपगारेणाभ्यादने, मत्स्योऽयं तुम् क्त्वा  
 रसपान् रसः । यद्वा, रसतिर्गन्तिकर्मां (३, १४), क्त्वात्  
 (३, १, १३४), भर्ष्यने देयतात्वात्, भर्ष्यनेऽनेन देयता ति  
 या । “आ र्था विरान्तिषन्दयः (अ० सं० ६, ६, ११, २)” — इति  
 निगमः ॥

(३६) उदकम् । ‘उदकञ्च (उ० २, ३६)’ — इत्युणादिभूतेन  
 उदकराद्धो निपात्यते । कृन्प्रत्यये सन्तेरत्पूर्त्यस्यधातुलोपः ।  
 उत्स्रायने तद्वा पायुना विभज्यमानं कर्म, उत्स्रानति या भूर्नि  
 स्येन घेगेन कर्त्ता । उत्पूर्वस्य याञ्चनेर्लोपः उदकमिति,  
 उदञ्चतीत्युदकम् । “उदानिपुमंहीरिति तस्मादुदकमुच्यते (अथ०  
 सं० ३, १३, ४)” — इति, “समानमेतदुदकम् (अ० सं० २, ३,  
 २३, ५)” — इति, “मण्डूका श्वोदकान् (अ० सं० ८, ८, २४, ५)”  
 — इति, “मण्डूका उदकादिव (अ० सं० ८, ८, २४, ५)” — इति  
 च निगमः ॥

(३७) प्रयः । ‘प्रीञ् सार्पणे (वया० प०)’ । असुन् (उ० ४,  
 १८४) । सृष्यन्तेऽनेन देवताः । यद्वा, प्रपूर्वात् यमतेः (भू० प०)  
 असुनि टिलोपो बाहुलकात् । प्रकर्षेण गच्छन्ति प्रयः । “आपो  
 न द्वीपं दधति प्रयांसि (अ० सं० २, ४, ८, ३)” — इति  
 निगमः ॥

(३८) सरः । 'सृ गतो (भू० प०)' । असुन् (उ० ४, १८४) । सरति स्त्रियते वा सरः । "साकं सरांसि त्रिशतम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमः ॥

(३९) भेयजम् । 'भिपञ् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादिः (प०) । पुंसि सप्रज्ञायां घः (३, ३, ११८) । भिपञ्ज्यन्त्यनेन भेयजम्, 'अनन्तायसयेतिह भेयजात्'—इति निर्देशात् साधु । "आप इहा उ भेयजीपपो (ऋ० सं० ८, ७, २५, ६)"—इति श्रुतिः । 'भेयं रोगं जयति'—इति दुर्गः । यद्वा, भेयजमस्मिन्नस्तीति भेयजम् । अर्शं आदित्यादच् (५, २, १२७) । तथा "अप्सु मे सोमो अग्रवीदन्तर्बिभ्वानि भेयजा (ऋ० सं० १, २, ११, ५)"—इति श्रुतिः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(४०) सहः । सहिरभिभवार्थः (दि० प०), अभिभवते उष्णमग्निं वा । यद्वा, सहो यलं (निघ० २, ६), तदस्यास्तीति मत्पथोवस्य लुक् (१, ४, १६ वा०) । यलघत् हि यलम् । "मददानुं पुष्टृत शिष्यन्ते (ऋ० सं० ३, २, ३, ३)"—इति निगमः । सकारलोपश्छान्दसः ॥

(४१) शयः । 'दुभोश्चि गतिवृद्ध्योः (भू० प०)' । श्येः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, १८८)—इत्यसुन् । श्ययति गच्छति पश्यते वा पर्याकाले । शयनेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) असुन् । शयति गच्छति शयः । निगमोऽन्येषणीयः । माघ-  
पेन स्वीये मामनिघण्टौ 'शयः'—इत्येतन्नापादि, 'शियम्'—  
'शायम्'—इत्येने पत्रिने । द्वितीयमाशनाशिषामु माशुपु मतीपं



शपत्तयो वदन्ति । शिवमिति सनिगमं दृष्टमपि माषायामपि  
जलपठ्यायत्वात् अत्र तत्पठ्यायेण तस्य पाठे प्रयोजनं मन्दम् ।  
शापमित्येतत्त्वत्यन्ताप्रसिद्धम् प्रायः पूर्वाचार्यैः समाह्वये  
अपठितम् । अस्य च उदकनामत्येनाप्रसिद्धत्वात्, शवस्य मोक्ष  
सहः इत्याभ्यां सह प्रसिद्धपाठेऽत्र दृष्टत्वात्, प्रायोऽक्षरसाम्याच्च  
लेखकैः प्रायेण शव इति लिखितमिति । शपन्त्यनेनेति शापम् ।  
'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् ( ३, ३, १६ )'—इति घञ् ।  
हस्ते ह्युदकमादाय शपन्ति मुनय इति श्रूयते ॥

(४२) यहः । यातं प्राप्तं पिपासितैः, हुतं च यज्ञे देवतात्वात् ।  
अमुनि यातेर्हयतेश्च द्विधातुजं रूपम्, पृषोदरादिः ( ६, ३, १०१ ) ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४३) ओजः । 'उज्ज आर्जवे ( तु० प० )' । 'उज्जेर्बलोपध  
( उ० ४, १८७ )'—इत्यमुन्, याहुलकाहुदकेऽपि भवति । उज्जो-  
दकारश्चे न्यग्भाषार्यश्च । उज्जनेर्वा नैरुक्तघातोर्द्विकर्मणोऽ-  
मुन्प्रत्ययः । उज्जत्यनेनेत्युक्त् । न्यग्भाषयति वा स्वधेने-  
नानतप्रदेशं, वर्द्धते वा घर्षासु बलवद्वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४४) सुखम् । सुखावदत्वात् सुखम् । 'सुखं कस्मान् !  
सुहितं मेभ्यः ( निरु० ३, १३ )'—इति माथ्ये सन्धत्वामी ।  
सुप्त्सु हितं मेभ्यः । नेवं हितयोगलक्षणा चतुर्थी ( १, ४, ४५  
पा० ), इन्द्रियाणामर्थान्यात् सुखादिभिरसाम्यन्धान्, भत इत्  
हेतो पञ्चमी ( २, ३, २५ ), इन्द्रियविषयतन्धिकर्षत्य सुखहेतु-  
त्वात् उपपद्यते इन्द्रियाणां हेत्यर्थकपयाधृतसाम्यन्धानुपगतौ च

सबन्धयोगपदार्थान्तराध्याहारः । अतिशयेन हितं पुरुषस्य, खेभ्यः सहेतुकमित्यर्थः । हितं वा पुरुषे आत्मधर्मत्वात् सुखादीनां धर्माधिकरणत्वाच्च धर्मिणाम् । अथवा खेभ्य इति चतुर्थ्येव, अशब्देन च आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेति सम्बन्धिसम्बन्धात् पुरुष एवोच्यते इति यथाधृतसम्बन्धः । तथाचोपनिषत्—‘घर्ष्यः स एष इह प्रदिष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः’ । क्षुराधाने अव्ययहिनं स्वादित्युपलक्ष्य प्राणान्ते च प्राणानां भवतीति प्राणादिशब्दैस्तस्योहसिद्धं दर्शयति—‘सां पुनः खनतेः ( निरु० ३, ३१ )’ उत्पूर्वस्य उत्खनति विनाशयति, किम् ? पण्यप्रशान्तिसुखम्, कथम् ? कायसुखप्रवृत्तेरभोगममनात् इति सुखम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५५) क्षयम् । ‘क्षदिः सौत्रः’ । ‘क्षद स्थैर्ये’ इति स्वन्द-  
स्वामी । माधवपक्षे क्षदिः शकलीकरणार्थो हिंसार्थश्च । क्षद  
गतिर्हिंसनयोः—इति सुबोधिनीकारः । शुभ्रवीपचिघचियमि  
[मनि] सदिक्षदिभ्यस्त्रः ( उ० ४, १६२ ) । घर्षाव्यतिरिक्तेषु ऋतुषु  
सूर्यरश्मिभिराहृता ह्यापो मेघेषु घनीभूताः पाषाणवत् स्थिरा  
भवन्ति, जलाशयं प्राप्य वा, अश्यते भुज्यते वा, अतिपीतं  
श्लेष्मादि जनयिष्या प्राणिनो हिनस्ति वा, गच्छति  
निम्नं गम्यते वा तदर्थिभिः । यद्वा, क्षत्रशब्दो बलनाम । अर्श आद्यच्  
( ५, २, १२७ ) । बलघदि जलम् । धननाम वा ( निघ० २, १० ),  
तद्धेतुत्वासाच्छब्दम् । क्षनादभ्रवृष्टिर्नृक्षेशात् प्रायन्ते इति वा  
क्षतराब्दात् प्रायतेश्च क्षयम्, पृषोदरादिः ( ६, ३, १०६ ) । “युर्व

नो येषु वरुण क्षत्रम् (ऋ० सं० ४, ४, २, ६) ।  
 बृहच्च बलमन्नं वेति माधवमाप्यम् । “उत यावापृथिवी क्षत्रम्  
 ऋ० सं० ४, ८, ८, ३)”—इत्यत्र च क्षत्रं धनमिति इत्यम् ।  
 उभयमप्युदकं भवितुमर्हति ॥

(४६) आवयाः । आङ्पूर्वात् ‘वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्य-  
 सनपादनेषु ( अदा० प० )’—इत्यस्मात् ‘इणश्चासिः (उ० ४, २१६)’  
 —इति यादुलकादासिप्रत्ययः । उपसर्गश्च घात्पर्यानुवर्तकः  
 आभिमुख्यायौ वा, अस्यते घीयते आभिमुख्येन गम्यते इति वा  
 आवयाः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४७) शुभम् । ‘शुभ दीर्घी (भू० आ०)’ । क्लिप्तप्रत्ययः । शोभते  
 दीप्यते स्येन तेजसा देयतात्वात् । द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगो  
 यथादृष्टम् । “शुभं पृथमिगमूर्जं वहन्त (ऋ० सं० ५, १, १, ४)”—  
 “इयं जनाय वहथः शुभम्पतीः (ऋ० सं० ७, ८, १८, ४)”—“द्वय-  
 पती शुभम्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)”—इति च निगमाः ॥

(४८) यादुः । ‘या प्रापणे (अदा० प०)’ । ‘भृशुर्लिङ्ग-  
 लिङ्गित्तिप्रतिमम्’ जिग्य उः (उ० १, ७)’—इति यादुलकाद्  
 प्रत्ययो तुङ्गागमश्च । यानि निघ्नं प्रदेशं यादुः । ‘यादुः स्वतः  
 गमनक्रियम्’—इति माधवः । तदानीमुक्तप्रत्ययो यादुलकात् ।  
 “इदानीं मायं यादुरी (ऋ० सं० २, १, ११, ६)” इत्यत्र स्वतः  
 स्वामी—‘यादुर्लिङ्गुद्वयनाम, री मन्वर्थीयः’—इति ॥

(४९) भृशम् । ‘भृ मलायाम् (भू० प०)’ निगुलकात्  
 कर्त्तुं । पृथगेव मन् भृशम् प्रथमदृष्ट्यात् । ‘अन्वेषणं मन्

जार्दी तासु वीजमयासृजत् ( १ अ० ८ श्लो० )—इति मनुः ।  
अथवा 'भू प्राती ( वा आ० )'—इति धातुः । प्राप्यं पिपासितैः ।  
यद्वा, पञ्चतु पृथिव्यादिषु महाभूतेष्वन्तर्भावात् भूतमित्युच्यते ।  
'मातान्तरिक्षं निर्भोयन्ते अस्मिन् भूतानि ( २, ८ )'—इति निष्क  
एषोदाहरणम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५०) भुवनम् । 'भू सत्तायाम् ( भू० ५० )' । 'भूसुभूम-  
स्रस्त्रिम्पश्छन्दसि ( उ० २, ७५ )'—इति क्युनप्रत्ययः, उवडा-  
देशः । भवन्त्यनेन सर्वे पदार्था इति भुवनम् । "य इमा  
विश्वा भुवनानि जुह्वत् ( ऋ० सं० ८, ३, १६, १ )"—"इमा च  
विश्वा भुवनान्यस्य ( ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४ )"—इति च  
निगमो ॥

(५१) भविष्यत् । भवतेरेष । 'लृट् शेषे च ( ३, ३, १३ )'  
—इति लृट्, 'लृटः सद्गुवा ( ३, ३, १४ )', 'स्यतासी लृलुटोः ( ३, १,  
३३ )' इडागमः ( ७, २, ३५ ) । जलं हि आगामिन्यपि काले  
चियने, प्रलयेऽपि जलत्वस्य नाशामावात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५२) महत् । 'मह पूजायाम्' भूयादिः ( ५० ) कथादिश्च  
( चु० अ० ) । अस्मान् 'घस्तमाने पृष्टन्महदुवृहजगच्छतुषष्  
( उ० २, ७८ )'—इति निपातनम् । महति महयति वा देवता  
मनेन पुष्टस्येति महत्, महने वा देवतात्वान् । यद्गुवा, मानेन  
स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति  
अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यवावरणानि सप्त'—इत्यत्र विष्णुपुराणे  
सर्वमहत्त्वं जलतरयस्योक्तम् । मानशब्दाज्जहातिश्च शृणोद्रादि-

त्वादूपसिद्धिः । “महत्त उल्वं स्रविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १०, १)”—इति निगमः ।

(५३) आपः । एतदुक्तसमानार्थम् । इत्स्त्रं तामिर्दि स्रसम्, आप्रोतेः सङ्ग्रहकर्मकत्वात् । तथाचाधर्वजिका धृष्टि-  
आपो अग्ने विश्वमावन् ( अथ० सं० ४, २, ६ )’—इति । यद्-  
कर्मणि क्विप्, इन्द्रेण आप्ता आपः, तदाप्नोतीन्द्रो वा । ‘तदाप्नोदित्ते’  
घो यतीस्तासादापो अनु एन (अथ० सं० ३, १३, २)’—इति धृष्टिः ।  
“आपो हि ष्टामयोभुवः (ऋ० सं० ७, ४, ५, १)”—इति निगमः ।

(५४) व्योम । निरुक्तमन्तरिक्षनामसु । (३) व्ययति प्रापित  
संवृणोति भूमिमिति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५५) यशः । ‘अशु व्याप्तौ ( स्वा० आ० )’—अश भोज्ये  
(क्या० ५०) । ‘अशोर्दशने युद् घ (उ० ४, १८६)’—इत्येतत्  
वाहुर्यकाहुर्येऽपि भवति । ‘अशोर्युद् घ’—इत्येष धीमोज्ञेयः  
अशुने व्याप्नोति जगन्, अश्यते वा प्राणिभिः । “निर्यगू कि  
धमन् उरुर्ध्वं बुध्नो यग्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । मत्रात्  
शश्वः सत सार्धं ये धम्य गोपा महतो यमुयुः (अथ० सं० १०,  
२६, ३)”—इति निगमः ॥

(५६) महः । महदिश्वनेन सामानम् । अत्रागुवदश्या  
(उ० ४, १८४) । “महा तिनोनि महिनि (ऋ० सं० ४, ४, २१, १)”  
—इति निगमः । ‘महो अर्ण (ऋ० सं० १, १, ६, ३—विष्णु  
११, २७)’—इत्यत्र ‘मह उदकनाम’—इति इत्यन्वयः ।  
“महोभ्यः श्राहा”—इति च ॥

(५१) सर्णीकम् । 'सृ गतो ( भू० प० )' । 'सर्सेनुम् च ( उ० ४, २३ )'—इतीकन्प्रत्ययः । अधिकृतं कित्चन्तु बाहुलकात् भवति, गुणः, धावति सर्णीकम् । "सलिलाय त्या सर्णीकाय त्या सतीकाय त्या"—इति निगमः ॥

(५८) स्मृतीकम् । स्मृ शब्दोपतापयोः ( भू० प० )' स्वरतिर्गत्यर्थः ( निघ० २, १४ ), अर्चतिकर्मा च ( निघ० ३, १४ ) । 'अलीकादयश्च ( उ० ४, २५ )'—इतीकन्प्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः, निपातनात्तुगागमः । शब्दं करोति, गच्छति, पूज्यन्तेऽनेन देवताः, पूज्यते षा स्वयं देवतारवात् इति स्मृतीकम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥ "सतीकम्"—इति केचिन् पठन्ति । 'षट्पु विशरणगत्यचसादनेषु ( मू० तु० प० )'—पूर्वपदीकन् ( उ० ४, २५ ), दकारस्य तकारः । गच्छति अयसीदति कुड्यानि अनेनेति षा । "सतीकाय त्या"—इति पूर्वमुक्तो निगमः । अत्र सशब्देऽचग्रहकरणं पदकाराणामभिप्रायस्य वैचित्र्यात् ॥

(५९) सतीनम् । पूर्ववन् सर्वम्, दकारस्य तकारोऽपि निपातनात् । यद्वा, सती शोभना असौ, सामर्थ्यान्माध्यमिका षाक्, सा ईना ईश्वरा यस्य तत् सतीनम्, 'सन्शापरण्योश्च ( ६, ३, ३८ )'—इति पुंषद्भावनिषेधः । "अथो सतीन कडूतः ( ऋ० सं० २, ५, १४, १ )"—इति निगमः । "सतीन सत्वाद्ध्यो भरेषु ( ऋ० सं० १, ६, ८, १ )"—इति च ॥

(६०) गदलम् । 'गाद् विलोडने ( भू० आ० )' । 'युच् षट्पुलम् ( उ० २, ७४ )'—इति युच्प्रत्ययः, षट्पुलघचनाद्भवत्यम् ।

अपगताने प्राणिनिः गहनम् । “भग्मः किमासीदु गहनं गन्तुम्  
(ऋ० सं० ८, ७, १७, १)”—इति निगमः । अत्राग्मः गर्मीर्ग-  
त्येते निगनयः पौत्रनीये ॥

(६१) गर्मीगम् । गमेर्घातोः ‘गर्मीगगम्भीरी (उ० ४, २४)  
—इति गुणागमः ईरन्प्रत्ययो मकारस्योपध निपात्यने । गच्छती  
यशोप्याहनं घसतीवर्ष्यादिरूपेण । “परि ईने गर्मीर मां (ऋ०  
सं० ६, ४, ५३, १)”—“न तं दन्ति ऋषतो गर्मीराः (ऋ० सं०  
८, ६, ५, ४)”—इति च निगमौ ॥

(६२) गम्भरम् । ‘रुद्रादयश्च (उ० ५, ४२)”—इत्यप्रत्य-  
यात्तेषु द्रष्टव्यः । निपातनाद् गमेरन् भडागमश्च । ‘पूर्ववदर्कः ।  
यदुवा, ‘ग्रह उपादाने (ऋ० ३०) ’ पूर्ववदरन्, ‘हप्रक्षोर्भश्छन्दति’  
( सि० कौ० वै० ३ अ० ) । रेफस्य मकारो बाहुलकात् स  
चाकारात् परः । गृह्यते घसतीवर्ष्यादित्वेन । “गम्भरेषु प्रति-  
ष्ठाम् (ऋ० सं० ८, ६, २, ४)”—इति निगमः ॥

(६३) ईम् । अव्ययमिदम् । “वि यद्भ्रौ अजयनावर्षं यथा  
(ऋ० सं० ४, ३, १४, ४)”—इति निगमः । बहुषु पाठेषु “कम्”  
—इति दृश्यते, तद्विभिन्नमतः । अतः ईमित्येव पठितव्यम् ॥

(६४) अन्नम् । ‘अन प्राणने (अदा० ५०) ’ । ‘कृचृञ्जसिदुप-  
न्यमित्स्वपिन्वो नित् (उ० ३, ६)”—इति नप्रत्ययः । अन्यते  
प्राण्यते प्रजाभिः, न हि कदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः  
‘अस्य शोषादयो दोषा भवन्ति यदलाभतः । न हि तोयाद् विना  
तृप्तिः स्वस्थस्याप्यातुरस्य च”—इति षाग्भटः । अत्तेर्घा निष्ठात-

कारः, अत्रान्न इति निर्देशात् जग्ध्यादेशाभावात्, अद्यते स्म । अन्न-  
तुल्याद्वा अन्नमित्युच्यते । “हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै (ऋ० सं० २,  
३, २३, ५)”—इति निगमः ॥

(६५) हविः । ‘हु दानादनयोः (जु० प०)’ । ‘अर्चिशुचि-  
ःसुभिच्छदिच्छर्दिभ्य इतिः ( उ० २, १०१)’—इति इतिप्रत्ययः ।  
हीयते पिपासितेभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय । अथवा हूयते  
देवतोद्देशेन, प्रक्षिप्यते वैश्वानरे हविरिदं जुहोमीत्यादिमन्त्रैः ।  
“हविषाजारो अपां पिपत्ति (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)” —“विश्व-  
कर्मन् हविषा घावृषानः (ऋ० सं० ८, ३, १६, ६)” —इति च  
निगमः ॥

(६६) सघ । (६७) सदनम् । ‘बहुल् विशरणगत्यघसादनेषु  
( भू० तु० प० )’ । पूर्वत्र, ‘मनिन् (उ० ४, १४०)’—इति मनिन्-  
प्रत्ययः । उत्तरत्र, ‘युच् बहुलम् ( उ० २, ७४ )’—इति युच् ।  
विशीर्यते शिलादिषु पातान्, विशीर्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति घा,  
गच्छति घागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, अवसादयति  
पिपासायुक्तं वा । ‘हविर्हविष्मो महि सन्न देव्यम् (ऋ० सं० १,  
३, ८, ५)” —इति निगमः ॥

(६८) ऋतम् ॥

(६९) योनिः । ‘यु मिधणे ( अदा० प० )’ । ‘घहिधियुद्  
ग्लाहात्यरिभ्यो निः ( उ० ४, ५१ )’—इति निप्रत्ययः । यु  
मितं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः । यद्वा, घेतेर्यकारस्य उकारः, स  
ईकारात्परः यणादेशः, स एव प्रत्ययः । परिवीतं हि जलं वायुं



तीरेण वा । यद्वा, योनिः कारणमन्नस्य । 'वृष्टेरन्न' ततः प्रकः  
( मनुः ३, ७६ )—इति हि स्मृतिः । "चरत् प्रियस्य योनिषु दिग्  
सन् ( ऋ० सं० ८, ७, ७, ५ )"—"त्यचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनिं  
( ऋ० सं० १, ५, २७, ३ )"—इति च निगमौ ॥

(७०) व्रतस्य योनिः । यज्ञस्य योनिः नह्युदकेन विना कश्चि-  
दपि यज्ञः कर्तुं शक्यते, ऋतस्य आगामिनो वर्षजलस्य योनिर्वा,  
—आदित्यो भौमं रसं रश्मिनादत्ते पुनर्वर्षाकाले वर्षति, तथा  
—'सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रसं रविः'—इत्युक्तम् । 'अस्य  
योनिर्भवति'—इति माधवः । "ऋतस्य योनि मा सदः ( ऋ० सं०  
४, १, १३, ४ )"—"ऋतस्य योनागर्भे सुजातम् ( ऋ० सं० १, ५  
६, २ )"—इति निगमौ ॥

(७१) सत्यम् । सत्सुभयम् 'भवेच्छन्दसि ( ४, ४, ११० )—  
इति यत् । यद्वा, सत्यु साधुः 'तत्र साधुः ( ४, ४, १८ )'—इति  
यत् । सतोऽर्हमिति वा 'छन्दसि च ( ५, १, ६७ )'—इति च ।  
"विपृदमि विधामयाद्भ्यान्भूतात्सत्यमुपैति"—"ऋताम् सत्य-  
मुपागाम्"—इति च निगमौ ॥

(७२) नीरम् । 'नीन् प्रापणे ( मू० उ० )' । स्वागवित्त्रि-  
षद्विराकि ( उ० २, १२ )—इत्यादिना रत्नप्रापयः । त्वयि  
प्रापयति शुद्धिं नीयने वा पुदरेण स्वाग्निमतकार्यंगणपादनाय ।  
निगमोऽर्थेऽर्णयः ॥

(७३) रविः । 'वीह गणौ । 'अस्य रः ( उ० ४, १३४ )'—इति  
इत्ययं, गुणः । रीयमे गच्छति रविः । यद्वा, रानिः ( अदा )

प० ) इप्रत्यये चाहुलकात् युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । दीयते पिपा-  
सितेभ्यः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७५) सन् । 'अस भुवि ( अदा० प० )' । लटः शतरि  
'श्नसोरुद्धोप' ( ६, ४, १११ ) सन् । सर्वदा विद्यमानं प्रलयेऽपि  
नाशाभावात् 'सदसि भूयाः'—इति निगमः ॥

(७५) पूर्णम् । पृ पालनपूर्णयोः ( जु० क्र्या० प० ) । निष्ठा-  
तकारः । 'उदोष्ट्यपूर्वस्य ( ७, १, १०२ )', 'हलि च ( ८, २, ७७ )',  
'रुदाम्याम् ( ८, २, ४२ )'—इति निष्ठानत्वम्, 'रपाभ्यां नो णः  
( ८, ४, १ )'—इति णत्वम्, पूर्णम् । रक्षितं सेत्यादिना, तद्-  
र्थिभिः पूरितं वा कटाहादिषु । यदुवा, 'पूरी आप्यायने, दिवादि-  
श्वुरादिश्च । 'चादान्तशान्तपूर्णदस्त ( ७, २, २७ )'—इत्यादिना  
निपातितम् उपभोगशीलं आप्यायितम् । "पूर्णं पूर्णेन सिच्यते  
( अथ० सं० १०, ८, २६ )"—इति निगमः ॥

(७६) सर्वम् । 'सृ गती ( उ० प० )' । सर्वनिष्पृथग्निष्पृथक्-  
शिवपद्वप्रहेष्यो अतन्त्रे ( उ० १, १५१ )—इति निपातितम् ।  
अतन्त्रे अकर्त्तरीत्यर्थः । स्रुतमनेन । यदुवा, चाहुलकात् कर्त्तरि  
भवति, सर्वम् । उभयत्रापि पचाद्यच् ( ३, १, १३४ ) । हिनस्ति  
पिपासामुष्णं घा । 'सर्वमसि सर्वं मे भूयाः'—इति निगमः ॥

(७७) अक्षितम् । 'क्षि क्षये ( भू० प० )' । भावे निष्ठातकारः ।  
क्षिनं क्षयः, स यस्य न विद्यते, तदक्षितम् । सर्वदा सर्वैरुपभुज्य-  
मानमपि स्वमहत्तया उपर्युपरि धर्षणादुवा क्षयरहितमित्यर्थः ।  
क्षियः 'निष्ठायामण्यदर्थे' । चाक्रोशदैन्ययोः ( ६, ४, ६०—६१ )

इति विहितो दीर्घः, अत्र च भावो ण्यदर्थः तस्मान् स न भवति, दीर्घाभावात् 'क्षियोऽदीर्घात् (८, २, ४६)'—इति निष्ठानत्वमपि न भवति । "उत्समक्षितं व्यचन्ति (अथ० सं० ४, २९, २)"—  
 "समानमर्थमक्षितम् (ऋ० सं० २, १, १८, ५)"—"अक्षितमर्थं जुहोमि स्वाहा"—इति च निगमाः ॥

(७८) बर्हिः । निगमोऽन्वेष्यः । वृ'हेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)"  
 —इत्यादिना पूर्ववत् साध्यम् ॥

(७९) नाम । नमतेः (भू० प०), 'मनिन् (उ० ४, १४०)"  
 —इति मनिन्प्रत्यये घातोर्मलोपो दीर्घश्च निपात्यते । नम्यं पुरुषेर्देवतात्त्वान् । णिजन्ते वा निपातनम् । नमयति नदी-  
 सौरनिकट्यर्त्तिनो घेतसादीन् । अथवा 'अम गत्यादिषु' भूषादि-  
 'अम रोगे' चुरादिः, नञ्पूर्वः, अस्माभिपातनं पूर्ववत् । न अमनि गच्छत्यनेन । न हि छानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनो-  
 ऽन्यत्र गच्छन्ति । तथाहि—श्रोत्रियसज्जनदीप्रभृतिषु विद्य-  
 मानेष्वेव पातो विधत्ते इति स्मृतिः । न आमयत्यनेन रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थः । 'आपो अर्मायचातनीः (ऋ० सं० ८, ७, २५, १)"  
 —इति ध्रुविः । "नामानि यद्वा अधि येषु पशुघने (ऋ० सं० ७, २, ३३, १)"—"दधाना नाम यमि यम् (ऋ० सं० १, १, ११, ५)"  
 —इति च निगमाः ॥

(८०) सर्पिः । सर्प गणो (भू० प०) । 'अयिगुविद्गुपि-  
 ष्टुदिष्टुदिभ्य इति (उ० २, १०१)"—इति इगिप्रत्ययः ।  
 सर्पि इवद्रव्यत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८१) भयः । 'भाप्स्व ह्यातीः ( स्वा० उ० )' । 'भापः कर्मा-  
ख्यायां हव्यो नुद् च वा ( उ० ४, २०२ )'—इत्यनुप्रत्ययो  
घादुल्लकान् जलेऽपि भवति, भयः । भाप इत्यनेन समानार्थम् ।  
“यद्दीनां गर्भो भयसामुपम्यात् ( ऋ० सं० १, ७, १, ४ )”—  
“जामीनामग्निरपसि म्वसृणाम् ( ऋ० सं० २, ८, १४, १ )”—  
इति च निगमो ॥

(८२) पवित्रम् । 'पूञ् पवने ( ष्या० उ० )' । 'पुयः सप्त-  
झायाम् ( ३, २, १८५ )'—इति करणे इत्रप्रत्ययः । पुनात्यनेनात्मानं  
छातः । अथवा 'कर्त्तरि चर्षिद्वैचतयोः ( ३, २, १८६ )'—इत्यर्षा  
द्वैचतात्त्वान् कर्त्तरि इत्रप्रत्ययः । पुनाति पापघ्नतः । तथाच मनुः—  
'भानं तपोऽग्निराहारोमृन्मनोवार्युपाञ्जनम् । वायुः कर्मार्ककालो  
च शुद्धेः कर्त्तृणि देहिनाम् ( ५ अ० १०५ श्लो० )'—इति । “शतप-  
वित्रः स्वर्ग्यस्य मद्गतीः ( ऋ० सं० ५, ४, १४, ३ )”—इति निगमः ॥

(८३) अमृतम् । नञ्पूर्वात् छियनेर्घातोः 'तनिमृद्भ्यां  
किञ्च ( उ०, ३, ८५ )'—इति तन्प्रत्ययः । न छियन्ते हि प्रणि-  
नोऽनेन पीनेन । अथवाऽत्यन्तस्वादुरसत्त्वादमृतमित्युच्यते,  
तथा 'अमृतो हापः'—इति ध्रुतिः । “यत्रा सुपर्णा अमृतस्य  
भागम् ( ऋ० सं० २, ३, १८, १ )”—इति निगमः ॥

(८४) इन्दुः । 'जि इन्धी दीप्तौ ( ह० धा० )' । अस्मात्  
'उन्देरिधादेः ( उ० १, १२ )'—इति विधीयमान उप्रत्ययी  
चादुल्लकाद् भवति, धकारस्य दकारश्च । इन्धे दीप्यते स्वेन  
तेजसा द्वैचतात्त्वान् । यद्वा, 'उग्दी ह्नेदने ( ह० ष० )' । 'उन्दे-

विषादेः ( ३० १, १२ )—इत्युत्तरपयः आदेर्निशादेः अने भूमिमिन्दुः । यद्वा, 'इदि पामेद्वर्ये ( मू० प० )' । अन्माः प्रत्ययः । पामेद्वरं हि जन्तुं देवतात्वात्, प्राणिनां प्राणत्वं जीवतस्य च तदायत्त्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८५) हेम । द्विरप्यनामसु व्याख्यातम् । (२) हिनोति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा तदर्थिभिः, पद्वेन वा वषांसु निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८६) स्वः । सुपूर्वादर्शोऽतमांषितप्ययांश्च 'अन्वेष्यांश्चि' दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )—इति विच्, गुणः 'स्वरादिनिपातमध्य-यम् ( १, १, ३७ ),' सुपो लुक्, रेफस्य विसर्जनीयः । अना-युष्ट्यादिजनितं ऋशं सुष्टु शोभनं गमयति नाशयति, स्वः । यद्वा, केवलादेव स्वार्थं णिच् 'अपिशब्दः सर्वोपाधिब्यभि-चारार्थः'—इत्युक्तेरिष्टार्थसिद्धिः । अरणं गमनं दोषरहितत्वेन शोभनं यस्य, सुष्टु गच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा, सुष्टु प्राणि-भिर्गम्यते इति वा, स्वः । अकारान्तमप्यस्ति । सुपूर्वाद्भ्रमतेश्च बाहुलकाद्भवति । "आविः स्वः कृष्णते गृहते घुसं ( ऋ० सं० ७, ७, १६, ४ )"—"स्व १ः सिपास्तनृधिरो गविष्टिषु ( ऋ० सं० ७, ३, १, २ )"—इति च रेफान्तस्य निगमौ । "आसु स्वासु वंसगः ( ऋ० सं० ८, ८, २, ३ )"—इत्यकारान्तस्य । समा-स्रायपाठः उभयत्र समानः ॥

(८७) सर्गाः । 'सृज विसर्गे ( तु० प० )' । कर्मणि घञ् । घञ्यते मेघैर्घिसृज्यत इति सर्गाः, जसि सर्गाः । यद्वा, सर्गो वेगः,

‘अर्शादित्वाद्च् ( ५, २, १२७ )’ । धेगचन्ति हि जलानि ।  
 “सर्गासो घतांश्च ( ऋ० सं० ७, ७, ११, ४ )”—इति निगमः ॥

(८८) शम्बरम् । सम्पूर्वाद् वृणोतिः ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च  
 ( ३, ३, ५८ )’—इत्यप् । संश्रियते मेघैः । यद्वा, पचायच्  
 ( २, १, १३४ ), वृणोति हि भूमि संवरम् । वृणोदरादित्वात्  
 ( ६, ३, १०६ ) शम्बरम् । यद्वा, शम्बो घञः निरुक्तो मेघनामसु  
 ( १० ) । तद्वातपीन्द्रः शम्बः, मत्वर्थोयस्य लृक् । ‘रा दाने  
 ( अदा प० )’ शम्बेनेन्द्रेण दीयते शम्बरः । ‘घञर्थे कचिधानम्  
 ( ३, ३, ५८ पा० )’—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः । यद्वा, शञ्च  
 तद्वच्च शम्बरः । शमनं च रोगाणामुत्कृष्टञ्च सर्वपदार्थेषु  
 इत्यर्थः । ‘शम्बरं सम्बरं जलम्’—इति माधवः । “अतिधि-  
 ग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् ( ऋ० सं० २, १, १६, २ )”  
 —इति निगमः ॥

(८९) अभ्यम् । आहपूर्वात् भवतेः क इत्येष षाड्गुल्काद्  
 भवति, उपसर्गह्रस्वत्पञ्च । ‘छन्दस्युभयथा ( ६, ४, ८६ )’—  
 इति सुषि भूसुषियोर्विधीयमानो यणादेशो ध्यत्ययेन कप्रत्ययेऽपि  
 भवति । आ समन्ताद् भवति विद्यते अभ्यम् । ‘अभ्यमा भवति’  
 —इति माधवः । “सनेभ्यर्भ्यं मर्तो जुनन्ति ( ऋ० सं० २, ४,  
 ८, ३ )”—इति निगमः ॥

(९०) षपुः । ‘दुषप षीजतन्तुसन्ताने ( मू० उ० )’ ।  
 ‘असिपूषपियजितनिधनितपिभ्यो नित् ( उ० २, ११० )’—इत्युसि-  
 प्रत्ययः । उप्लेऽनेन षीजम्, षीजपने हि जलं सापकृतम्

भवति । “चरिण्य १ विर्वपुगामिदेकम् (श्रु० सं० ३, ५, ७, ४)”  
—इति निगमः ॥

(६१) अम्यु । अन्तरिक्षनाम्नोऽम्बुष्यस्य निर्वचने वित्त-  
रैणोक्तम् । (३) निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६२) तोयम् । तवतेर्द्विकर्मणः ( निरु० ६, २५ ) ‘अप्र-  
वयश्च ( उ० ४, १०८ )’—इति यत्प्रत्ययो निपातितो द्रष्टव्य-  
पद्वते घर्षासु । ‘तुदति तोयम्’—इति क्षीरस्वामी । तुदते  
पूर्वयत् यत्प्रत्यये निपातनाद् इकारलोपो गुणः । यदुवा, तुदि  
सौत्र आवरणार्थः । “तोयेन जीवद्भ्यः ससर्ज भूम्याम्”—इति  
निगमः ॥

(६३) तूयम् । पूर्ववन्निपातनाद्घर्षासिद्धिः । उकारस्य दीर्घ-  
( ६, ३, १३३ ) । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६४) कृपीटम् । ‘कृपू सामर्थ्ये ( भू० आ० )’ । ‘कृपू-  
पिम्यः क्रीटन् ( उ० ४, १८० )’—इति क्रीटन्प्रत्ययः । ‘कृपो  
सो लः ( ८, २, १८ )’—इत्यत्र, काशिकावृत्तिः—‘कृपणकृपीट-  
कंपूरादयोऽपि कृपेरेव द्रष्टव्याः’ । ‘उणादयो बहुलम् ( ३, ३  
१ )’—इति च कृपेरेव बाहुल्यकारणत्वाभावात् । भाष्येणु-  
‘कृपणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ( ८, २, १८ भा० )’—इति  
मृत्याभावात् । कल्पने तापनिवारणाय । “यत्र कृपीटमनु  
मत्तहन्ति ( श्रु० सं० ७, ७, २१, २ )”—इति निगमः ॥

(६५) शुक्लम् । ‘शुच दीर्घो ( निघ० १, १७ )’ । असात्  
‘शुञ्जेन्द्रामपत्रपित्र ( उ० २, २७ )’—इत्यादिना ककारान्ता-

देशो र्मात्ययो गुणामायध निपात्यते । शोचते शुभः । यदुषा,  
शोचतेर्ञ्चलतिकर्मणः ( निय० १, १७ ) सम्पदादित्वात् ( ३, ३,  
१५, पा० ) क्त्वा । शुचि, सद्यस्य, रो मत्पर्यायाः । क्षीतमित्यर्थः ।  
शुक्रं, तेजःशब्दो वा, रेतःपर्यायस्यात् 'देवानां वै रेतो षण्म'—  
इति ध्रुनेः उदकनामत्थमपि बोद्धव्यम् । "शुक्रासु ते शुक्रमायुताम्"  
—इति निगमः ॥

(१६) तेजः । 'तेज् पालने' भूयादिः परस्मैपदी । असुन्  
( उ० ४, १८४ ) । तेजवति पालयति प्राणिनः पिपासादिनि-  
षारणान् । यदुषा, 'तिज निशाने ( भू० आ० )' असुन् ।  
अनिजत्वात्पां कार्प्यकारणयोरभेदोपचारात् तेज इत्युक्तिः ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) संधा । स्वशब्द उपपदे 'डु धाप् दानधारणयोः ( जु०  
उ० )'—इत्यस्मान् 'आतोऽनुपगो फः ( ३, २, ३ )' । स्वमाग्मानं  
सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति 'आपो नारा इति  
प्रोक्ता आपो वै नरसूतयः । अयनं सस्य ताः पूयं तेन नारायणः  
स्मृतः । ( मनुः १ अ० १० श्लो० )'—इति । स्वं धनं ददातीति  
वा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१८) धारि । ऊर्णतिः इणप्रत्ययः । धार्यते तन् सेत्वादिभिः  
पुरुषैः । वाजसनेयै सौत्रामणीमैषे—'देवं वर्द्धिर्वास्तिनाम्  
( य० वा० सं० २१, ५७ )'—इति निगमः । अत्र भाष्यकद्रुचटः—  
'धारितीनामुदकवतीनां धारिभयानां वा ओपधीनां सम्भन्धिने  
अध्वरे स्तीर्णम्'—इत्यादि ॥



जः । अन्यथापि दृश्यते ( ३, २, १०१ )—इति रो  
 निरुपपदादपि जनेर्मघति । औः जातैः प्राणिभिः लापते  
 आदीयते इति जलम् । 'ला धादाने ( अदा० प० )'  
 निगमोऽन्धेषणीयः ॥

(१००) जलापम् । औः जातैः लप्यते घाम्दृश्यते ( मू० उ० )  
 इति जलापम् । जशब्दउपपदे लपेः कर्मणि घञ् । 'जलापं  
 जलपितं जातैः'—इति माधवः । यदुवा, जलापमिति सुक्ता-  
 सुखदेतुत्वाद्वां तद्धेतौ ताच्छ्रम्यम् । "इदं जलापमेवम्  
 ( ऋ० सं० १, ३, २३, ४ )"—इति निगमः । 'जलापमुदकनाम  
 वा'—इति माधवोऽभाषयन् ॥

(१०१) इदम् । 'इदि परमैश्वर्ये ( भू० प० )' इदिवानुम् ।  
 'इन्देः कर्मरलोपश्च ( उ० ४, १५२ )'—इति कर्मिप्रत्ययः ।  
 देवत्वाद्वां परमैश्वर्यं विद्यते । 'इणो दमुग्'—इति धीमोत्रदेव,  
 ईषते निम्नं प्रदेशं गम्यते वा । यदुवा, इन्देः कर्मिन् बाहुलका-  
 न्नलो गो धकारस्य दकारश्च । इन्दे दीप्यते इदम् । "खंसारो वा  
 इदं ययुः ( ऋ० सं० २, ५, २३, ५ )"—"ता जिह्वां सदमेदं  
 सुमेधाः ( ऋ० सं० ५, १, १०, ३ )"—"रूपामिमानो  
 भृगुणोदिदन्तः ( ऋ० सं० ४, २, १६, ३ )"—इति च  
 निगमाः ॥

इत्येकशतमुदकनामानि ( १०१ ) ॥ १२ ॥

अवनयः (१) । यव्हः (२) । खाः (३) ।  
 सौराः (४) । स्रोत्याः (५) । एन्यः (६) ।  
 धुनयः (७) । रुजानाः (८) । वक्षणाः (९) ।  
 स्वादो अर्णाः (१०) । रोधचक्राः (११) ।  
 हरितः (१२) । सरितः (१३) । अग्रुवः (१४) ।  
 नभन्वः (१५) । वध्वः (१६) । हिरण्यवर्णाः (१७) ।  
 रोहितः (१८) । सस्रुतः (१९) । अर्णाः (२०) ।  
 सिन्धवः (२१) । कुल्याः (२२) । वर्य्यः (२३) ।  
 उर्व्यः (२४) । इरावत्यः (२५) । पार्वत्यः (२६) ।  
 स्रवन्त्यः (२७) । ऊर्जस्वत्यः (२८) । पय-  
 स्वत्यः (२९) । सरस्वत्यः (३०) । तरस्वत्यः (३१) ।  
 हरस्वत्यः (३२) । रोधस्वत्यः (३३) । भास्व-  
 त्यः (३४) । अजिराः (३५) । मातरः (३६) ।  
 नद्यः (३७) । इति सप्तत्रिंशन्नदोनामानि ॥१३॥

(१) अवनयः । पृथ्वीनामसु व्याख्यातः । (१) अवनन्ति जगत्  
 स्वोदकेन, अव्यन्ते प्राणिमिस्तीरादिनिर्माणेन । “वासिञ्जस्ती-

एवमयः समुद्रम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १) — "गान्त्राणां मवती

समुच्चम् (ऋ० सं० १, ४, २६, ५) — इति च निगमौ । निगमः

यदुपचनान्तस्येन प्रापशः ध्रुवणात् सर्वत्र यदुपचनान्तस्यम् ।

। (२) यहुयः । 'या प्रापणे ( मया० प० )' । 'शिवयह्निः

प्रीयाप्यामीया ( उ० १, १५२ )' — इति निपातनात् स्यन्त्यो

धातोर्ह्रस्वत्वं हुगागमध । याहुल्यकादापः स्थाने ङीप् पिप्प्यन्ति-

त्याहु द्रष्टव्यम् । याति तांस्तान् प्रदेशान् प्राप्यन्ते वा प्राणिनि

पडा, 'यहः' — इति महशाम ( निघ० ३, ३ ), पूर्वयन् ङीप् । यद्

महत्यो नयः । द्विधातुजं वा इदं नाम, — यातेर्ह्रजः, पुनोदर्पा

( ६, ३, १०६ ) । याताश्च प्राणिनिः हुताश्च यज्ञेष्वित्यर्थः

'स्वयमत्कैः परिदीयन्ति यद्भिः ( ऋ० सं० २, ७, २४, ४ )' —

'अवर्द्धयन्तसुभगं सप्त यद्भिः ( ऋ० सं० २, ८, १३, ४ )' — इति

च निगमौ ॥

'केषुचित् कोशेषु "यव्याः" — इतीदं नाम द्रष्टम् । 'यु मिथणे

( अदा० प० )' पृथग्भावोऽप्यस्यार्थः — इति नैगमकाण्डे 'विद्युते

( निरु० ४, २५ )' इत्यस्य निर्वचने स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितः ।

'यु मिथणे' — इति, अयं पठ्यते, प्रयुज्यते च — 'जनयत्यै त्वा

संयौमि' — इति, तथापि पृथग्भावेऽपि वर्तते । न चायं वेत्प-

सर्गस्यार्थः, केवलस्यापि दर्शनात् — 'युतं धनमस्य' 'युतं भोजन

मस्य' 'युतोऽयम्' — इति पृथग्भूत इति 'गम्यते' — इति । अस्मात्

विरपिलपित्रपिचमश्च ( ३, १, १२६ ) — इति ष्यति प्राप्ते

'यहुलम् ( ३, ३, ११३ )' — इति 'अचो' यत् ( ३, १, १० )'

शुणे, 'धान्तो वि प्रत्यये ( ६, १, ७६ )' घर्षासु मेघैरुदकेन मिथ-  
 णीयाः अन्येषु सूर्यारश्मिभिराकृष्टेन पृथग्भवन्तो घ। अथवा  
 'सुम् घन्धने (कृ० ३०)' अस्मात् अघ्न्यादित्वात् (३० ४, १०८)  
 यक् द्रष्टव्यः। वध्यते आसु सेतुरिति, यव्याः। यद्वा, यवेभ्यो  
 धान्यविशेषेभ्यो द्विताः 'खल्यपमापतिल्युपग्रहणश्च (५, १, ७)  
 —इति यत्। नदीज्वेनापि वदुर्धन्ते यव्याः। "वार्षं त्वा  
 यव्याभिः (ऋ० सं० ६, ७, २, २)"—इति निगमः।  
 'हृदमिव कुल्याभिः'—इति माधवभाष्यम्। अनयोर्युक्तं गृह्णन्तु  
 सूर्यः ॥

(३) खाः। 'खन अघदारणे ( भू० ३० )' 'अन्येष्वपि दृश्यते  
 (३, २, १०१)—इत्यत्र 'अपिशब्दः सर्वोपाधिष्वभिचारार्थः (३, २,  
 १०१ भा०)'—इत्युक्तेर्निरुपपदादपि जनिव्यतिरिक्तादपि खनेर्ऽः  
 प्रत्ययः, टाप्। वृषहन्नादिन्द्रेण खाताः। तथा च धृतिः—  
 'अपां विलमपिहितं यदासीद् वृषं जघन्वां अप तद्वार  
 (ऋ० सं० १, २, ३८, १)—इति, 'इन्द्रो अस्मा अददद् वज्रवाहुः  
 (ऋ० सं० ३, २, १३, १)—इति च नदीषाक्यम्। यद्वा, खनन्ति  
 भूमिं वेगेन वहत्यः। अथवा, 'खे दाने'। 'घञर्थे कविधानम्  
 (३, ३, ५८)—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः, टाप्। 'खे स्थेभ्यो  
 हिंसायाञ्च (भू० ५०)—इति घा। खापन्ति शिरा भवन्ति घृत्रेण  
 रुद्धाः, हिंस्यन्ते घा तेन, खाः। "सरायस्त्रामुप सृजा गृणानः  
 (ऋ० सं० ४, ७, ८४)"—"ऋध्याम ते घरण त्रामृतस्य  
 (ऋ० सं० २, ७, ६, ५)"—इति च निगमौ ॥

(५) सीराः । 'गिम् वन्धने' मौषादिकः ऋषादिकस्य ।  
 'शुसिनिमीनां दीर्घम् (उ० ३, ३५)'—इति स्वल्पय । सीरान्ते  
 वन्धने भासु गेत्वादिनः किलादिभिरपतारा वा । 'सत्तान्  
 सीरः'—इति सत्तर्षातोः 'बहुलकादिपट्टिर्लोप्य ईत् (उ० ४,  
 २६)'—इति बाहुलकात् मयति टिलोपस्य । 'सीरान्तो  
 नदीचचनान्तोदात्तः, हलचचन भासुदात्तः'—इति माधवः ।  
 "दधित्प्यः पृथिव्यां सीरा मधि (ऋ० सं० ८, १, ८, ४)"—"सीरा  
 इन्द्रः अदितये पृथिव्या (ऋ० सं० ३, ६, २, ३)"—इति च निगमः ॥  
 "सीरा युञ्जन्ति कवयः (ऋ० सं० ८, ५, १८, ४)"—इति हलचचनः ॥

(५) श्रोत्याः । श्रोतसि मघाः । 'श्रोतसो विभावाड्यङ्गी  
 (४, ४, ११३)'—इतिङ्यप्रत्ययः । श्रोतोऽनुसरणाद्दिनयो भवन्ति ।  
 "नयति श्रोत्या नय स्रयन्ती (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)"—इति  
 निगमः ॥

(६) एन्यः । 'इण गतौ (अदा० ५०)' । 'धीज्याञ्चरिभ्यो  
 निः (उ० ४, ४८)'—इति बाहुलकान्निप्रत्ययः । 'हृदिकारात्  
 (४, १, ४५ वा०)'—इति डीप् । यन्ति एभ्यः गमनस्वभावा हि  
 नयः गम्यन्ते षा प्राणिभिः । "चि यद् घर्तन्त एन्यः (ऋ० सं०  
 ४, ३, १२, २)"—इति निगमः । एनीशब्दो नदीचचनोऽन्तोदात्तः  
 अन्यप्रासुदात्तः इति माधवः । "एनी स पते बृहती अभिधियां  
 (ऋ० सं० २, २, १३, ६)"—इति अत्योदाहरणम् ॥

(७) धुनयः । 'धुम् कम्पने' मौषादिः । बहुलानुवृत्तेः  
 'घृणिपृथ्विपाष्णिवृष्णिभूर्णि' (उ० ४, ५२)'—इत्युक्तेर्निप्रत्ययः

केच । धुन्वन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं  
गमनशीलत्वात् । “दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम् (ऋ० सं० २, ७,  
१२, २)”—इति निगमः ॥

(c) रुजानाः । ‘रुजो मङ्गे’ तुदादिः परस्मैपदी । व्यत्ययेन  
शानच्, अत्र च प्रथमासमानाधिकरणे शानच् भवति, मुगागमस्तु  
न त्रियते आगमानित्यत्येन व्यत्ययेन वा । रुजन्ति कुल्लाति ।  
“सं रुजानाः पिपिय इन्द्रशत्रुः (ऋ० सं० १, २, ३७, १)”—इति  
निगमः ॥

(d) घक्षणाः । ‘घक्ष रोषे ( भू० प० )’ । ‘कुधमण्डार्येभ्यश्च  
—इति युच् । घक्षन्ति कुध्यन्तीव हि ताः वर्षासमये वेगेन  
गच्छन्त्यः । चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः । यदुवा,  
‘घह प्रापणे (भू० उ०)’ । अस्माद् ‘युच् यदुलम् (उ० २, ७४)’—  
इति युचि पुगागमो यादुलकाद् भवति । स्वयं प्रवहन्ति हि  
ताः । ‘घक्षतिः प्रातिकर्मणः स्यात्’—इति माधयः । युच् ।  
प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निर्मं वा ।  
“प्र घक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)”—  
“महि ज्योतिर्निहित घक्षणासु (ऋ० सं० ३, २, ३, ४)”—इति  
निगमौ ॥

(१०) स्वादोभर्णाः । ‘स्वाद भक्षणे ( भू० आ० )’ । कर्त्तव्य-  
सुन् ( उ० ४, १८४ ) भर्णशब्दोऽकारान्तोऽपि निष्क उदकनामगु  
(१२) । स्वादः, भक्ष्यमाणः । भक्षणेन चात्र बाधनं लक्ष्यते, तेन  
कूलं बाधमानोऽर्णो जलं यासामिति स्वादोभर्णः, वेगवद्भला

अन्यार्थः । 'प्रत्ययान्तः पादमन्त्रणो ( ६, १, ११५ )' । तथा  
 माधवः—“धन्यर्णसो मन्त्रः आद्योमर्णाः ( प्र० सं० ४, २, २१,  
 २ )”—इत्यत्र 'धन्यर्णसस्तद्वज्रलाः । आद्योमर्णा ज्ञान्यन्विताः ।  
 आद्यो येनवज्रन्तं यासां तास्तवोकाः मक्षिणाः न्योदकाः’—इति ।  
 “धन्यर्णसः ( प्र० सं० ४, २, २१, २ )”—इत्यर्थं निगमः । मन्त्र-  
 षांशाराध्वां विशेषणम्, अन्यो वा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) रोधचक्राः । 'रुधिर् धापरणे ( ६० प० )' 'मात्रे ( ३३,  
 १८ ) घम् । 'दुठम् करणे ( तना० उ० )' 'घप्रथे कविघान्त्र  
 ( ३, ३, ५८ पा० )—इति फः । 'रुभ्रादीनां के द्वे मयतः’—इति  
 द्वितयम् । चक्रम् करणम्, रोधः, रोधस्य निरोधस्य चक्रं कर्म  
 कृतिरासां विद्यते इति रोधचक्राः । नद्यो वृष्ट्या प्राणिनां स्वैर-  
 सञ्चरणनिरोधकारिणः । यद्वा, रोधः तीरं, तस्य करणं निर्माण-  
 मासां विद्यते तीरवत्यो हि नद्यः । सकाररलोपश्छान्दसः । यद्वा,  
 रुधेः करणे घञि ( ३, ३, १६ ) रुध्यतेऽनेन जलप्रवाहं इति रोधः  
 शब्दः करणं निर्माणमासां विद्यते । “समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः  
 ( प्र० सं० ३, ५, १३, २ )”—इति निगमः ।

(१२) हरितः । 'हम् हरणे' भूवादिः ( उ० ), 'ह प्रसह्यकरणे  
 जुहोत्यादिः । 'हस्रुहियुषिभ्य इतिः ( उ० १, १४ )' । हरन्ति  
 वृक्षगुन्मादोर्नि वेनेन, प्रसह्य हरन्ति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१३) सरितः । 'सृ गतो ( भू० प० )' । पूर्वैण सूत्रेण ( उ०  
 १, १४ ) इतिप्रत्ययः । एन्य इत्यनेन समानार्थः । “सम्यक् स्रवन्ति  
 सरितो न घेना ( प्र० सं० ३, ८, ११, १ )”—इति वा

मुद्रान्तस्रितिः 'पिपत्ति ( ऋ० सं० ५, ५, १७, २ )"—इति  
विंगमो ॥

(१४) अप्रुघः । 'अहि गतो ( भू० आ० )' । 'जष्पादयश्च  
उ० ४, १०० )"—इति ऊप्रत्यायान्तेषु निपातितेषु द्वष्टव्योऽयं  
प्रुघः; निपातनाभ्रलोपः, 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् ( ६, ४, ८६  
गा० )"—इत्युच्यते । गच्छन्ति सांस्तान् प्रदेशान् । 'अप्रुघो गमनात्  
प्रुघः'—इति माधवः । "समप्रुघो समनेष्वञ्जन् ( ऋ० सं० ५, २,  
५ )"—इति निगमः ॥

(१५) नमन्वः । 'रण नुम हिंसायाम्' भूवादिरात्मनेपदी,  
देवादिः क्त्वादिश्च परस्मैपदी । 'दामान्भ्यां नुः ( उ० ३, ३१ )'  
—इति बाहुलकात् नुप्रत्यये नकार उपजनः । नमन्ते, नम्यन्ति,  
नमन्ति इति नमन्वः । 'जसादिषु छन्दसि वा चचनं प्राङ् णी  
चक्षुषुपधायाः'—इति विकल्पितत्वात् 'जसि च ( ७, ३, १०६ )'  
—इति गुणाभासः । नद्यो हि बाधिकाः कृलादीनाम् । "प्राप्रुघो  
नमन्वो ३ नचकाः ( ऋ० सं० ३, ६, २, २ )"—इति खीलिङ्गो  
निगमः । "प्र पर्वतस्य नमनूर्च्छुच्यचुः ( ऋ० सं० ४, ३, २४, ७ )"  
—इति पुह्लिङ्गे । अत्र 'सिन्धवः स्युर्नमन्वः'—इति माधवनिर्व-  
चनानुक्रमणी ॥

(१६) घञ्वः । 'घह प्रापणे ( भू० उ० )' । 'घहो घश्च ( उ०  
१, ८० )"—इति ऊप्रत्ययः । घहन्ति उहन्ते वा भूम्याम् । यद्घा,  
समुद्रस्य भार्यात्वात् घञ्व इत्युच्यते । सरित्पतिर्हि समुद्रः ।  
विंगमोऽन्धेवणीयः ॥



(१७) हिरण्यवर्णाः । हिरण्यवर्णो निगमः (१५१) 'इत्ये कन्यन् हिरण्य'—इत्यादिना । 'भूमपरणे (सा० उ०)' । 'सुत्रेन्द्राप्रगु ( उ० २, २७ )'—इत्यादिना रत्नप्रत्ययान्तो निर्गमितः । वृणोति श्रियते षाडसाधिति वर्णाः श्वेतादिः । हिरण्यः कल्ल श्यो वर्णो वारसा ताः । यदुवा, हिता घमादौ रमणीया मन-प्रहादजनविशयः, पारिकाभ तापादेमुंम्या षा इति । "हिरण्यवर्णाः परियन्ति यद्वाः ( ऋ० सं० २, ७, २३, ४ )" —इति निगमः ॥

(१८) रोहितः । 'रुद्र धीजजन्मनि ( भू० प० )' । 'हृसृदि-युषिम्य इतिः ( उ० १, ६४ )' । रोहन्त्यामिर्योतानि, तज्जलेन द्वि धीजानि प्ररोहन्ति । निगमोऽन्वेषणीयं ॥

(१९) सस्रुतः । सम्पूर्वात् 'स्रु गतो ( भू० प० )'—इत्यस्मात् 'किप् च ( ३, २, ७६ )'—इति किप्प्रत्ययः । सङ्गताः सस्रुतः । समोऽन्तलोपशब्दान्दसः धुदनयो महानद्यश्च परस्परं सङ्गता भवन्ति ततः सस्रुत इत्युच्यन्ते । सस्रुतः सङ्गता इति माधवः । यदुवा, स्रवतेः सम्पदादित्वात् ( ३, ३, ६४ धा० ) किर् । स्रवणं स्रुतजलप्रवाहः स्रोत इत्यर्थः, तथा सह वर्तन्ते इति सस्रुतः । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम् ( ३, ६, ७८ )'—इति स-सस्रुतः । 'सस्रुतः स्रोतसा युक्ताः'—इति च माधवः । 'अस्तस्य घेना'अयन्त सस्रुतः ( ऋ० सं० २, २, ८, १ )—इति निगमः ॥

∴ (२०) अर्णाः । 'अण गतो' तनादिः (प०) । 'पचायच् ( ३, १ )'—अर्णन्ति गच्छन्त्यर्णाः । यदुवा, अर्ण इत्यकारान्तम-  
२। (१५१ पृ०) अर्ण आदित्वादच् (५, २, १२७)।

लवत्यो हि नद्यः । 'अर्त्तेरर्णांस्युपगाः'—इति माधवः । तत्र  
क्षे 'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः । यद्वा,  
त्वाचचि ( ३, १, १३४ ), अर्त्तेः 'उदके नुद् च ( उ० ४, १६२ )'—  
त्यसुनि विहितो नुडागमो याहुलकाद् भवति । "ऋणोरपो  
प्रवद्यार्णाः ( ऋ० सं० २, ४, १६, २ )" —इति निगमः ॥

(२१) सिन्धवः । 'स्यन्दूप्रघ्नपणे ( भू० आ० )' । 'स्यन्देः  
तप्रसारणं घश्च (उ० १, ११)'—इत्युप्रत्ययः । स्यन्दन्ते इत्यर्थः ।  
'अधो अधाः सिन्धयः स्रोत्यामिः ( ऋ० सं० ३, २, १३, २ )"  
—"यस्य ते सत सिन्धवः ( ऋ० सं० ६, ५, ७, २ )" —इति च  
निगमौ ॥

(२२) कुल्याः । 'कुल संस्त्याने ( भू० प० )' । फोलन्ति  
संस्त्यायन्त्यस्मिन् शिलादय इति कुलं पर्वतः । कुले प्रधानभूते  
पर्वते भयाः कुल्याः । 'भवे छन्दसि ( ४, ४, ११० )'—इतियत् ।  
कुल्लिनिर्वचने 'कुल्ल्यातनः ( निद० ६, १७ )'—मेघस्य पर्वतस्य  
घा समुच्छ्रिताः प्रदेशाः, कुल्याः, तेषां च शातनः इत्युक्तेः । मेघस्य  
पर्वतस्य घा समुच्छ्रिते प्रदेशे कुले भवन्तीति कुल्याः । क्षीरस्वामी  
तु 'कुलानि पर्वतानि श्यति पञ्चच्छेदेन सनूकरोति, कुल्लियाः'—  
इत्युक्तवान् । यद्वा, 'कुल्याऽप्या कृत्रिमा सरिन् ( अम० १, १०,  
३४ )—इत्यत्र क्षीरस्वामिनो व्याख्या—'कृत्रिमा अल्पा च क्षेत्रसे-  
कार्या कुल्या' । कुत्रे साधुः 'तत्र साधुः ( ४, ४, १८ )'—इति  
यत् । पदाहुः—'कुल्यादानं जलं पिबान् कुल्ल्यो मान्ये ध्यवस्थितः ।  
दाप्पत्स्यं कुलमित्यन्ये हलं वा कुलमुच्यते'—इति । "स्यन्दन्तां

बुद्ध्या । विदिताः पुगनाम् ( अ० सं० ४, ४, २५, ३ )—इति

बुद्ध्या इयाऽऽशात् ( अ० सं० ३, ३, ६, ३ )—इति च निगमो ।

(२३) पर्वः । 'वृन् पर्वणे ( ग्या० उ० )'—'वृद् सामर्थ्यं

( वृत्ता० भा० ) । 'अथ इः ( उ० ४, १३४ )'—इति इत्यन्तः,

'एदिकारात् ( ४, १, ४५ पा० )'—इति डीप् । पर्वणीयाः सन्तः

जनीया वा पर्वः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इदं नाम माधवः "अतायवर्षः"—इत्यपठन् । 'अतमित्युदक्तात्

( नि० २, ५२ ) "छन्दसीयनिर्णो च ( ५, २, १२२ पा० )"—इति

मत्पर्थोयो यनिप्, 'पनो र च ( ५, १, ७ )'—इति डीवर्षो, 'अने-

पामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः, अतायवर्षः । "अता-

परीरुपं मुहूर्त्तमेवैः ( अ० सं० ३, २, १२, ५ )"—इति निगमः ॥

अथ स्कन्दस्वामिना 'नदीनाम्'—इति नोक्तम्, युक्तं गृह्यन्तु सूर्यः ॥

(२४) उर्वः । उर्णुम् आच्छादने ( अदा० उ० )—इत्यस्मिन्

वृणोतेरथ । उर्व इति पृथिवीनामसु व्याख्यातम् ( १, १, १० ) ।

महत्पो नद्यः, छादयिष्यो वा भूमेः स्वेनोदकेन ॥

पतदादीनामुत्तरेयां नाम्नां निगमा अन्वेषणीयाः प्रायेण ॥

(२५) इरावत्यः । 'इण गती ( अदा० प० )' । 'अत्रोत्त्राम्ब-

जुवित्र ( उ० २, २७ )'—इत्यादिना रप्रत्ययो गुणामावो निपात्यते ।

इरा वत्, तदासामस्ति मनुप्, घत्व, डीप् ॥

(२६) पार्वत्यः । पर्वतशब्दो निरुक्तो मेघपर्वतानां नामत्वेन

( १, १०, ६ ) । 'तरुयापत्यम् ( ४, १, ६२ )'—इत्यण्, डीप्

( ४, १, १५ ) ॥

(२७) स्रवस्त्वयः । स्रु गती ( भू० प० ) । लट्, शतृतो ङीप् ।  
 र्वेदा गमनस्वभावः । "नवति स्रोत्या नव च स्रवन्तीः ( ऋ० सं०  
 ५, २५, ३ )" —इति निगमः । अत्र स्रोत्या इति विशेषणम् ॥  
 अस्य स्वानि "रेवत्यः" —इति केषुचित् कौशेषु दृश्यते । तदा,  
 र्विः" —इत्युदकनाम ( १२, ७३ ) । रविरासाम्स्तीति मतुप्,  
 र्वयेर्मती बहुलम् ( ६, १, ३४ चा० ) —इति साप्रसारणम् । "पतिः  
 सिन्धूनामसि रेवतीनाम् ( ऋ० सं० ८, ८, ३८, १ )" —इति  
 निगमः । सिन्धुशब्दो विशेषणम् ।

(२८) ऊर्जस्त्वयः । 'ऊर्जं बलप्राणनयोः' घुरादिः ( प० ) ।  
 असुन् ( उ० ४, १८४ ) । ऊर्जयतीत्पूर्जो षलं तेन तद्वत्यः ।  
 'असायामेघाप्रतो विनिः ( ५, २, १२१ )' — 'बहुलञ्छब्दसि ( ५,  
 २, १२२ )' —इत्युकेर्मतुप्, 'तसौ मत्वर्थे ( १, ४, १६ )' —इति  
 भसञ्ज्ञा । यलयत्यो हि नद्यः यतः स्ववेगेन स्थिरानपि धृक्षादीन्  
 हरन्ति । 'भोजसा घा एता बहन्तीरिवोहतीरिव धाकूलन्तीरिव  
 घावन्तीरिव' —इति श्रुतिः ।

(२९) पयस्त्वयः । 'पा पाने ( भू० प० )' । पिवतेरी चासुन् ( ६,  
 ४, ६६ । उ० ४, १८४ ) । पीयत इति पयः । प्यायतेर्वा ( भू०  
 आ० ) असुनि बाहुलकान्, 'प्यायः पी ( ६, १, २८ )' —इति  
 निष्ठायां विहितः पोभाषो भवति । वर्द्धतेऽनेन पीतेन प्राणिन इति  
 पयः । उदकं तद्वत्यः ॥

(३०) सरस्त्वयः । सर इत्युदकनामि निरुक्तम् ( १२, ३८ ),  
 तद्वत्यः सरस्त्वयः ॥

(३१) तारस्यत्यः । गृह्यतारणयोः ( मू० प० ) । अमु ( उ० ४, १८४ ) । तारस्यनेनापत्तिरिति तारो षट्, तद्वत्यः ॥

(३२) दरस्यत्यः । 'दम् दरणे ( मू० उ० )' । अमु ( उ० ४, १८४ ) । 'उदकं दर उदकने'—इति निरुक्तम् ( ४, १३ ) इति पदयो दरन्ति, तस्यं हियने वा प्राणिभिरुपमोगाय, तदुपत्यः ॥

(३३) रोघस्यत्यः । रोघस्ता तीरेण, तद्वत्यः । "वित्रा रोघ-  
स्तीरानु ( ऋ० सं० १, ३, १७, १ )" इति निगमः ॥

(३४) मास्यत्यः । 'मा दीप्ती ( अदा० प० )' । अमु ( उ० ४, १८४ ) । मा दीप्तिः, तदुपत्यः, दीप्तिमत्यो हि नयः ॥

(३५) अजिराः । 'अज गतिश्लेषणयोः ( मू० प० )' । 'अजि-  
रशिशिरशिधिलस्थिरस्फिरस्यचिरणदिराः ( उ० १, ५३ )'—इति  
किरच्प्रत्ययो धीभावाभावाच्च निपात्यते । अजन्ति गच्छन्ति  
क्षिप्यन्ते प्रेष्यन्ते आसु नाव इति । यदुवा, 'अजिरम्'—इति  
क्षिप्रनाम ( निघ० २, १५ ), अजिराः शीघ्रगाः ॥

(३६) मातरः । 'माङ् माने ( अदा० आ० )' । तुन्तृचौ,  
'शंसिक्षदादिभ्यः सञ्ज्ञायां तुन्तृचौ ( उ० २, ८० )'—इति  
घञनात् । 'न पृस्वलादिभ्यः ( ४, १, १० )'—इति ङीप्-  
प्रतिषेधः । निर्मोयते प्रजापतिना, मान्ति आसु थाप इति  
वा, मातृवह्नोकस्य रक्षिका इति वा, नदीमातृक इति हि देशस्य  
व्यपदेशः । "जज्ञानं सप्तमातरः ( ऋ० सं० ७, ५, ४, ४ )"—  
"द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु ( ऋ० सं० २, २, ६-२ )"—  
इति ॥

(३७) नद्यः । 'णद् अव्यक्ते शब्दे ( भू० प० )' । पवायच्  
३, १, १३४) । तत्र च 'नद्द्'—इति टिदर्यं पठ्यते ( ४, १,  
५ भा० ), ततो ङीप् । नदन्ति नद्यः । "सो अर्णवो न नद्यः  
मुद्रियः ( ऋ० सं० १, ४, १६, २ )"—"प्रतीपं शापं नद्यो  
दन्ति ( ऋ० सं० ७, ७, २०, ४ )"—इति च निगमौ ॥

इति सप्तत्रिंशन्तदीनामानि ॥ १३ ॥

अत्यः (१) । हयः (२) । अर्वा (३) ।  
वाजी (४) । समिः (५) । वह्निः (६) ।  
दधिक्राः (७) । दधिक्रावा (८) । एतम्वा (९) ।  
एतशः (१०) । पैद्वः (११) । दौर्गाहः (१२) ।  
औचैःश्रवसः (१३) । तार्क्ष्यः (१४) । आशुः (१५) ।  
घ्नः (१६) । अरुवः (१७) । मांश्चत्वः (१८) ।  
अव्यथयः (१९) । श्येनासः (२०) । सुपर्णाः  
(२१) । पतङ्गाः (२२) । नरः (२३) । ह्यार्याणाम्  
(२४) । हंसासः (२५) । अश्वाः (२६) ।  
इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

(१) अत्यः । 'अत् अव्यक्त्यागमने ( भू० प० )' । 'ह्रस्वव्युटो  
बहुलम् (३, ३, १३३)'—इति कर्त्तरि षत् । अथवा 'अप्यादयद्य

(३०५, १०८) इति गणितशालाः इत्यत्र । गणिते गण  
 गण्यन्ति, गण्यन्त्यन्तिकान्तोद् इति वा । "वामणा प्रति की  
 वदन्तु ( अ० सं० ५, १, ३०, ४ )" — इति निगमः ॥

(२) हयः । 'हय गणितिकान्तं ( भू० प० )' । कान्त  
 ( ३, १, १३४ ) । हयनि गण्यन्त्यन्तिकान्तं, विक्रमो वा । 'मध्य  
 दीनां गणितिकान्तो विक्रमणम्' — इति मुनिः । "हयो न विदुः  
 भयुजि नव, पुरि ( अ० सं० ५, २, २८, १ )" — "हयोऽपि  
 ( ता० प्रा० १, १, ० )" — इति न निगमो ॥

(४) भर्ता । 'म गणित्यापन्नयोः ( भू० प० )' । छांदि-  
 पपनिपूराफिम्यो वनिन् ( उ० ५, १०१ ) — इति वनिन्  
 प्रत्ययः । गण्यन्त्यन्तिकान्तं प्रापत्यन्त्यन्तिकान्तः पारमिति वा । 'मर्-  
 रणयान् ( निद० १०, ३१ )" — इति भाष्ये इकन्दस्यामी ।  
 भाष्ये तु मर्येरणयान् इत्यर्थं प्रातयचनं द्रष्टव्यम् । अस्तैस्त-  
 षीतण्यर्थाद्वा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )" — इति  
 वनिनि रूपम् । प्रेष्यन्ते कस्तादिना प्रतिक्षणं पाष्यन्त्यादिनेति  
 वा । यद्वा, अन्यमाश्रितः अस्त्यन्त्यन्तिकान्तः अश्वो ह्यारोहि-  
 यरत्तन्त्रः । "दुभो पन्थनं कत्वा नार्था ( अ० सं० ५, ५, १४, ४ )" —  
 इति निगमः ॥

(५) घाजी । 'घज गतो ( भू० प० )' । घञ् । घाजो वैगः ।

'हस्तरजिः प्रसमो वैगो रपो जयो घाजः' — इति निघण्टुः ।

'अजिन्नज्योश्च ( ७, ३, ६० )" — इत्यत्र न्यासः — 'घकारस्योक्त-  
 संमुखयार्थत्वाद्' — 'घञरेपि कुत्वप्रतिषेधसिद्धे, भवति, घाजः

राज्यम्—इति । वाजोऽस्यास्ति 'अत इनिठनी ( ५, २, ११५ )'  
राजी । वेगवान् ह्यवः । यद्वा, वाजोऽन्नं, देवतात्वे हविल्ल-  
क्षणेन, अभ्यजातीयत्वे तज्जात्युचितमुद्गगाधनेन तद्वा ।  
'वाजाः पक्षाः अभ्यजस्येति वाजी'—इति क्षीरस्वामी । वेजनवान्  
वा । वेजनं कम्पनं कम्पितः स्वयं, कम्पयिता वा परेषामित्यर्थः ।  
अत्र 'ओ विजी भयचलनयोः ( ६० प० )'—इत्यस्माद् वाजशब्दः  
पृथोदरादित्वात् सिद्धः । "विमोचनं वाजिनो रासमस्य ( ऋ० सं०  
३, ३, १६, ५ )" —इति निगमः ॥

( ५ ) सप्तिः । 'षप समवाये ( भू० प० )' । 'सपिनसिब-  
सिपदिभ्यस्तिप्'—इति धीभोजदेवः । सपति सङ्ग्रामेषु सह-  
सामेवैति । गतिकर्मणो वा सप्तिः । 'सपतेः स्पर्शार्थात्'—  
इति माधवः । 'सृष्ट गतौ ( भू० प० )'—अस्माद्वा तिप्त्यये  
गुणे च रेफलोपो बाहुलकात्, सर्पति सप्तिः । "जुगान इन्द्र  
सप्तिमिर्न आ गहि ( ऋ० सं० ६, १, ६, ३ )" —इति निगमः ॥

( ६ ) षहिः । 'षह प्रापणे ( भू० उ० )' । 'षहिथ्रिथ्रुयुद्ग्ला-  
हात्वत्भिभ्यो निप् ( उ० ४, ५१ )'—इति निप्रत्ययः । "ये त्वा  
षहन्ति षहयः ( ऋ० सं० १, १, २६, ६ )" —इति निगमः ॥

( ७ ) दधिक्राः । 'तत्र दधिका इत्येतद् दधन् क मतीति वा  
दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा ( निरु० २, २७ )'—  
इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'दधिकाः, दधत् धारयत् सारोहिणं कामति,  
दधत् क्रन्दति हर्षार्थं हेयारथं करोति, दधदित्याकारी भवति  
अधिष्ठितम्, ईषद्वनतमध्यभागः, उद्धतकन्धरः, कुञ्चितघोषः,



स्तिमितप्रभुः कर्णशुक्तिष्काकारो भवति'—इति । सर्वत्र दृश्य-  
 ष्यः पूर्वपदं तस्य पृगोदरादित्वात् ( ६, ३, १०३ ) तकारलो-  
 इकारान्तादेशश्च । कामनेः कन्दनेपाङ्पूर्वात् करोतेर्वाँतपर-  
 तत्र, कामनेः 'जनसनखनक्रमगमो चिद् ( ३, २, ६७ )'—इति विद्-  
 'विडघनोरनुनासिकस्यात् ( ६, ४, ४१ )'—इत्यात्वम् । कन्द-  
 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )'—इति चिच्, व्यत्ययेनानुना-  
 सिकस्यात्वं, दकारलोपश्च पृगोदरादित्वेन करोतेः किं शु-  
 चानुवर्तने । आङ् च धातोः परो यणादेशः, दधिक्राः । 'कृ-  
 दधिक्रा अनुमन्तवी त्वत् ( ऋ० सं० ३, ७, १४, ४ )'—इति  
 निगमः ॥

(८) दधिकावा । अत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )'  
 —इति चनिप् । अन्यत्सर्वं पूर्वेण समानम् अर्थश्च । 'दधि-  
 प्रायेषमूर्जं स्वर्जनत् ( अद० सं० ३, ७, १४, २ )'—इति निगमः ॥

(९) एतग्या । 'इण् गतो ( अदा० प० )' । 'हसिसुगूर-  
 चामिदमित्पूभूर्विभ्यस्तन् ( उ० ३, ८३ )'—इति तन्प्रत्यय-  
 कर्मणि । 'भूतेऽपि दृश्यन्ते ( ३, ३, २ )'—इत्युक्तेः भूतेऽपि  
 भवन्ति । एतं प्रातम् । 'गम्ह गतो ( मू० प० )' 'इण्शीर्ष्या-  
 षन् ( उ० १, १५० )'—इति यादुलकाद् षन्प्रत्ययः टिलोपश्च ।  
 गम्यत इति ग्वः गन्तव्यो देशः । एतः प्रातो गन्तव्यो येन स  
 एतग्यः । अभ्यस्तु शीघ्र्यातिशयेन गमनारम्भ एवाविलम्बितं  
 गन्तव्यदेशं प्राप्नोतीति एत उच्यते । 'एतग्याः प्रातगन्तव्यः—  
 इति माययः । यदा, एतशब्दः शुकुपश्यायः, गमेः क्विप्, 'गमः

ती ( ६, ४, ४० )—इत्यनुनासिकलोपः, 'ऊञ्च गमादीनाम्  
 ६, ४, ४० चा०)'—इत्युकारोऽन्तादेशः । आगमनमागूः । धानू-  
 र्गर्गयोः स्नानविपर्ययः प्रातः । एतस्य शुक्लवर्णस्यागमनम-  
 स्यास्ति मत्वर्थीयस्य लुक् । एतग्वाः शुक्लवर्णा भ्रवाः । यद्वा,  
 एतः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति 'विशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५, २, १०६)'—  
 अन्येभ्योऽपि दृश्यते (५, २, १०६ चा०)'—इति वप्रत्ययः, गकार  
 उपजनः । 'एतस्य श्वेतवर्णस्य रवो मत्वर्थीयो भवति'—इति  
 माधयः । सर्वेषामभवानां यत्र कापि शौक्ल्यमस्ति रूपेण वा ।  
 एतग्वाशब्दोऽश्वे वर्त्तते । तथाच 'विशाखापादौ मन्थदण्डयोः'  
 —इत्यत्र पदमञ्जरी—'विशाखापादशब्दौ रूढिरूपेण मन्थदण्डयो-  
 र्वर्त्तते, तेन यथाकथञ्चिन् साधुत्वानुशासनार्थं व्युत्पत्तिः क्रियते,  
 —इति । तेनामत्वर्थोऽपि न दोषः । 'एतावा'—इत्याकारान्त-  
 पाठो यथादृष्टम् । "एतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः ( ऋ० सं० ५,  
 ५, १७, २ )" — "एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते ( ऋ० सं० ६, ५,  
 ६, २ )" —इति च निगमादी 'सुपां सुलुक् (७, १, ३६)'—इति  
 विमत्तेराकारः ॥

(१०) एतशः । 'इण् गती ( अदा० प० )' । 'इणस्तशन्तश-  
 सुनी ( उ० ३, १४५ )'—इति तशन्त्यत्ययः । एतशः गमनकुशलः ।  
 यद्वा, एतशब्दात् लोमादित्यान् ( ५, २, १० ) शस् । एतद्वा  
 एतच्छरीर एतशः, पृषीदरादित्यात् ( ६, ३, १०६ ) सर्वसिद्धिः ।  
 "एतशो षदति घूर्ण युक्तः ( ऋ० सं० ५, ५, ५, २ )" — "वदेतशेभिः  
 एतरे रथर्व्यसि ( ऋ० सं० ७, ८, १२, ३ )" —इति च निगमौ ॥

(११) वैश्वः । 'वैश्वो ( वि० भा० ) । 'वृष्युवृष्णे  
( उ० १, १०३ ) इति वृष्युवृष्णे वादुनकार्, ...  
पृषोदरादित्यात् ( ६, ३, १०३ ) । वृष्णे गच्छति वृष्णेऽस्ति  
वा । 'वृष्णेऽस्ति गतिरित्यापत्म्'—इति माधयः । 'वृष्णे  
हि त्य भदि गाम्ना हन्ता ( प्र० सं० ७, ३, २५, ४ )'—इति  
निगमः ॥

(१२) दूर्गाहः । दूर्गाहो उग्राहो गृहानेः ( ऋ० उ० ) सर्वे  
वा ( भू० भा० ) 'इगदः सुगु इच्छाः कृच्छायै गन् ( ३, ३, १३३ )  
रेपल्लोपः, पृषोदरादित्यात् ( ६, ३, १०३ ) गृहानेः, गार्हेर्नन्त्वत् ।  
अभ्युदयानभिर्गृहीतानुमरापयत्यात् दूर्गाह इत्युच्यते । 'दूर्गाह एव  
दूर्गाहः, प्रमादित्यादण् ( ५, ४, ३८ ) । यद्वा, 'दुःखेन गहिकत्वात्  
त्यात् दूर्गाहं जलमुच्यते'—इति माधयः, तत्र मन्वो दूर्गाहः  
'तत्र भवः ( ४, ३, ५३ )'—इत्यण्, 'अप्सु योनिर्वा अश्वः ( शत०  
प्रा० ५, ४, ४, ४ )'—इति धृतिः । "सप्तश्रपयो दूर्गाहे यत्रमले  
( ऋ० सं० ३, ७, १८, ३ )"—इति निगमः ॥

(१३) औच्चैःश्रवसः । अमृतमन्यने जातोऽश्व उच्चैःश्रवः  
उच्चैर्महच्छ्रवः कीर्तिरस्येति, 'तस्यापत्यम् ( ४, १, ६२ )'  
इत्यण् । तत्कुलीना ह्यशवाः सर्वे । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) तार्क्ष्यः । तूर्णमश्नुते गन्तव्यं, तीर्णं अन्तरिक्षे क्षिप-  
तीति तार्क्ष्यः । तूर्णशब्दात् तीर्णशब्दाद्वा पूर्वपदम्, अश्वोते-  
क्षीयतेर्वोत्तरपदम्, पृषोदरादिः ( ६, ३, १०६ ) । 'अश्वो हि  
वेगवशादाकाशे गच्छति हि इत्यने प्रेक्षकैः । 'यद्वा, वेगेन

तार्क्ष्यसादृश्यात् तार्क्ष्यं इत्युच्यते । 'तुरङ्गगच्छी तार्क्ष्यो' ( अम०  
तो० ३, ३, १४५ )—इत्यत्र तुरङ्गस्यापत्यं तार्क्ष्यः, गर्गादित्वात्,  
—इति क्षीरस्वामी । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) आशुः । 'अशू व्याप्ती ( स्वा० आ० )' । कृचापाजिमि-  
स्वदिसाध्यशून्य उण् ( उ० १, १ ) । अश्लुतेऽध्वानम् । अश्लान्तेर्वा  
याहुलकादुण् ( ३, ३, १ ) । अश्लान्ति महाशानो भवति ।  
आशुमिति क्षिप्रनाम ( निघ० २, १५ ), शीघ्रो वा । "द्रव्यसकेष्याशुणु  
( ऋ० सं० ६, ३, १३, ८ )"—इति निगमः ॥

(१६) ब्रध्नः । अत्र भास्करमिश्रेण—'ब्रध्नम् परिवृढम्,  
अरुपमारोचनम्'—इति व्याख्यातम् । घाजसनेये तु,—“युञ्जन्ति  
ब्रध्नमरुपञ्चरन्तम् ( ऋ० सं० १, १, ११, १ )”—इत्यत्र, उच्यते  
—'अश्वं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति, अश्वोऽन्नादिवत् स्तूयत इति घा ॥

(१७) अरुपः । 'ऋ गतिप्रापणयोः ( कृया० प० )' । ऋणाति  
अभ्यामुखं गच्छति, अर्यते वा तदर्थिभिः । यद्वा, अरुपमिति  
रूपनाम ( निघ० ६, ७ ), मत्वर्थीयोऽकारः, प्रशस्तरूप इत्यर्थः ।  
“हरिं मृजन्त्यरुपो न युज्यते ( ऋ० सं० ७, २, २७, १ )”—  
इति निगमः ॥

(१८) मांश्वत्यः । 'मन शानि ( दि० आ० )' । पदस्य नलो-  
पाभायः पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०६ ) । "महीमे अस्य  
घृषनाम ध्रुवे मांश्वत्ये घा पृशने वा घध्रये ( ऋ० सं० ७, ४,  
२१, ४ )"—इत्यत्र, माधवस्य प्रथमभाष्यम्—'मही महती,  
इमे, अस्य सोमस्य, शूषे सुखकरे भवतः । ये च कर्मणी

मांशान्ये । अश्वनामैतत् । मञ्जु शरणीति । मरुतः शिवने  
 गुप्ते पादुगुप्ते, वषत्रे शशूणा हिंसनरान्ति भयतः । सोऽर्ज-  
 भन्वापन्ड्युन्नाम्ने हयवा । स्नेहनं मद्रायणम् । अथ प्रत्यसृष्टं  
 —इत्यादि । अथ मांशद्वयस्य । समाघ्रायवाडेषु मंथन  
 इति दृश्यते । 'मंथनं मांशनोर्यकरणस्य वधुम् (ऋ० सं० ५, ४, ११-  
 ३)'—इत्यत्र माधयः—'मंथनुरित्यश्वनाम । इह तु वर-  
 विशेषणम्, मंथनोर्यकरणस्य महान्तं वधुम्—इत्यमाधय-  
 निरूपणीयम् ॥

(१६) अव्ययः । 'पशामप्रायुत्तराणि बहुचदित्युक्तम् (निरु०  
 २, २४७)' असन्देहार्थमेतदादीनि बहुचचनान्तानि नामानि ।  
 'अथ भयचलनयोः (भू० आ०)' । 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४,  
 ११४)'—इतीन्प्रत्ययः, नभ्रससासः । न व्यधन्त्यभिसङ्ग्रामेषु  
 अव्ययः दृष्टे भयेऽप्यव्ययः स्यादिति भावः । यद्वा, व्यधि-  
 रिति क्रोधनाम ( निघ० २, १३ ), आरोहणताडनबन्धनादिभिर्न  
 कुध्यन्तीत्यर्थः । "पतत्रिभिरथमैरव्यधिभिः (ऋ० सं० ५, ५,  
 १६, ७)"—इति निगमः ॥

(२०) श्येनासः । 'श्येनः शंसनीयं गच्छति ( निरु० ४,  
 २४)'—इति भाष्ये । जसि 'आज्जसेरसुक् (७, १, ५०)' ।  
 "श्येनासो न दुषसनासो अर्थम् (ऋ० सं० ३, ५, ५, ५)"—  
 इति निगमः ॥

(२१) सुपर्णाः । 'पृ पालनपूरणयोः ( जु० ५० )' । 'घाप्-  
 वस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः । सुपाल्यन्ते

सादिप्रदानेन, पूर्यन्ति या नमः हेपारखादिना सङ्ग्रा-  
भाधनत्वात् । पततेर्वा बाहुलकान् नप्रत्ययस्तकारस्य रेफः,  
भनगमना इत्यर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२२) पतङ्गाः । 'पतङ्ग गती ( भू० प० )' । 'पतेङ्ङच्  
३० १, ११७)' । यद्वा, खच्प्रकरणे 'गमेन्तु खच्युपसंख्यतम्  
, २, ६८ घा० )'—इति खच्, खघ डिद्वा चकल्प्यः ( ३, २,  
: घा० ), 'खित्यनञ्यस्य ( ६, ३, ६६ )'—इति मुप् पतङ्गा  
ते । 'अश्याः पूर्वं पक्षिणोऽभूवन्—इति भ्रूयते । "रथे युक्तास  
शयः पतङ्गाः ( ऋ० सं० १, ८, १८, ४ )"—इति निगमः ।  
शुशब्दो विशेषणम् ॥

(२३) नरः । 'नीम् प्रापणे ( भू० उ० )' । 'नयतेर्ङिच  
उ० ३, ६३)'—इति ऋनप्रत्ययः । जसि नरः । नयन्ति  
तरोद्दिणम्, कर्मणा नेतारो या नरः । "त्वं सूर्यो हृषितो  
मयोर्नृन् ( ऋ० सं० १, ८, २६, ३ )"—इति निगमः । 'नृन्  
श्यान्—इति माधयः ॥

(२४) हाप्याणाम् । 'हू कौटिल्ये ( भू० प० )' । 'ऋहलो-  
र्णन् ( ३, १, १२४ )' । खलीनाद्याकरणे मुष्वादिष्वङ्गेषु  
वृटिनीकियन्ते टाश्याः । यद्वा, हरतिरत्तिकर्मा ( निघ० २,  
८ ), 'हृत्स्यल्युटो षडुल्म् ( ३, ३, ११३ )'—इति ष्यन् । हरत्यर्थम्  
मश्याः हाप्याः । 'हरि गती'—इति माधयः । "हाप्याणाम्"  
—इति यथादृष्टपाठः । "पुत्रो न हाप्याणाम् ( ऋ० सं० ४, १,  
१, ४ )"—इति निगमः ॥

(२५) हंसासः । 'हन हिंसागत्योः (अदा० १०) ।  
'घृतृचदिह्निकमिकदि (युध्यचि) भ्यः सः (उ० ३, ५६) —'ति  
सप्रत्ययः । प्रन्ति गच्छन्त्यध्यानं, गच्छन्तः पद्विरध्वानं हिंसनि  
षा ( रे० प्रा० ५, १, १ ) । "हंसासो ये षां मधुमज्जो अश्विक्  
( ऋ० सं० ३, ७, २१, ४ )"—इति निगमः ॥

(२६) अश्वाः । 'अशू ध्यातो ( स्वा० आ० ) । 'अशुप्रति-  
दिकसिद्धदिविशिभ्यः कुन् ( उ० १, १४६ )"—इति कुन्प्रत्ययः ।  
अध्नातेर्वा बाहुलकान् । अशुचतेऽध्यानं महाशना भवन्तीति  
च । "यदाक्षिपुर्दिव्यमज्जमश्याः ( ऋ० सं० २, ३, १२, ५ )"  
—इति निगमः ॥

इति पद्विंशतिस्थनामानि ॥ १४ ॥

'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्शचक्षने साहचर्यंज्ञानार  
( निरु० २, २८ )"—इतिहासपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षावहो-  
रात्रे वा ॥

हरी इन्द्रस्य (१) । रोहितोऽग्नेः (२) ।  
हरित आदित्यस्य (३) । रासभावश्विनोः (४) ।  
अजाः पूष्णः (५) । पृपरयो मरुताम् (६) ।  
अरुणयो गात्र उपसः (७) । श्यावाः सवितुः (८) ।  
विश्वरूपा बृहस्पतेः (९) । नियुतो वायोः (१०) ।  
इति दशाऽऽदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

“(१) हरी इन्द्रस्य । सोमपानादिक्रियाया साधनत्वात् ॥

(२) रोहितोऽग्नेः । नित्यपक्षे उच्यते अग्नेः व्याप्तिमत्यः ॥

(३) हरिति भादित्यस्य । हरितवर्णा रश्मयः प्रातरादित्यस्य ॥

(४) रासभाषदिवनोः । अश्विभोगकाले रासमवर्णा, तत्-

कालोचिनेन श्यामलेन वर्णैतार्यं व्यपदेशः ॥

(५) भजाः पूष्णः । भजा भजनात् । पूष्णः काले रश्मयो

गच्छन्ति ॥

(६) पृवत्यो मस्ताम् । प्रावृषि सर्वतः पृवत्यो विचित्रा

मेघमाला मस्ताम् ॥

(७) अरुण्यो गाव उपसः । उपसः काले तमोऽभिभवे

अरुणिमायामागन्त्र्यः ॥

(८) श्यायाः सवितुः । सवितुः काले श्यामवर्णा भवन्ति ॥

(९) विश्वरूपा बृहस्पतेः । ‘उन्दांसि वै विश्वरूपाणि

(शत० ब्रा० ८, ४)’—इति श्रुतेः ॥

(१०) निपुतो वायोः । “अप्प्रवृत्ती तुणवर्जानामवादेः

सञ्चरणान्मिधनाभियुतः ॥”—इति स्कन्दस्वामिश्रुत्याः ॥

शब्दव्युत्पत्तिस्तावत् प्रदर्शयते—

(१) हरी । ‘हृञ् हरणे (भू० उ०)’ । ‘हृपिविद्विहृति-

विदिच्छिदिकीर्त्तिभ्यश्च (उ० ४, ११५)’—इतीनप्रत्ययः । हरतो

रश्मि । अत्र साण्ड्यकम्—‘पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी,

साम्यां हीदं सर्वं हरति (६, १, १)—इति, अस्मिन् पक्षे करणे

इत् । ‘ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी’—इत्यैतरेयब्राह्मणम् (२, ३,



६)। 'ब्रह्मामे वै हरी'—इति यजुर्ब्राह्मणम् (५, ४, ३१)।  
 "इन्द्रो हरी गुयमे अक्षिणा रणम् ( ऋ० सं० २, ३, ५, १ )"—  
 इति निगमः ॥

(२) रोदितः। 'हृद्युहियुविभ्य इतिः ( उ० १, १४ )'—इति  
 इतिप्रत्ययः। रोदन्ति आरोदन्ति रथं घटन्त्यादिवमिति रोदितः।  
 "रोदिदश्व शुचिमत ( ऋ० सं० ६, ३, ३२, १ )"—इति निगमः ॥

(३) हरितः। 'पूर्वचन् इतिः ( उ० १, १४ )। हरन्ति रथं  
 तमो वा स्वभासा। यदुवा, हरिच्छब्दः पातवर्णवचनो हरिदुवर्णो  
 वा। "यदेतदयुक्ताहरितः सधस्थान् ( ऋ० सं० १, ८, ७, ४ )"  
 —इति निगमः ॥

(४) रासभौ। 'रासु शब्दे ( भू० आ० )'। रासिवह्निभ्याञ्च  
 ( उ० ३, १२१ )—इत्यभच्प्रत्ययः। रासते शब्दं करोतीति  
 रासभः, तौ रासभौ। 'गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम्'—इति  
 ब्राह्मणम् ( ऐ० ब्रा० ४, २, ३ )। "युजाथां रासभं रथे ( ऋ० सं०  
 ६, ६, ८, २ )"—"तद्रासभो नासत्या सहस्रभाजा ( ऋ० सं० १,  
 ८, ८, २ )"—इति च निगमौ ॥

(५) अजाः। 'अज गतिक्षेपणयोः ( भू० प० )'। पचायच्  
 ( ३, १, १३४ )। वीमावाभावो व्यत्ययेन। अजन्ति गच्छन्ति  
 सर्वतः क्षिपन्ति वा तमः। "अहेलमानो ररिवाँ अजाश्च  
 श्वस्यतामजाश्च ( ऋ० सं० २, २, २, ४ )"—इति निगमः ॥

(६) पृपत्यः। 'पृपु पृपु सैचने ( भू० प० )'। 'चर्त्तमाने  
 पृपन्महत् ( ६, ४, ३० षा० )'—इत्यादिना सिद्धम्। 'पृपत्यः सह

सङ्गताः—इति माधवः । तदा 'धुंयोगादाख्यायाम् (४, १, ४८)'—इति ङीप् । “उपो रथेषु पृथ्नीर्युग्ध्यम् (ऋ० सं० १, ३, १६, १)”—इति निगमः ॥

(७) गावः । व्याख्याता रश्मिनामसु ( १, ५, ३ ) । गन्त्र्यः । “मुङ्क्ते गवा मरुणानामनीकम् (ऋ० सं० २, १, ६, १)”—इति निगमः ॥

(८) श्यायाः । 'श्यैङ् गती ( भू० आ० )' । कृगशदभ्यो घः  
 (उ० १, १५३)—इति षाड्गुल्फाद् घप्रत्ययः । श्यायो घूसराहणो  
 घर्णः, तदुपन्तोऽपि श्यायाः, 'शुणयननेभ्यो मनुषो लुग्वक्तव्यः  
 ( १, ४, १६ पा० )' । “धि जनाञ्छ्यायाः शितिपाशो अन्वयन्  
 (ऋ० सं० १, ३, ६, ५)”—इति निगमः ।

(९) विश्वरूपाः । नानावर्णाश्याः । “वृहस्पतिश्च सविता च  
 विश्वरूपैरिहागतम्”—“वृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत (ऋ० सं० २,  
 ३, ५, १)”—इति च निगमौ ॥

(१०) नियुतः । निपूर्वात् 'यु मिधत्ते ( अदा० प० )'—  
 इत्यस्यात् किन् । नियुयन्ति मिधयन्ति कृण्वन्तीदानी, आत्मानं  
 रथेन वा । यडा, निपूर्वात् 'यमु उपत्ये ( भू० प० )'—  
 इत्यस्यात् 'भृगो रतिः ( उ० १, ११ )'—इति षाड्गुल्फात्  
 उतिप्रत्ययगण्टिलोपश्च । नियम्यन्ते सारथिता नियुतः ।  
 “नियुद्धिषां यविष्टये दुरोषे ( ऋ० सं० ५, ६, १४, ३ )”—इति  
 निगमः ॥

इति दशादिशेषयोजनानि ॥ १५ ॥

भ्राजते (१) । भ्राशते (२) । भ्राश्यति (३) ।  
 दीदयति (४) । शोचति (५) । मन्दते (६) ।  
 भन्दते (७) । रोचते (८) । द्योतते (९) ।  
 ज्योतते (१०) । द्युमत् (११) । इत्येकादशज्वल-  
 तिकर्माणः ॥१६॥

(१) भ्राजते । 'डु भ्राज् दीर्घा' भूवादिरात्मनेपदी । "भ्राजते  
 धेणिद् ( ऋ० सं० ७, ७, २, ३ )" —इति निगमः ॥

(२), (३) भ्राशते । भ्राश्यति । 'डु भ्राश्र् भ्लाश्र् दीर्घा'  
 भूवादी आत्मनेपदीनी । 'चा भ्राश्र्भ्लाश्र्भ्रमुक्कमुपल्लमुत्रसिषुविल्ल' ( ३, १, ७० ) —इति पक्षे श्यन्, परस्मैपदित्वं छान्दसम् ।  
 "नि तिग्मानि भ्राशयन् भ्राश्यानि ( ऋ० सं० ८, ६,  
 २०, ५ )" —इति निगमः । 'भ्राश्यति शिलाजितादीनि'  
 —इति माधवः । भ्लाश्यतीति पाठान्तरम् । भ्राश्यतीतिष्व्  
 प्रक्रिया ॥

(४) दीदयति । नैरुको धातुः ( निरु० १०, १६ ) । यडा,  
 'दीर्घोद् दीतिदेवनयोः ( अदा० आ० )' —इत्यस्य घकारस्य  
 दकारो व्यत्ययेन, 'यदुलं छन्दसि ( २, ४, ७३ )' —  
 इति शपो लुगभाषः, परस्मैपदित्वं छान्दसम् । 'यो  
 अनिन्मो दीदयद्व् स्वन्त १ : ( ऋ० सं० ७, ७, २४, ४ )' —  
 इति निगमः ॥

(५) शोचति । 'शुच शोके' भूवादिः परस्मैपदी, दीप्थ्यर्थत्वं  
त्वनेकार्थत्वाद्वातूनाम् । "अञ्जस्त्रेण शोचिष्य शोशु चानः ( ऋ०  
सं० ५, २, ७, ४ )" —इति निगमः ॥

(६) मन्दते । 'मदि स्तुतिमोदमदस्त्रकान्तिगतिषु' अत्र  
दीप्थ्यर्थः । भूवादिरात्मनेपदी । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) मन्दते । 'मदि कल्याणे सुखे च' भूवादिरात्मनेपदी  
दीप्थ्यर्थत्वं पूर्ववत् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) रोचते । 'रुच दीप्ती' चुरादिरात्मनेपदी । कथादिश्च  
"वि यत् सूर्या न रोचते बृहद्भ्यः ( ऋ० सं० ५, २, ११,  
४ )" —इति निगमः ॥

(९) द्योतने । 'द्युत दीप्ती' भूवादिरात्मनेपदी । "अदि-  
द्युत् ( ऋ० सं० ४, ५, १३, ४ )" —इति निगमः ॥

(१०) ज्योतते । 'युतृजुत् दीप्ती' भूवादिरात्मनेपदी ।  
यकारश्छान्दसः । यद्वा, द्युतेर्धिगृहीतः । 'द्युतेरिसिष्ठादेश्च  
जः ( उ० २, १०३ )" —इति इतिनप्रत्यये विहितो जो याहुल-  
कादत्रापि भवति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

केचिदस्य स्थाने "छन्दते" —इति पठन्ति । 'छदि संवरणे'  
—इति चुरादिः परस्मैपदी, ध्यत्ययेनात्मनेपदं शिलोपः, 'छन्द-  
स्युभयथा ( ३, ४, ११७ )" —इत्यार्द्धधातुकत्वाद्वा शिलोपः ।  
निगमदर्शान्निर्णयः ॥

(११) द्युमन् । द्योतने द्यत्, सम्पदादित्यात् ( ३, ३, १४  
धा० ) क्विप् । द्युस्तीति मनुष्, पृषोदरादित्यात् ( ६, ३, १०६ )

सकारलोपः । यद्वा, 'दिवु क्रीडापिजिगीषाव्यवहारदुनि-  
स्तुतिकान्तिगतियु ( दि० प० )'—इत्यस्मात् दीप्थ्यर्थात् दिवे-  
र्दीव्यतीति विचि प्रत्यये द्योतनं दिव्, ततो मनुषि 'दिव अ  
(६, १, १३१)'—इत्युत्वं दीप्तिमदित्यर्थः । समाग्राये यस्य  
पदार्थस्य यद्वा घाञ्चकमाख्यातं नाम च तत्सहैवान्यत्रापि पठते ।  
तथाहि—कान्तिकर्मसु ( निघ० २, ६ ) उशिगादि, व्याप्तिकर्मसु  
(निघ० २, १८) आप्नुवान इत्यादि, महशामसु ( निघ० ३, १ )  
घवक्षिथ विवक्षसे, पश्यतिकर्मसु ( निघ० ३, ११ ) विचर्यणि-  
स्त्यादि, एवमिहापि द्युमदिति नामपदस्य धातुमध्ये पाठः  
किञ्चिन् द्योततेर्विकृतत्यादिवेश्वानेकार्थत्वात् उच्यते नार्थत्वात्  
नार्थम् । "द्युमदमीधचातनं रक्षोहा ( ऋ० सं० ५, २, १२, ६ )"  
—इति निगमः ॥

इत्येकादश उच्यते कर्माणो धातवः ॥ १६ ॥

जमत् (१) । कल्मलीकिनम् (२) ।

जञ्जणाभवन् (३) । मल्मलाभवन् (४) ।

अर्चिः (५) । शोचिः (६) । तपः (७) ।

तेजः (८) । हरः (९) । घृणिः (१०) ।

शृङ्गाणिः (११) । शृङ्गाणि (१२) । इत्येकादश

ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥१७॥

गौर्हेमाऽम्बरं स्वा १ः खेदय आता श्यावी  
विभावरी वस्तो रद्रिः श्लोकोऽर्णोऽवनयोऽत्यो  
हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥१॥

(१) जमत् । अत्र स्कन्दस्वामी—‘तावन्त्येवोत्तराणि जम-  
दित्यादीनि ज्वलतो दीप्तिभूतः सत्यस्य नामधेयानि’—इति ।  
‘जसु अदने (भू० प०)’ । “शृणाना जमदग्निना (३, ४, ११, १८)”  
—इत्यादिषु जमच्छब्द उदाहरणम् ॥

(२) कल्मलीकिनम् । ‘कल्मलीकं भवेत्’—इति माधवः ।  
पृषोदरादिः, उत्तरे च । “नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिः  
(ऋ० सं० २, ७, १७, ३)”—इति निगमः ॥

(३) जज्ञणामवन् । “अर्चिषा जज्ञणामवन् (ऋ० सं० २,  
३, ३०, ४)”—इति निगमः ॥

(४) मल्ललामवन् । “मल्ललामवन्तीत्यासादयामि”—इति  
निगमः ॥

(५) अर्चिः । ‘अर्चं पूजायाम् (भू० प०)’ । ‘अर्चिशुचिद्दु-  
सृपिच्छदिच्छर्दिभ्य इतिः (उ० २, १०१)’—इतीतिप्रत्ययः । अर्च्यन्ते  
देवताद्यर्चनसाधनत्याह्वा अर्चिरग्न्यादिज्वाल्लादिः । “अथो दंष्ट्रो  
अर्चिषा यानुधानान् (ऋ० सं ८, ४, ५, २)”—इति निगमः ॥

(६) शोचिः । शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ( निघ० २, १६ )  
पूर्वसूत्रेण इतिः ( उ० २, १०१ ) । शोचति शोचिः । “यदस्य

पातो अनुपाति शोभिः (प्र० सं० ३, ५, ७, ५) —  
इति निगमः ॥

(७) तपः । 'तप सन्नापे (भू० प०)' । 'तप दाद्वे (भू० प०)'  
पा । असुन् (उ० ४, १८५) । तपनीनि शरीरादि । 'पा  
शृणीदि तपसा यागुधानान् (प्र० सं० ८, ४, ७, ४)' — 'अग्ने  
यत्ते तपन्नेन तं प्रति तपा (अथ० सं० २, १६, १)' — इति च  
निगमौ ॥

(८) तेजः । 'तिज निशाने (भू० आ०)' । असुन् (उ० ४,  
१८५) । निश्यति तनूकरोति तमः पापं वा । यद्वा, 'तेज  
पालने (भू० प०)' । असुन् । तेजति पालयति गान्धिना  
प्रकाशदानेन । 'अग्ने यत्ते तेजस्तेन (अथ० सं० २, १६, ५)'  
— इति निगमः ॥

(९) हरः । 'हर् हरणे (भू० उ०)' । असुन् । हरति तमः ।  
'अग्ने यत्ते हरस्तेन (अथ० सं० २, १६, २)' — 'रक्षो हरसा  
शृणीदि (प्र० सं० ८, ४, ७, ४)' — इति च निगमौ ॥

(१०) घृणिः । 'घृणिपृथ्विपार्थिचूर्णिभूर्णि' — इति । 'घृ  
क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)' — इत्यस्माभिप्रत्यये गुणाभावो निपा-  
त्यते । जिघर्त्ति दीप्यते । यद्वा, 'घृणु दीप्ती (तना० उ०)' ।  
'इगुपधात् किन् (उ० ४, ११६)' — इति इप्रत्ययः । दीप्यते  
घृणिः । 'उप छायामिव घृणेः (प्र० सं० ४, ५, २८, ३)' —  
इति निगमः । आ घृणे सं सचावहे (प्र० सं० ४, ८, २१, १)'  
— इति च ॥

“हृणिः”—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते, तदयुक्तम्, नैगम  
काण्डे “आ हृणिः ( निह० ५, ६ )”—इत्यत्र, ‘ज्वलन्नामसुं  
कोधनामसु ( निघ० २, १३ ) च पाठादनेकार्थत्वम्’—इति  
स्कन्दस्वामिचरणात् ॥

(११) शृङ्गाणि । ‘शृङ्गि शब्दे’ । अत्र शृङ्गस्थानीयत्वाद्  
दीप्तय उच्यन्ते । ‘श्रिम् सेवायां ( भू० उ० )’—शृ हिंसायाम्  
( क्या० प० ) । शृणातेर्ह्रस्वश्च ( उ० १, १२५ ), गन् ( १२१ ),  
कित् ( १२२ ), नुद् ( १२७ ) च इति अधिक्रियते, श्रियतेर्षादुलकात्  
सम्प्रसारणादि च भवति । श्रितं हि तदाश्रितं मण्डले दिनस्ति  
तन् श्रीप्सेण प्राणितः । ‘शृङ्ग’ ध्रयतेः ( निह० २, ७ )—इत्यत्र  
‘धातेर्षा’—इति निर्वचनस्य पाठः धीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः ।  
‘शमु हिंसायाम्’ क्यादिः । अस्मात् गः, अकारस्य शृकाः ।  
पूर्ववदर्थः । यद्वा, द्विधातुजं, शरणाय हिंसायै गतं मस्तकादे-  
रुद्गतम् ऊर्ध्वगतमित्यर्थः । ‘शृणातेर्ह्रस्वश्च ( उ० १, १२५ )’—इति  
गन्प्रत्यये नुमि च रूपम् । अथवा शरणं रक्षणं तदर्थमुद्गतं  
रक्षति तन्, प्राणितस्तस्य निष्पत्यादिना शिरसो निर्गतमिति वा  
शिरःशब्दाश्रिगमेश्च शृङ्गं, शिरस आदित्याश्रिगंतमित्यर्थः,  
‘असाचादित्यः शिरः प्रजानाम्’—इति ध्रयणात् ( शत० घ्रा०  
७, ४, १, २० ) शिर उपपदे गमेर्द्धे शिरसः शृभावे  
मकारे चोपजने रूपम् । पूगेदरादित्यात् ( ६, ३, १०६ )  
सर्वत्र रूपसिद्धिः, शृङ्गम् । तेजांसि शृङ्गाणि । “यत्र  
गावो भृशिशृङ्गा अयासः ( ऋ० सं० २, २, २४, ६ )”—



“पि शृङ्गिणामभिनञ्जुष्णमिन्द्रः (ब्र० नं० १, ३, ३, ३)”—  
इति च निगमौ ॥

‘अध्यायपरिसमाप्तिगूढं द्विर्यचनं, धृती तथा दर्शनं’  
—इति भद्र स्कन्द्यामी । अन्यत्रापि स एव सर्वत्र । यदुक्तं  
त्रिपुस्तकपदस्य शब्दशास्त्रे ‘तस्य परमाधेदितम् (८, १, ३)”—  
इति महासम्भाकरणस्य प्रयोजनं वर्णितम् ‘अन्यर्षसङ्घान्,  
आधेद्व्यते अधिकमुच्यते (८, १, २ भा०)’—इति, तेनैववर्तते  
फद्विर्यचना जायन्ते इति शब्दविदो विशदकः । यथा—  
‘आहोदर्शनीयाहोदर्शनीय (महा० भा०)’—इति ॥

इति अत्रिगोत्रस्य देवराजयज्यनः एते नैघण्टुककाण्ड-  
निर्यचने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

## अथ द्वितीयाऽध्यायः ।



“कर्मनामान्युत्तराणि (निद० ३, १)”—इति भाष्ये स्वन्द-  
स्वामी ‘ञ्चलनकर्मसम्यग्भादाद् कर्मनामान्युत्तराण्येष षड्-  
विंशतिः थपः अन्नः’ इत्यादीनि । क्रियते इति कर्म ।  
अनाश्रितविशेषाणां कर्मणां नामधेयानि, सति साधारण्येऽसाधा-  
रणानि च निर्णेतव्यानि, धाक्कार्यवशात्—इति ॥

अपः (१) । अन्नः (२) । दंसः (३) ।

वेपः (४) । वेपः (५) । विष्ट्वी (६) ।

व्रतम् (७) । कर्बरम् (८) । शक्म (९) ।

क्रतुः (१०) कर्णम् (११) । करणानि (१२) ।

करांसि (१३) । करन्तो (१४) । करिक्त् (१५) ।

चक्रत् (१६) । कर्त्वम् (१७) । कर्त्तोः (१८) ।

कर्त्तवै (१९) । कृत्वी (२०) । धीः (२१) ।

शची (२२) । शमो (२३) । शिमी (२४) ।

शक्तिः (२५) । शिल्पम् । (२६) इति पङ्क्ति-  
शक्तिः कर्मनामानि ॥१॥

(१) अपः । (२) अमः । 'आप्ल् व्याप्तौ (सा० प०) ।  
'आपः फर्माण्यायां हृष्यो नुद् च वा (उ० ४, २०२) — एषु  
धिकल्पेन नुद्वागमध । आप्नुयन्ति हि तन्फक्तांश्च आप्नोति वा  
सान् फलरूपेण । "इद्दं सोमेभिस्तदपो षो अम्नु (ऋ० सं० २  
६, १४, ५)" — "ते सोमं घोरपद्गोमदप्रः (ऋ० सं० ३, ५  
११, ३)" — इति च निगमो ॥

(३) दंसः । 'दसि दंसनदर्शनयोः' चुरादिरात्मनेपदी, असुव  
(उ० ४, १८४) । दर्शयति हि तत्तत्कारणेन, दृश्यते इष्टि-  
रिति वा । अथवा, 'दसि मोक्षणे' चुरादिः परस्मैपदी, असुव  
(उ० ४, १८४) । दंसयति मोक्षयति पाप्मनः पुरुषं संसारश-  
पदो वा । यद्वा, 'तसु उपक्षये दसु च (दि० प०)' अत्रान्तर्णी  
तण्यर्थः । 'कर्मण्यसुनि बाहुलकान्तुम्' उपक्षिपयित्वा हि  
तदन्तर्गतव्यमित्यर्थः । "दसस्य चारुतममस्ति-दंसः (ऋ० सं०  
१, ५, २, २)" — इति निगमः ॥

(४) वेपः । 'विप्ल् व्याप्तौ (ऋ० उ०)' (पचायच्' (३, १  
१३४) । वेवेष्टि व्याप्नोति कर्त्तृन्, व्याप्तं विस्तृते वा । 'यद्वा  
'वेवेष्टि'—इत्यत्तिकर्मसु (निघ० २, ५) पठ्यते । परिवेष्टि  
भोजयति स्वफलं कर्त्तृन् । "कर्मणे षां वेपाय (य० षा० सं०  
१, ६)" — इति निगमः ॥ (३९) निगमः । (३९) ॥

(५) वेपः । 'चिपि प्रेरणार्थः'—इति भाष्यः । अंसुन् ( उ० ४, १८४ ) । 'प्रेर्यन्तेऽस्मिन् कर्मकराः । यद्वा, 'चिपु कम्पने ( भू० आ० )' अंसुन् ( उ० ४, १८४ ), वेपः । "स्व' वेपसा तुविजातस्तवानः ( ऋ० सं० ३, ५, ११, २ )"—इति निगमः ॥

(६) चिष्ठी । 'चिष्ठी व्याप्ति ( जु० उ० )' । 'जृगृस्तृजागृभ्यः क्विन् ( उ० ४, ५४ )'—इति बाहुल्यकान् क्विन् तुडागमश्च । वेप-समानार्थम् । यथादृष्टं पाठः । "चिष्ठी शमीभिः सुवृतः सुवृत्यया ( ऋ० सं० ३, ४, ७, ३ )"—"चिष्ठी शमी तरणित्वेन पाद्यतः ( ऋ० सं० १, ७, २०, ४ )"—इति च निगमौ । उभयत्रापि शमीति विशेषणम् ॥

(७) प्रतम् । अत्र भाष्यम् ( निद० २, १३ )—'प्रतमिति कर्मनाम—कृणोतीति सतः'—इत्यादि । अत्र स्कन्दस्वामी—'प्रतमिति' कर्मनामेति । कर्त्तरि सत इति वृत्तव्याख्यानम् । तद् द्विविधम् । शुभमशुभं वा कृणोति निवृञ्जाति कर्त्ताम् । तथा च धृतिः—'ते पित्राकर्मणी सत त्वारभते पूर्यप्रजा च'—इति । 'इदमपीतरद् प्रतम्' शुद्धलयणस्यादिविषयनिवृत्तरूपं कर्म । 'प्लसादिषु' रूपसामान्यान् प्रसक्तं प्रतं निरुच्यते 'वारयतीति सतः' । 'निवृत्तिरूपो हि सद्रूपः, तदतिक्रम्य प्रमादान् प्रयत्नं मानं पुरुषं वारयति'—इति । पाठोऽर्थश्च—'प्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः ( निद० २, १३ )'—इति । पुन कर्मोच्यते । कस्मान् ? वारयते तद्धि सद्रूपपूर्वकं प्रवृत्तिरूप-मग्निहोत्रादिकर्मप्रवचार्थं वारयतीति पुरुषः प्रयत्नमानो निवृत्तमा-

नश्च व्रतेनामित्यन्धस्तेनायतेन, निवार्यते इति व्रतस्य  
 प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्ष्यते । भोजनमपि व्रतं क्षुधार्थं  
 नियारणात् । वृणोतेर्धातोः ( स्वा० उ० ) 'पृथिरञ्चिभ्यां क्वि  
 ( उ० ३, १०८ )'—इति विधीयमानोऽतच्छ्रुत्ययो बाहुलकात्  
 भवति कित्वाद् गुणाभावः, यणादेशः । 'वार्यतेर्वा क्व'—  
 इत्यत्र लुगिति लुगपि बाहुलकात् । 'व्रते'—इति धीभोजदेवः—  
 इति क्षीरस्वामी । व्रत्यते वर्ज्यते सर्वभोगोऽत्रेति सुबोधिकात् ।  
 व्रतेर्धातोः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )'—इति  
 घप्रत्ययः । व्रतिश्च वर्जनार्थः । "अथा घयमादित्यव्रते तव  
 ( ऋ० सं० १, २, १५, ५ )"—"ब्राह्मणा व्रतचारिणः ( ऋ०  
 सं० ५, ७, ३, १ )"—इति च निगमौ । "अग्ने व्रतार्थे  
 व्रतं चरिष्यामि ( य० घा० सं० १, ५ )"—इत्यादौ व्रतार्थे  
 निवृत्तिकर्मता ॥

(८) कर्ष्यम् । कर्ष्यतेर्धातोः ( भू० प० ) 'पुंसि सञ्ज्ञायां  
 घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )'—इति घप्रत्ययः, कर्ष्यम् । 'च  
 विशेपे ( तुदा० प० )' 'वृञ् हिसायां ( स्वा० उ० )' । 'कृञ्  
 श्रुधातिभ्यः घ्याच् ( उ० २, ११४ )' । किरति फलं, कर्ष्यतेऽस्ति  
 पात्रादीति घा, हिनलि तन् शुभं पुरुषभावमशुभं पुण्यम् । "अ  
 ह्नोदि कर्ष्यरा पुरुषि ( ऋ० सं० ८, ७, २, २ )"—इति निगमः ॥

(९) शक्यम् । 'शक्यत् शक्तौ ( दि० उ० )' । 'भशिशक्तिभ्यां  
 क्त्वि ( उ० ४, १४२ )'—इति मत्तिप्रत्ययः । शक्यते शक्येता-  
 मित्यर्थं शक्तौ, शक्तौर्वात् शक्ययितुं वा, शक्यते कर्तुमिति वा ।

“मध्याकर्त्तोर्यथाच्छ्रवम धीरः ( ऋ० सं० २, ८, २, ४ )”—इति निगमः ॥

(१०) क्तुः । करोतेः ( भू० उ० ) ‘कृञ् क्तुः ( उ० १, ७४ )—इति क्तुप्रत्ययः । क्रियते द्विजातिभिः । “क्तुं इधिका भनु सन्तवीत्यस् ( ऋ० सं० ३, ७, १४, ४ )”—“शतवतो मादयस्वा सुतेषु ( ऋ० सं० ४, ७, १३, ५ )”—इति च निगमौ ॥

(११) करणम् । ‘कृ विश्लेषे (तुदा० प०)’ ‘कृञ् हिंसायाम् ( स्वा० उ० )’ । ‘कृवृदारिभ्य उनन् ( उ० ३, ५० )’ । कर्त्तरेण समानार्थम् । “स विश्लेष करणस्येश एकः ( ऋ० सं० १, ७, ६, २ )”—इति निगमः ॥

(१२) करणानि । करोतेः ‘युच् ष्टुलम् ( उ० २, ७४ )’—इति युच् क्रियते स्युद् वा । करणं साधनमिति प्राप्ते जसि पाठो यथादृष्टम् । ‘कर्मवाचि करणमायुदात्तम्’—इति माधयः । “प्र ते पूर्वाणि करणानि षोचम् ( ऋ० सं० ४, १, ३०, १ )”—“प्र ते पूर्वाणि करणानि पित्र ( ऋ० सं० ३, ६, २, ५ )”—इति च निगमौ ॥

(१३) कर्त्तति । करोतेरमुन् ( उ० ४, १८४ ) । ‘भूनेऽपि दृश्यन्ते ( ३, ३, २ )’—इति भूने वा भविष्यति वा । अर्थः पूर्वेषु । ‘कर्त्ततीति इतानि स्युः क्रियमाणानि केचन’—इति माधयः । “भाषिर्द्वाभाट विदुषे कर्त्तति ( ऋ० सं० ३, ६, २, ५ )”—इति निगमः ॥

(१४) कर्त्तती । ‘कृञ् कर्त्ते’ भूयादिः ( उ० ) । शतरि हन् । करणमभिगमं कर्तुः । यथादृष्टं पाठः । निगमोऽन्यैरुक्ताः ॥

(१५) करिकत् । 'दावर्ति दधर्ति दद्वर्ति (७, ४, ६५)-  
इत्यादि सूत्रेण छन्दोविषयेण करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि मुम्भ-  
भावोऽभ्यासस्य रिगागमोऽपि निपात्यते । अत्र न्यासः—यन्-  
देशे हृते अनृकारान्तत्वाद्ङ्गस्याभ्यासस्य रिगागमो न प्राप्नोतीति  
सोऽपि निपात्यत इति । पुनः पुनः करोतीष्ट्यासिमनिवाञ्छ ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) चकत् । 'कृञ् करणे' भूवादिः (३०) । शतृ । 'ब्रुहोत्या-  
दिभ्यः श्लुः (२, ४, ७५)'—बहुलञ्छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति श्लु-  
श्लुर्द्विर्वचनादिः यणादेशः । करोत्यमीष्टम् । निगमोऽन्वेषणीः ।  
केपुचित् कोशेषु चकतुरिति द्वष्टम्, निगमदर्शनाभिर्णयः । अस-  
स्थाने चर्हृत्यमिति माधवीये द्वष्टम् । "चर्हृत्यानि कृष्यतः (शृ०  
सं० ३, ६, ७, १३)"—इत्यत्र 'कर्माणि चर्हृत्यानि'—इति  
भाष्यञ्च ॥

(१७) कर्त्तव्यम् । करोतेः 'अन्येभ्योऽपि हृश्यन्ते (३, २, ७५)'  
—इति यन्प्रत्ययः क्रियते । यद्वा, 'हृत्यार्थे तवैकेकेन्ययन-  
(३, ४, १४)'—इति त्यन्प्रत्ययः, हृत्यार्थत्वं भावकर्म ।  
"तद्देवानां देवतमाय कर्त्तव्यम् (शृ० सं० २, ७, १, ३)"—  
इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कर्त्तव्यमिति कर्मनाम'  
—इति ॥

(१८) कर्त्तव्यः । करोतेः 'सितनिगमिसिसदयविषाञ्चक्रुशि-  
भ्यस्तुत् (८० १, १७)'—इति यादुत्यक्तान् मुग्धावयः । कर्त्त-  
व्यम् । कर्त्तव्येवकयचतस्य पाठो यथाद्वष्टम् । "मध्याकर्त्तव्यिर्णय

सङ्गमारः ( ऋ० सं० १, ८, ७, ४ )—“मध्याकंत्तोर्न्यघाच्छेयम  
धीः ( ऋ० सं० २, ८, २, ४ )”—इति च निगमौ ॥

(१६) कत्तये । करोते: 'कृत्यार्थे तथैकेकेन्यत्वनः (३, ४, १४)'  
—इति तत्रैप्रत्ययः । 'रुग्नेजन्तः (१, १, ३६)'—इत्यव्ययत्वम् ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) कृत्वी । करोते: 'पः किञ्च ( उ० १, ६८ )'—इति  
विधीयमानस्तुप्रत्ययो यादुलकाद् भवति । क्रियते कृत् ।  
'शिल्पाद्यन्वे कृत्तुर्यकम्'—इत्यत्र माघवेनापि कर्मनामसु  
पठितः । 'सुपां सुलुक् ( ७, १, ३६ )'—इत्यत्र 'इयाडियाजी-  
कारणामुपसङ्ख्यानम् ( ७, १, ३६ घा० )'—इति विमकेरीका-  
रादेशः । “त्वं रथ मेतशं कृत्ध्ये धने ( ऋ० सं० १, ४, १८, १ )”  
—इति निगमः । अत्र स्कन्दखामिभाष्यम्—‘कृत्वीति कर्मनाम,  
कर्मणि धने निमित्ते धनार्थं यन् कर्मत्यर्थः । कर्मात्रं संध्रीमः  
संग्रामार्थमाजिः स्यात्’—इति । “कृत्वी सवर्णामददर्विवस्वते  
( ऋ० सं० ७, ६, २३, २ )”—इत्यत्र तु त्यान्तं तथा स्कन्दखामिना  
व्याख्यातत्वात् ॥

(२१) धीः । 'धृञ् आधारे' दिवादिः ( उ० ) । धारयति  
कर्त्तारं फलप्रदानेन । यदुवा, दधाते: किपि 'धुमास्थागापाज-  
हातिसां हलि ( ६, ४, ६६ )'—इतीत्ये रूपम् । इत्यञ्च किप्लो-  
पेऽपि । धारयति कर्त्तारमिति पूर्वयद् ददाति या फलं धीः  
कर्म । 'दधातेर्निहितं इध्येषु सन्'—इति माघवः । यदुवा,  
ध्यायते: सम्प्रसारणत्ये किपि रूपम् । ध्यायते चिन्त्यते



कर्तृभिरैवं कर्त्तव्यमिति । “धिर्यं धिर्यः सीपघाति प्र पूष  
( ऋ० सं० ४, ८, ६, ३ )”—इति निगमः ॥

(२२) शची । ‘शच व्यक्तायां वाचि’ भूवादिरात्मनेपदी ।  
‘इन् सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )’ । ‘हृदिकारात् ( ४, १, ४  
षा० )’—इति डीप् । शचन्ते व्यक्ता वाचः कुर्वन्त्यस्यामिति  
शची । क्षीरस्वामी तु ‘शचति शची, शच श्वच गर्तो’—इति  
व्याख्यत् । गत्यर्थः शचिर्धातुपाठे न दृष्टः । “यद् देवयन्त  
मयथः शचीभिः ( ऋ० सं० ५, ५, १६, ४ )”—इति निगमः ॥

(२३) शमी । ‘शम उपशमे ( दि० प० )’ अस्मान् इन्,  
डीप् च पूर्वयत् । शमयत्यनयाऽनिष्टानि । ञिजन्ताद्वा पूर्वयत्  
इन्-डीपौ । शमयत्यनिष्टव्याध्यादीनि । “शमीमदुर्मस्वस्य ष  
( ऋ० सं० ६, ५, २६, ४ )”—इति निगमः ॥

(२४) शमी । शमतेः पूर्वधशिर्षाहोऽर्थश्च । षाहुलकाद-  
कारस्येकारः । शक्नोतेर्षा ककारस्य मकारः, अकारस्येकारश्च  
शफमेत्यनेन समानार्थः । “धुनिः शमीषाऽचरमा श्जीपी  
( ऋ० सं० ८, ४, १४, ५ )”—इति निगमः ॥

(२५) शक्तिः । शक्नोतेः ‘श्रियां क्तिन् ( ३, ३, १७ )’ । शक्यते  
कर्त्तुं शक्यते वाक्या परलोकं जेतुम् । “अजीजनच्छक्तिर्मरी-  
चमिश्राम् ( ऋ० सं० ८, ४, ११, ५ )”—इति निगमः ॥

(२६) शिष्यम् । ‘शील उपधारणे’ शुरादिः ( प० ) ‘शील  
सामार्थो’ भूषादिः ( प० ) । धनयोः ‘स्य्यशिश्यशय्यपाय्यस्य-  
सर्गस्यः ( उ० ३, १६ )’—इति परत्यये ञिलोपे ( ६, ४, ५१ ) च

उपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते । शील्यति शीलतीति वा शिल्पम् ।  
 'यत् कुम्भकादि कर्म'—इत्युणादिवृत्तिः । शील्यन्ति पुनः  
 पुनरभ्यस्यन्ति तदिति शिल्पम् । यद्वा, शिनोति कर्तारं तनूकरोति  
 दुष्करत्वेनातिक्लेशकरत्वादिति निपातनादूपसिद्धिः । 'शिष्  
 निशाने (स्वा० उ०)' 'निशानं तनूकरणम्'—इति मुबोधिनीकारः ।  
 "यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनायत् (अथ० सं० १३, ३, १०)"—  
 "दिवः शिल्पमयन्तम्"—इति च निगमौ ॥

इति पञ्चविंशतिः कर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् (१) । तोकम् (२) । तनयः (३) ।  
 तोकम् (४) । तम्म (५) । शेषः (६) ।  
 अमः (७) । गयः (८) । जाः (९) ।  
 अपत्यम् (१०) । यहुः (११) । सूनुः (१२) ।  
 नपात् (१३) । प्रजा (१४) । वोजम् (१५) ।  
 इति पञ्चदशापर्यनामानि ॥२॥

(१) तुक् । 'तुज ह्रितायाम् (भू० प०)'—किप् लोक्तति  
 हिनस्ति मातापितरौ गर्भवासादिना । तथाच मन्त्रः—'यदा  
 विपेय मातरं पितरं पुत्रः'—इत्यादिः । 'तुजिर्गत्यर्थः प्रेरणा-  
 र्थश्च'—इति माधवः । किप् । गच्छत्यनेन पितृलोकं पिता,  
 गच्छत्यनेनानृष्यं पितृभ्य इति वा, प्रेर्यते प्रसवकाले वायुनापि

घा । - यद्वा, 'प्लुच-प्रसादे-(भू० आ०)'-क्विप्, 'पृषोदरादित्वात्  
सकारलोपः । प्रसाद्यन्तेऽनेन पिता वा । 'तुचे-तु-नो मनु  
घरियोविदः (ऋ० सं० ६, २, ३३, ४)''—'तुचे क्वत्  
तन्तु नो (ऋ० सं० ६, १, २८, ३)''—इति च निगमौ ।  
उभयत्र चतुर्यो ।

(२) तोकम् । 'तुद-व्यधने (तुदा० प०)' पुंसि सप्रसारा  
घः (३, ३, ११८) 'पृषोदरादित्वात्' दकारस्य ककारः । तुदेऽनेन  
माता गर्भवासकाले, तुघते व्याध्यादिभिरिति वा । यदुवा  
'प्लुच स्तुतो (भू० आ०)' 'शुदाधाराचिकलिभ्यः कः (उ० ३, ३८)'  
—इति बाहुलकात् कप्रत्ययः, सलोपश्च स्तूयते तोरम् ।  
तथाच हरिश्चन्द्रोपाख्याने "ऋणमसिन्त्सप्रयत्यमृतत्वं च गच्छति  
(दे० आ० ७, ३, १)''—इत्यादिभिर्गाथाभिः प्रशस्यते, पुनः ।  
यदुवा, 'तु'—इति सौत्रो घातुर्द्ध्यर्थः, कप्रत्ययः पूर्ववत् ।  
घर्द्धते हि तन्, घदुर्ध्यते वा मातापिनृभ्याम् । यदुवा,  
सर्वेभ्य एव घातुभ्यो घञि रूपम्, अर्थश्च स एव ।  
तुदेस्तु ककारो बाहुलकात् प्लुचेः सकारलोपश्च । "मा  
नस्तोकेषु तनयेषु रीरियः (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)''—इति  
निगमः ॥

(३) तनयः । 'तनु विस्तारे (तना० प०)' 'घलिमलितनिभ्यः  
कयन् (उ० ४, १७)''—इति कयन्प्रत्ययः । कुलं तनोति पिन्ना-  
रपति । "मा नस्तोके तनये मा न आर्यो (ऋ० सं० १, ८, ६, ३)''  
—इति निगमः ॥

(४) त्वम । तुजेः, स्तुचेः, तनतेः, तुयतेर्षा मनिनि ( उ० ४, १४० ) ककारोऽन्तादेशः, तयतेः कुमांगमः पूरोद्वादित्यात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) त्वम । तक्तेर्गतिकर्मणः ( निघ० २, १४ ) मनिन् ( उ० ४, १४० ), तुचेर्गत्यर्थाद्वा मनिन् ( उ० ४, १४० ), अच्-मुकारस्य ( ६, ३, १०६ ) । पूर्वेण तुवा समानार्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) शेषः । 'शिष सर्जोपभोगे' चुरादिभूवादिश्च ( प० ), असुन् ( उ० ४, १८४ ) । द्वियमाणे पितरि कुलसन्तानार्थं परि-शेषयति, परिशिष्यते वा पित्रादिभिः सह न द्वियते स्वय-मवतिष्ठते, इत्यर्थः । यद्वा, 'शिष्ल विशेषणे' रुधादिः परस्मै-पदी, असुन् ( उ० ४, १८४ ) । विशिष्यते पित्राद्यात्मनोऽति-शयितं करोति हि विद्यादिभिः । 'पुनातु पित्रा प्रजा मे पतच्छैषसीमात्मनः कुरुते'—इति ब्राह्मणम् । तथा 'पुत्र-मेवैकमिच्छन्त्यात्मनो गुणवत्तरम्'—इति महाभारतम् । यद्वा, 'शिष हिंसार्थः' भूवादिः परस्मैपदी, शेषयति हिनस्ति माता-पितरौ । 'यदा पिषेप'—इति मन्त्रः पूर्वमेव दर्शितः । "न शेषे अग्ने अन्यजातमस्ति ( ऋ० सं० ५, २, ६, २ )"—"मा शेषमा मा तनसा ( ऋ० सं० ४, ४, ८, ४ )"—इति च निगमौ ॥

(७) अमः । कर्मनामसु व्याख्यातम् ( २, १ ) बाहुलकादे-पत्येऽपि भवति । 'धाप्नोतेर्हसश्च नुद् वा'—इति भोजंरंजने

कर्माण्याप्रदृषं न ह्यगम् । भाज्योत्पन्नेन सार्धं, कानात् लिट् ।  
भाज्यने वा महता पुण्येन "वधिरमज्ज उगसो वदन्ति (ऋ०  
सं० १, ८, ४, ५)" । 'भाज्यम् घनम्'—इति माधवः, प्रह्लं  
मपितुर्गर्हति ॥

(८) गयः । गमिः भ्रग्गाद्यध ( उ० ४, १०८ )—लि  
यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनान्मकारलोपः । 'गाहर्गा  
(भू० भा०)' भस्माटा यक्प्रत्यये ह्यत्थम् । गतावर्कः पूर्व-  
मुक्तः । गीयते स्तूयते देयमद्वारकेष्वेवमादिभिः । "द्वो  
वसुभिः परि पातु नो गयम् (ऋ० सं० ८, २, १२, ३)"—इति  
निगमः ॥ "गयस्फानः प्रतरणासु पीठः (ऋ० सं० १, ६, २३,  
४)"—इति च । 'गृहापत्ययोर्नाम'—इति ह्रस्वतः, 'गृहम्'—  
इति तु माधवः ॥

(९) जाः । 'जनी प्रादुर्भावे (दि० भा०)' 'अन्येष्वपि  
दृश्यते (३, २, १०१)"—इत्यत्र अपिशब्दस्य सार्धोपाधिष्वभि-  
चारार्थत्वात् केवलाजनेर्ङः, टाप्, जस् । जायते मातापितृभ्यां  
सकाशात् । "सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः (ऋ० सं० ७, २,  
२६, ४)"—"अनमीवो र्द्ध जासु नो भव (ऋ० सं० ५, ४, १३,  
२)"—इति च निगमौ ॥

(१०) अपत्यम् । अपपूर्वात् तनोतेः नभ्रपूर्वात् पतेर्वा  
'अज्याद्यध ( उ० ४, १०८ )'—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते,  
तनोतेःषिलोपः । "कवेरपत्यमा दुहे (ऋ० सं० ६, ७, ३५, ३)"  
—इति निगमः ॥

(११) यद्दुः । यातेर्ह्यतेश्चीरादिके मृगप्यादित्वात् ( उ० १, ३६ ) कुप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः । यातः प्राप्तः पुण्यघशेन स्वनाम्ना ह्यते च । 'यदुर्यातश्चाहृतश्च'—इति माधवः । "ईशानः सहसो यदो ( ऋ० सं० १, ५, २७, ४ )" —इति निगमः ।

(१२) सनुः । 'पूञ् प्राणिप्रसवे ( अदा० आ० )'—सुचः कित् ( उ० ३, ३४ )—इति नुप्रत्ययः । सूयते मात्रा । "अग्निं सनुं सनथुतं सहसो जातवेदसम् ( ऋ० सं० ३, १, ६, ४ )" —इति निगमः ॥

(१३) नपात् । नङ्पूर्वात् पतेर्पर्यन्तात् 'बहुलमन्यत्रापि सभ्रशाच्छन्दसोः ( ६, ४, ५१ वा० )'—इति णिलोपः । 'न चाप्रपात् ( ६, ३, ७५ )'—इत्यादि सूत्रेण नम्रः प्रकृतिमावः । न पातयति न तेन पततीत्युक्तम् । "एहि धां विमुचो नपात् ( ऋ० सं० ४, ८, २१, १ )" —इति निगमः ॥

(१४) प्रजा । प्रपूर्वाजनेः 'उपसर्गे च सभ्रशायाम् ( ३, २, ६६ )'—इति ङः, टाप् । "प्रजां देवि दिदिद्धि नः ( ऋ० सं० २, ७, १५, ६, ८, १०, २ )" —इति निगमः ॥

(१५) धीजम् । 'धीज प्रजननकान्त्यसनवादानेषु' इत्यस्माद-  
च्प्रत्ययः ( ३, १, १३४ ) । तथाच भोजराजीये 'धियो जक्'—  
इति ध्युत्पादितम् । यवयोरभेदः । धेति प्रजायते गच्छत्यनेना-  
नृण्यं पितेति धा । अत्र क्षीरस्थामी—'धीज्यते धेति धा धीजं  
याजिलौकिकः'—इति । 'धीजिः स्यात् प्रेरणक्रिया'—इति  
माधवः । प्रेर्यते हि कार्प्यकारणाय धा धीजम् । यथा

धान्यादिवीजमुत्तरोत्तरं स्वांभिवृद्धये संवति ः पचमपत्यमपि  
पितृणामभिवृद्धिहेतुरिति वीजमित्युच्यते । ११ ॥ यस्यां वीजं मनुष्या  
इवपन्ति (ब्रह्म सं० ८, ३, २७, २) ॥ इति । १ ॥ वीजमपत्यार्थमिति  
ह्यम् ॥ ११ ॥

इति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

मनुष्याः (१) । नरः (२) । धर्वाः (३) ।

जन्तवः (४) । विशः (५) । क्षितयः (६) ।

कृष्टयः (७) । चर्पणयः (८) । नहुषः (९) ।

हरयः (१०) । मर्याः (११) । मर्त्याः (१२) ।

मर्ताः (१३) । व्राताः (१४) । तुर्वशाः (१५) ।

द्रुह्यवः (१६) । आयवः (१७) । यदवः (१८) ।

अनवः (१९) । पूरवः (२०) । जगतः (२१) ।

तस्थुपः (२२) । पञ्चजनाः (२३) । विवस्वन्तः

(२४) । पृतनाः (२५) । इति पञ्चविंशतिर्मनु-

ष्यनामानि ॥ ३ ॥

(१) मनुष्याः । मर्या कर्माणि सीयन्ति ( निघ० ३, ७ )  
— इति भाष्यम् स्वप्नद्वामी— मरयेत्यादिना मनेः सीयिष्य  
विधानुबन्धं प्रदर्शयति— शात्याऽनेनेदमिति साध्यताप्यनमार्थं

कर्माणि स्वीयन्ति सन्तन्यन्ति, यथा पश्वादयः' मनस्यमानेन  
 प्रजापतिना सृष्टाः । मनस्यतिः कस्मिन्नर्थे ? इत्याह—प्रशस्ती-  
 भावे, : प्रशंसायां मत्वर्थीयः, प्रशस्तं मनः प्रसन्नं सत्वप्राधा-  
 न्यात् अतः प्रसन्नमनस्केन सृष्टा इत्यर्थः । तथा च ध्रुतिः—  
 'स पितॄन् सृष्ट्वा मनस्यदनुः 'मनुष्यानसृजत'—इति ।  
 नित्यपक्षेऽप्यसति सृष्टिर्कार्ये सौमनस्यं दृष्ट्वा सृष्टिका-  
 रणानुविधायित्वात् कार्यस्थ वा । 'मनोजातावभ्यर्तौ पुक्  
 च ( ४, १, १६१ )'—इति वैयाकरणाः । जातिश्च प्रत्ययान्तो-  
 पाधिः । मनोरपत्यं जातिञ्छेत्येती । अपत्यमात्रविषयायाम-  
 न्तरेण च जाति भवति मानय इति । मनुषो वा अकारान्तमेकं  
 प्रातिपदिकमस्ति, अतस्तदन्तात् घ्युत्पादयति, अभ्यत्प्रत्ययसञ्चि-  
 योगेन पुगिति स्मरणान्तरं विनापि प्रत्ययेन पकारान्तप्रयोग-  
 दर्शनात्—'समिद्धो अथ मनुषो दुरीणे ( ऋ० सं० ८, ६, ८, १ )'  
 —इति पृषोदरादिष्वात् सर्वं सिद्धम् । अत्र धीनिवासः—  
 —'मनेर्मनुः मनेरुसि मनुषीति । यत् । सा चास्या मनुष्यगीः'  
 —इति । "स्पर्धां वसु मनुष्या ददीमहि ( ऋ० सं० २, ६, ३०,  
 ४ )"—"दैव्याः शमितार आत्मथ्यमुत मनुष्याः ( ऐ० ब्रा० २,  
 १, ६ )"—इति च निगमौ ॥

(-) नट । 'जोम् प्रापणे ( भू० उ० )' 'नयतेर्दिञ्च ( उ० २,  
 ६३ )'—इति ऋन्प्रत्ययः, जस् । नयन्ति संसारचक्रम्, पदार्थ-  
 त्वात् देशान्तरं नीयन्ते वा स्थानोत्तरफालेन । यद्वा 'नृती  
 गात्रविशेषे ( दि० प० )' बाहुलकाट्टन् दिञ्च । नृत्यन्ति गात्र-



चिक्षेपं कुर्वते हि नियमेन गात्राणि : विश्लिष्यन्ति कर्मणु हर्षं  
 कुर्वन्तः । “तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तः ( ऋ० सं० ४, ४, ३३  
 २ )” —“त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरः ( ऋ० सं० ४, ७, २९, १ )”  
 —इति च निगमौ ॥

(३) धवाः । ‘धुम् कम्पने ( स्वा० उ० )’ ‘धुम्’ वा ( ह्या०  
 उ० ) । पचाद्यच् । धूनयति । धुनोति स्वाचयवान् धवः, जस् धवः ।  
 यद्वा, मनुष्या मृत्युतो वेपन्ते । यद्वा, ‘धावु गतिशुद्ध्योः ( भू० उ० )’  
 अस्मात् पचाद्यचि ( ३, १, १३४ ) षृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०१ )  
 ह्रस्वः । इतश्चेतः शरणार्थिनो धवन्ति धवाः । “को पां शतुः  
 चिधवेव देवरम् ( ऋ० सं० ७, ८, १८, २ )” —इति निगमः ॥

(४) जन्तवः । ‘जन्ती प्रादुभावे ( दि० आ० )’ —‘कर्मि  
 निजनिगाभायाहिभ्यश्च ( उ० १, ७० )’ —इति तुप्रत्यय  
 जायन्ते जन्तवः । “इरज्यभगने प्रथयस्व जन्तुभिः ( ऋ० सं० ७,  
 २८, ४ )” —इति निगमः ॥

(५) विशः । ‘विश प्रवेशने ( तु० प० )’ क्विप् । विशन्ति  
 अनु प्रविशन्ति सर्षकर्मस्वधिकारित्वेन । यद्वा, अनुप्रविष्ट  
 आत्मीयभूराजादेः धिता इत्यर्थः । “विशो राजानमुपतस्युर्मा-  
 ग्मिषम् ( ऋ० सं० ४, ५, १०, ४ )” —इति निगमः ॥

(६) क्षियः । ‘क्षि निघासगदयोः ( तु० प० )’ ‘क्लिष्ठी  
 च तम्जायाम् ( ३, ३, १७५ )’ —इति क्तिच् । क्षियन्ति निघसन्ति  
 भ्रमो गदुन्ति वा तप्याम् । “अनु कोशन्ति क्षियरो मतेषु ( ऋ०  
 सं० ३, ७, ११, ५ )” —इति निगमः ॥

(७) कृष्टयः । 'रुच विलेखने (भू० प०)' भाषे क्तः ।  
 कर्षणं कृष्टम् । कर्षेण कर्मविशेषेण चात्र सामान्यतः कर्ममात्रं  
 लक्ष्यते, कृष्टं कर्म, तदस्यास्तीति 'लुगकारैकारैफाश्च घक्तव्याः  
 (४, ४, १२८ वा०)'—इति इकारप्रत्ययः । तथाच भाष्यकारः  
 —'कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मयन्तो भवन्ति (ऋ० सं० सा० भा०  
 ३, ४, ५, १)—इति । तथाच श्रीभगवद्गीतायाम्—'नैव कश्चित्  
 क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (म० भा० भी० प० २६ अ० ५  
 श्लो०)'—इति । यद्वा, शुद्धोऽपि कृषिर्विपूर्वस्यार्थे घर्त्तते ।  
 कर्मणि क्तः । विविधं कृष्टो विश्वितपरिकण्डूयनाद्यभिलषित-  
 क्रियानुष्ठानसमर्थः कः ? इत्यपेक्षायां विदुष्टदेहत्वं कृष्टसाम-  
 र्थाद्देहम्, स पर्यामर्त्तति पूर्वजन्मत्वर्थीयः तथाच भाष्यम्  
 —'विदुष्टदेहा घा (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)'—इति ।  
 'रुचन्ति प्रान्तं पदान्याम्'—इति भाष्यवः । 'कर्षन्ति पशीकुर्वन्ति'  
 —इति भट्टभास्करमिश्रः । "मिश्रः कृष्टीरनिमिषामिचष्टे (ऋ०  
 सं० ३, ४, ५, १)"—सद्यद्धियः शयसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० सं० ८,  
 ८, ३६, ३)"—इति च निगमी ॥

(८) चर्षणयः । चरतेर्धातोः (भू० प०) 'अर्त्तिरुधुधावश्च-  
 चिनृभ्योऽनिः (उ० २, ६५)'—इति बहुलवचनादनिप्रत्यये  
 पुगागमश्च चरणयन्तः चरणशीलाः । यद्वा, 'कृपेरादेश्च चः  
 (उ० २, ६७)'—इति अनिप्रत्यये कृपेरेतद्गुणम् । आकर्षन्ति  
 पशीकुर्वन्ति इत्यर्थः—इति भट्टभास्करमिश्रः । यद्वा, चर्षणयः  
 चायितापे द्रष्टारः सर्वेषां पदार्थानाम् । यद्यपि पश्यतिकर्मसु

( निघ० २, २ ) चिचरंजिगिति पठिगम्, तथापि 'चिच इत्यत्र चरंजिः ( ऋ० सं० १, ३, ३३, ४ )'—इत्यत्र 'चाचयिना इत्यं—इति स्यात्प्रत्ययानिना व्याख्यातम् । "प्र चरंजिम्यः पुनराहोरेणु ( ऋ० सं० १, ७, २१, १ )"—"मदा इन्द्रो नृपदा चरंजिः ( ऋ० सं० ४, ६, ७, १ )"—इति च निगमौ ॥

(६) महुपः । 'णह यन्पने ( दि० उ० )' । 'जनेदकि ( उ० २, १०८ )'—इति यादुल्फान् उस्प्रत्ययः, जसु, महुः । महान्ते कर्मभिः पूर्वहूनेः संसारे महान्ति वा महनीयम् । "सवा सनेम महुपः सुवीराः ( ऋ० सं० २, १, २, ३ )"—"आ यात महुपस्परि ( ऋ० सं० ५, ८, २५, ३ )"—इत्यादयो निगमाः ॥

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु दृश्यते । तदा 'ऋ-हिभ्यामुपन्'—इति उपन्प्रत्ययः । पूर्ववदर्थः । "प्रसङ्गाणस्य महुपस्य शोषः ( ऋ० सं० ४, १, ४, ६ )"—इति निगमः ।

(१०) हरयः । 'हृम् हरणे' भूवादिः 'हृ प्रसङ्गकरणे जुहोत्यादिः । 'इन् सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )'—इतीन्प्रत्ययः । हरन्ति पदार्थान्, प्रसङ्गीक्रियन्ते वा मृत्युनेति वा । तथाच मृत्युवाक्यम्—'अहं प्रजाश्चाकुशतीर्हरामि'—इति निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) मर्याः, (१२) मर्त्याः । 'मृङ् प्राणत्यागे ( तु० भा० ), अज्यादयश्च ( उ० ४, १०८ )'—इति यस्प्रत्ययान्तं द्विपोदन्ते, तुदागमस्तु विकल्पेन, गुणः । धियन्ते मर्याः । 'इन्देति

निष्कर्षदेवहूयप्रणीयोक्षीयोच्छिष्यमर्यं (३, १, १२३) — इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तं निपातितम् । “को नु मर्या अमिमितः (ऋ० सं० ६, ३, ४८, ३७)” — “मर्यायेव कत्या शवचै त (ऋ० सं० ३, २, १३, ५)” — “मर्यन्न योपा कृणुते सधस्थ आ (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)” — इति निगमाः । यदुवा, ‘मृद् प्राणत्यागे (तु० आ०)’ ‘हसिखमिरवामिदमित्पूर्ध्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)’ — इति सन्प्रत्ययः । अर्थः पूर्ववत् । मर्त्तशब्दात् ‘घस्वमर्त्त यचिन्धेभ्यश्छन्दसि’ — इति स्वार्थिकस्तद्धितो यत् । “यो मर्त्येष्वमृतो ऋताया (ऋ० सं० ३, ४, १६, १)” — इति निगमः ॥

(१३) मर्त्ताः । व्याख्याताः । “मा नो मर्त्ता अमिदुहन् (ऋ० सं० १, १, १०, ५)” “तं मर्त्तां अमर्यैम् (ऋ० सं० ८, ६, २५, १)” — इति च निगमौ ॥

(१४) याताः । ‘वृन् घरणे (स्वा० उ०)’ ‘तातयातलात सुपित्त’ — इत्यादि सूत्रेण भोजराजेन कृत्प्रत्यये आङ्गमो निपात्यते । कृण्वन्ति स्वमभिमतं देयताभ्यः तपसाराधितेभ्यः प्रमियन्ते वा यज्ञादौ । यदुवा, यातो धान्यादिसञ्चयः । तदुचन्तो याताः । मत्वर्थीयोऽकारः । यदुवा, मतमिति कर्मनाम ( निघ० २, १) अन्तं वा । अन्नमपि यतायैतस्मादेवेत्युक्तेः तर्हिः सस्येदम् (४, ३, १२०) — इत्यण् । ‘कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रमुच्यते’ — इत्युक्तेः कर्मणामाधिकारित्वाच्च मनुष्याणां कर्मसम्यन्धित्वम् । ‘अथो अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्य-

ल्लेन पर्दाम्भे (सै० उ० १, ३)”—इति, ‘अभ्रान् रैतां ह्रस्वः  
पुरः (सै० उ० १, १)”—इति च ध्रुनेः मनुष्यानामग्रसन्नि-  
त्वम् । “पञ्च माता भाग्यस्यः (शृ० सं० ६, ८, ३, २)”—इति  
निगमः ॥

(१५) तुर्वशाः । ‘तुर्वो हिसायाम् (मू० प०)’ । ‘ह्रस्व-  
स्याच्’—इति यादुन्यान् अशच्द्रत्वयः । भोजरात्रयनिं-  
स्यम्, हिसन्ति प्राणिनः, हिसन्ते व्याध्यादिभिर्वा । यदुवा-  
‘तूर त्वरणहिसनयोः (दि० आ०)’ अस्मान् किपि ‘तूर, अहोते-  
पचाद्यच् तूर्णमश्नुयते तृपोदरादित्यान् (६, ३, १०६) पूर्व-  
दस्य ह्रस्वत्वं षकारश्चोपजनः । तस्मिन्तूर्णमश्नुते । ‘प्राप्यम्’—  
इति माध्ययः । यदुवा, तुर्वशाः काम एयामिति तुर्वशाः, पूर्ववत्  
पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वम् । ‘घश कान्तौ (अदा० प०)’—इत्यस्त्वा  
‘घशिरण्योरुपसङ्ख्यानम् (३, ३, ५८ वा०)’—इत्यप् । यदुवा-  
चतुर्वु धर्मार्थकाममोक्षेषु यश एयामिति चतुर्वशाः सन्तः षकार-  
लोपेन तुर्वशाः । तुर्वशेष्यमन्महि (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)  
—इति निगमः ॥

(१६) दुहवः । दुह जिघांसायाम् (दि० प०) औणादिक-  
क्विप्, द्रोहः । द्रोहं परेयामिच्छन्ति ‘छन्दसि परेच्छायामपि  
(३, १, ८ वा०)’—इति क्वप् ‘क्याच्छन्दसि (३, २, १७०)’  
—इत्युभयत्ययः । परहिसारत्वयो हि प्रायेण मनुष्याः । ‘ध्रुष्टिं  
घञ्कुभृगवो दुहवश्च (ऋ० सं० ५, २, २५, १)’—इति  
निगमः ॥

(१७) आयवः । 'इण् गती ( अदा० प० )' 'छन्दसीणः ( उ० १, २ )—इत्युण्प्रत्ययः । गच्छन्ति प्रामात् प्रामम्, गमन-शीलाः । "बाहुभ्यामग्निमायधोऽजनन्त ( ऋ० सं० ७, ६, २, ५ )"—"आयोर्हं स्वकम्भ उपमस्य नीले ( ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६ )"—इति च निगमी । 'अन्तोदात्त आयुशब्दो मनुष्यवचनः'—इति माधवः ॥

(१८) यद्वः । 'यमु उपरमे ( भू० प० )' 'यमेर्दुक्—इति श्रीमोज्जदेवः । 'अनुदात्तोपदेशवन्तितनोत्यादीनाम् ( ६, ४, ३७ )'—इत्यादिना अनुनासिकलोपः । यम्यते नियम्यते आचार्य्येण अपधप्रवृत्ताः, राज्ञा वा । "यो अस्ति याद्वः पशुः ( ऋ० सं० ५, ७, १६, १ )"—इति निगमः । अत्र माधवः—'यदुपु भवो याद्वो यदुरिति मनुष्यनाम्'—इति ॥

(१९) अनवः । 'अन प्राणने ( अदा० प० )' 'अणश्च ( उ० १, ८ )'—इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकात् भवति । अनन्त्यनवः । ज्ञानवरदादेतेषां धर्माद्यनुष्ठानात् प्राणनस्य फलयत्तथात् अनन्तीत्युच्यन्ते । इतरे पश्वादयो ज्ञानहीनत्वात् निष्फलप्राणताः । तथाभ्योपनिषदि—'तस्य य आत्मानं विस्तरं वेद'—इत्यत्र प्रकरणे ज्ञानवरधान् पुरुषस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादितम् । "रोधाय विद्वद्वनवाय"—इति निगमः । अत्र माधवः—'अनुरिति मनुष्यनाम्'—इति । "अनवस्ते रथमश्वस्य त्रश्वन् ( ऋ० सं० ४, १, २६, ४ )"—इति च । अत्र 'अनवः ऋभवः ते च मनुष्याः' । 'भर्तांसः सन्तो अमृतत्वमानशुः ( ऋ० सं०

१, ७, ३०, ४)'—इति धृतिः । इत्या प्राङ्गणमपि—भारतं  
शंसत्युभयो वै देयेषु तारसा .सोमपीण मम्यत्तन् (ये० प्रा० ३,  
३, ५)'—इत्यादि, 'सोम्यो वै देवा भगीषापीमत्सन्न मनुष्यकल्पन्  
(ये० प्रा० ३, ३, ५)'—इति च ॥

(२०) पूर्यः । 'पूरी भाष्यायने (दि० भा०)' मृद्गी-  
एचरित्तरि (उ० १, ७)'—इत्यादिना पादुल्लकात् उपत्ययः ।  
पूरयितव्याः कामानां 'रूपूर्वा कुः'—इति धीमोजदेवः । पूर-  
शुद्धाः शानार्थिमिरित्यर्थः । "यं पूर्यो पृथग्दणं सचन्ते (ऋ०  
सं० १, ४, २५, ६)"—इति निगमः ॥

(२१) जगतः । 'गम्ल् गतौ (मू० प०)' । 'यसंमते  
पृषदुवृहन्महजगच्छवृष्य (उ० २, ७८)'—इति निपात्ययान्तौ  
निपात्यते । प्रत्ययस्यादादेशः, द्विर्वचनं, नञि लोपश्च निपात्यते ।  
गच्छति ग्रामात् ग्रामान्तरम् । "यदेपामग्रं जगतामिरज्वसि  
(ऋ० सं० ८, ३, ६, २)"—इति निगमः ॥

(२२) तस्थुषः । 'ष्टा गतिनिवृत्तौ (मू० प०)' । 'छन्दसि  
लुङ्लृङ्लिटः (३, ४, ६)' । 'कसुः (३, २, १०७)' । 'चस्वे-  
काजाद्दुषसाम् (७, २, ६७)'—इति इडागमः । 'आतो लोप-  
(६, ४, ६४)' । 'लिटि घातोः (६, १, ८)'—इति द्वित्वम् ।  
'शपूर्वाः खयः (७, ४, ६१)'—इति थकारस्य शेषः । 'अभ्यासे  
घर्च (८, ४, ५४)'—इति तकारः । तस्थिवस् इति स्थिते  
जसंः स्थाने व्यत्ययेन शस् (३, १, ८५) । 'घसोः सम्प्रसार-  
णम् (६, ४, १३१)' । 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—

इति पत्वम् । तिष्ठन्ति स्वस्मिन् घर्मे । “नरन्तं परि तस्थुपः  
( ऋ० सं० १, १, ११, १ )”--इति निगमः । अत्र घात्रसनेय-  
भाष्यरुदुवटः ‘तस्थुपो मनुष्याः ऋत्विग्यजमाना इत्यर्थः’—  
इति ॥

(२३) पञ्चजनाः । अत्र भाष्यम्—‘तत्र पञ्चजना इत्येतस्य  
निगमा भवन्ति । “तद्य वाचः प्रथमं मसीय०—०ञ्जुषध्वम्  
( ऋ० सं० ८, १, १३, ४ )” । तद्यवाचः परमं मसीय धिनासु-  
रानभिभवेम देवाः’ । असुरा असुरता स्थानेष्वस्तास्थानेभ्य इति  
वापि घासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः ।  
सोर्देवानश्चत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानश्चत तदसुराणा-  
मसुरत्वमिति विज्ञायते । ‘ऊर्जाद उत यज्ञियास्तः’ । अग्रादाश्च  
यज्ञियाश्चोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सतः पक्वं सु प्रवृक्चमिति घा ॥  
‘पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्’ । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा  
रक्षांसीत्येके, चत्वारो घर्णाः निपादः पञ्चमः (त्यौपमन्ययः ।  
निपादः कक्षात् ? निपादो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति  
नैरुक्ताः । “यत् पाञ्चजन्यया विशा (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)” ।  
पञ्चजनीनया विशा, पञ्च गृक्ता सङ्ख्या लिङ्गत्रययोगेष्वविशिष्टा  
(निद० ३, ७, ८)’—इति । अस्य स्कन्दस्वामी—‘पञ्चजना इत्येतस्य  
सन्दिग्धस्य विवेकार्थं निगमा भवन्ति सन्देहश्च मनुष्यनामसु  
पाठात् पञ्चशब्देन समानाधिकरणः । तत्र यदि देवदत्तादिपञ्चक-  
विषयः स्यान् गन्धर्वादिपञ्चकविषयो घा, न मनुष्यमात्रनामविष-  
यताश्च स्यात्, मनुष्यमात्रनामैतदित्याचार्य्यमतान्तरप्रदर्शनाय



माश (मृ० सं० ७, ६, २३, १) —इत्यादित्यवचनम्प्रादणम् ॥

(२५) पृतनाः । 'वृहव्यायामे (तु० आ०)' । "त्वयाव्यदेव पृतना जयेयम् (मृ० सं० ८, ७, १५, १)" —इति निगमः ॥

मनुष्याणां बहुत्वम्, सतो बहुवचनान्तत्वम्, तथा निघण्टुष्वपि । 'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः । सुपुमांसः पञ्चजनाः पुण्याः पूरुषा विशाः ॥ (अम० को० २, ६, १)' —इत्यादिषु च बहुवचनान्तता दृश्यते ॥

इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ २५ ॥

आयती (१) । च्यवाना (२) । अभीशु (३) ।  
अम्रवाना (४) । विनङ्गुसौ (५) । गभस्ती (६) ।  
करलौ (७) । वाहू (८) । भुरिजौ (९) ।  
क्षिपस्ती (१०) । शक्वरी (११) । भरित्रि (१२) ।  
इति द्वादश वाहुनामानि ॥४॥

(१) आयती । 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' गतिकर्मा वा (निघ० २, १४) —'इन् सर्वधातुभ्यः (४, ११४ उ०)' —इतीन्प्रत्ययः । आमिमुख्येन यतते फार्ष्येषु, गच्छन्ती वा साधनत्वम् । बाहोर्द्वित्याम् सर्वत्र द्विवचनान्तात्ता । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) स्यद्याना । 'व्युङ्' गर्तो ( भू० आ० ) । 'सम्यान् च्' तुयः ( उ० २, ८३ )—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशोऽधिकविधिर्ये ल्युकेरानच्प्रत्ययः । 'सुपां सुलुक् ( ७, १, ३६ )—इत्यादिना द्वियचनस्याकारः । गच्छतः कर्मणामन्तः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) अमीशु । व्याख्यातो रश्मिनामसु । ( १ अ० ५ ख० ) । मन्वश्नुयानि कर्माणि अभिनयन्तो वा कर्माण्यतः अमीशाते कर्माणि कर्तुमिति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) अप्याना । 'आप्लु' व्यातो ( स्वा० प० ) 'ताच्छी-  
व्यधोषचनशक्तिः चानश् ( ३, २, १२६ ) अस्य सार्वधातुकत्वात्  
शुः, 'छन्दस्सुमयथा ( ३, ४, ११७ )—इत्यार्द्धधातुकत्वान् गुणः,  
धातोर्ह्रस्वन्वं पृषोदरादित्थान् ( ६, ३, १०६ ) । आप्लुतः कर्माणि ।  
पद्म, भद्र इति कर्मनामसु व्याख्यातम्, ( २ अ० १ ख० ) तदस्यास्ति  
'छन्दसीपनिर्षो ( ५, २, १२२ पा० )—इति घनिपि विमकेरकारः  
पूर्वप्लु, सकाज्योपसृष्टान्दसः । कर्मवर्तो हि षाह ।  
नकारान्तो वेति सन्देशः । निगमदर्शनाधिर्षेयः ॥

(५) विनश्सृत्तो । षाहुनाम । विनम्य प्रसतोऽप्रादिकर्मित  
माधवः । पृषोदरादित्थान् ( ६, ३, १०६ ) पूर्वपदे म्यन्तोपोनुक्,  
'घस भदने ( भू० आ० )—इत्यस्यान् पचाच्च ( ३, १, १३४ ),  
साम्प्रसारणञ्च । 'अन्वस्मै ओयमभरद्विनश्सृतः ( ष्र० सं० ७, २,  
२७३ )—इति निगमः ॥

(६) गभान्तो । व्याख्यातो रश्मिनामसु । ( १ अ० ५ ख० )  
पुर्याः इत्यस्याभ्यामभ्यासीन् । 'घर्हंगमर्तो षाह, गृह्णाति

पदार्थानाम्यां पुगः—इति माधवः । “शय्याभिर्न मन्त्रान्ते  
गमस्त्योः ( ऋ० सं० ७, ५, २२, ५ )”—इति निगमः ॥

(७) कर्त्तृ । कर्त्तासीति कर्मनामसु कर्त्ताब्दो व्याख्यातः ।  
तस्मिन् कर्मण्युपपदे ‘ष्णो घेष्टने (भू० प०)’—इत्यस्मान् ‘आतोऽङ्  
पसर्गे कः (३, २, ३)’ ‘आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)’ ।  
‘कर्मणां प्रस्नातारो (निघ० ६, १७)’ घेष्टयितारो कर्मकरावित्यर्थः ।  
“सुप्रकरञ्जमतये (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)”—इति निगमः ॥

(८) बाह् । ‘बाधृ लोडने (भू० आ०)’ । ‘अजिदृशिकर्मणि-  
पसियाधामृजिपशितुकुभुकूर्दीर्घकारश्च (उ० - १, २६)’—  
इत्युप्रत्ययो होऽन्तादेशश्च । गमयत्याभ्यां कर्माणि, बाधो  
परानाभ्यामिति धा । “ऋष्यात् इन्द्र स्थविरस्य बाह् (ऋ० सं०  
४, ७, ३१, ३)”—इति निगमः ।

(९) भुरिजो । ‘हृञ् हरणे (भू० उ०)’ ‘हु भृञ् धारण-  
पोषणयोः (जु० उ०)’ ‘भृञ् उच्च (उ० २, ७१)’—इति इजिप्रत्ययः ।  
हरतो विभृतो धा पदार्थान् कर्त्तृकरणसामर्थ्यं धा । “तमस्रव  
भुरिजो धिया (ऋ० सं० ६, ८, १६, ४)”—इति निगमः ॥

(१०) क्षिपस्ती । ‘क्षिप प्रेरणे’ तुदादिः (प०), ‘सवित-  
सेस्तिः’—इति बाहुलकात् तिप्रत्ययः घातोःसुगागमो गुणा-  
भावश्च प्रेर्यते कर्मसु पुरुषैः ॥ ‘क्षिपती’—इति पाठान्त-  
रम् । तदा शतरि लोपि ‘आच्छीनचोर्नुम् (७, १, ८०)’  
‘घा छन्दसि (६, १, १०६)’—इति द्विवचनस्य पूर्वसर्गः ।  
क्षिपतः पदार्थान् इतश्चेतश्च कर्मसु । यदुवा, क्षिपे

हेनन्दिजीविप्राणिभ्यः शिदाशिवि ( उ० ३, १२३ )—इति  
दुल्लकात् ऋच्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः । क्षिपतः पदार्थात् ।  
गमदर्शनाग्निर्णयः ॥

(११) शकरी । 'शकल शकौ ( स्वा० प० )' 'क्षामदिपचर्त्ति-  
ःकिभ्यो घनिप् ( उ० ४, १०६ )'—इप् घनिप्रत्ययः, 'घनो  
च ( ४, १, ७ )'—इति ङीघ्रौ च पूर्ववत् पूर्वसवर्णादेशः ।  
क्नुतः कर्माणि कर्तुम् । "अङ्गुलयः शकरयो दिशश्च मे यशो  
ल्पन्ताम् ( य० घा० सं० १८, २२ )"—इति निगमः ॥

(१२) भरित्रै । विभर्त्ति रश्मीनादित्य इव । 'अशिषा-  
देभ्य इत्रौत्रौ ( उ० ४, १६८ )'—इति इषप्रत्ययः । भूरिषदर्यः ।  
'अ'शुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैः ( ऋ० सं० ३, २, २०, २ )"  
—इति निगमः ॥

इति दुचादश बाहुनामानि ॥ ४ ॥

अग्रुवः (१) । अण्वयः (२) । त्रिशः (३) ।  
क्षिपः (४) । शर्याः (५) । रशनाः (६) ।  
धीतयः (७) । अथर्यः (८) । त्रिपः (९) ।  
कक्ष्याः (१०) । अवनयः (११) । हरितः (१२) ।  
स्वसारः (१३) । जामयः (१४) । सनाभयः (१५) ।  
योक्त्राणि (१६) । योजनानि (१७) । धुरः (१८) ।

शाखाः (१६) । अभीशवः (२०) । दक्षि-  
तयः (२१) । गभस्तयः (२२) । इति द्वाविंश-  
तिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

(१) अग्रुषः । 'जश्यादयश्च (उ० ४, १००)'—इति क्त्वा-  
न्तेषु निपातेषु द्रष्टव्यः । 'अग्नि गतो (भू० प०)'—इति घानु-  
निपातनाप्रलोपः, सन्त्यादित्यादुपहृ । गच्छति कर्माणि प्रति ।  
यदुघा, अग्रशब्दे उपपदे गमेः पूर्ववधिपातनात् स्वल्पे पूर्वपद-  
अप्रलोपः गमेष्टिलोपश्च । अग्रे गच्छन्ति ताः । 'तमीं हिन्यन्त्य-  
प्रुषः (ऋ० सं० ६, ७, १७, ३)'—इति निगमः । अङ्गुलीनां  
पहुत्वात् सर्वत्र बहुवचनान्ताता ॥

(२) अण्व्यः । अणतिः शब्दार्थः ( भू० प० ), 'अणश्च (उ०  
१, ८)'—इति उपत्ययः । 'घोतो गुणवचनात् (४, १, ४४)'—  
इति डीप् । अणन्ति स्फोटनादिशब्दं कुर्वन्ति, सालादि शब्दं  
कुर्वन्त्यामिरिति वा । यदुघा, अण्व्यः हस्तपरिमाणापेक्षयात्-  
परिमाणाः । तमीमण्वीः समर्थे वा ( ऋ० सं० ५, ७, १७, ३ )  
—इति निगमः ॥

(३) विशः । 'विश प्रवेशने ( तु० प० )' । 'किप् षवि ( ३,  
२, १७८ वा )'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः'—इत्युक्तेः  
किपि रेफ उपजनः, विशन्ति साधनमार्थं कार्येषु । 'तमीं हिन्यन्ति  
धीतयो दश विशः ( ऋ० सं० २, २, १३, ५ )'—इति निगमः ।  
'कर्मसु धीयमाना दशाङ्गुलयः'—इति माधयमाध्यम् ॥

(४) क्षिपः । 'क्षिप प्रेरणे ( दि० प० )' शौचादिकः क्विप् ।  
 ह्येप्यन्ते प्रेर्यन्ते पुद्गलेन कर्मतु निक्षिपन्तस्य श्णुलोपकादीन्  
 त्रिषा "मृजन्ति स्या दश क्षिपः ( ऋ० सं० ६, ७, ३०; ४ )"  
 —इति निगमः ॥

(५) शर्षाः । 'शृ हिंसायार् ( षया० प्या० प० )' ।  
 'अध्यादेराकृतिगणत्वात् यत् ( उ० ४, १०८ ) । शृणाति पापात् ।  
 "आ यः शर्षामिस्तुचिदृम्णो अस्य ( ऋ० सं० ८, १, २६, ३ )"  
 —इति निगमः ॥

(५) ररुनाः । रशिवन्धनाद्यौ धानुरित्युक्तं रस्मिनिर्धने ।  
 ( १ अ० ५ ख० ) 'युच् बहुलम् ( २, ७५ )'—इति युच् । यजन्ति  
 बन्धनीयं, यज्यते आभिरिति वा । युच्यकरणे 'भशेरा च'—इति  
 धीमोतदेशः । अरुजने कर्त्तुं ररुनाभिर्देशमिच्छन्तीताम्  
 ( ऋ० सं० ७, ५, ३२, ६ ) "अच्छा यहीररुनाभिर्नयन्ति ( ऋ०  
 सं० ७, ३, २२, १ )"—इति च निगमौ ॥

(७) धीतयः । 'धी ( दि० आ० )' धातो 'क्विक्त्वी च सञ्-  
 हायाम् ( ३, ३, १७४ )'—इति क्विच् व्यत्ययेन दधातिरपि भवति,  
 'धुमास्वागापाद्गहाति ( ६, ४, ६६ )'—इतीत्वम् । धीयन्ते  
 पिधीयन्ते पुरुषैः कर्मतु, धारयन्ति कर्मस धनानि वा ।  
 भ्रान्तर्गीतण्यर्थो दधातिः । "स सतधी तेभिर्हित. ( ऋ० सं०  
 ६, ७, ३२, ४ )"—इति निगमः ॥

(८) अथर्वः । 'अत सातत्यगमने ( मू० प० )' 'एन् सर्वधातुभ्यः  
 ( उ० ४, ११४ )'—इतोन्प्रत्ययो धादुलकान्, धातोस्त्वयदेशः,

'कृषिकारात्कृतः' ( ४, ३, ५१, ५० )—इति कृषिः कृतः  
 'उत्सर्गुपमागतौ' ३ न दत्तान् ( अ० सं० ३, ५, ५, ३ )—एतत्  
 'भगवो न द्विषयः एव'—इति भाष्यः । भगवो इति तेनान्यत्र  
 मङ्गुलिनामतु ॥

"भगवंप्र."—इति पाठो घृणु इत्यं तापादुनमद्वयं  
 एतत् । निगमदर्शनाभिर्णवः ॥

(९) विरः । 'विरः प्रेजे ( अ० प० )' क्विप्, प्रेजेने पुङ्गे  
 कार्ण्येत् । "विरो न घृत्रा नियुये जनानाम् ( अ० सं० ६, ४,  
 ३५, ३ )"—इति निगमः ॥

(१०) कक्ष्याः । "क्ष्यात्कक्ष्याः ( अ० सं० ८, ४, ३०, २ )  
 —इत्यत्र 'कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि ( निघ० ३, ६ )—इति  
 भाष्यम् । कक्ष्याः प्रकाशयन्त्युत्तुष्टानकृतेन कृतेन वा कर्माणि  
 'छपातेः कक्ष्यशब्दनिर्घञम्'—इति स्कन्दस्वामी । 'गाहते कक्ष  
 इति नामकरणः छपानेर्वा ( निघ० २, २ )—कक्ष्यशब्दनिर्घञ्कारं  
 भाष्ये स्कन्दस्याभिप्रण्यः—'ख्या प्रकथने ( अ० प० )—इत्य-  
 स्मात् सप्रत्यये निरर्थको निर्निमित्तकोऽसौ सः यकारकार्ण्यो-  
 लोपोऽभ्यासविकारश्च द्रष्टव्यः"—इति भयममिप्रायः—प्रत्येन  
 'घृणुवदिह.निक.मिक.पिभ्यः सः ( उ० ३, ५६ )—इति ख्यातेर्वाङ्मु-  
 क्तात् सप्रत्यये वाहुलकादेव द्विर्घञे हलादिशेषे ह्रस्वत्वे 'कुडोष्पु-  
 ( ७, ४, ६२ )' न भवति वाहुलकादेव, 'भभ्यास्ते. चर्च ( ८, ४,  
 ५४ )' इति चत्वम्, उत्तरस्य ख्या इत्यस्य यकारकार्ण्योलोप-  
 'खरि च ( ८, ४, ५५ )—इति चत्वम्, 'आदेशप्रत्यययोः ( ८

३, ५६ )—इति पत्यम्-तः, एकघनेन प्रकाशनं लक्ष्यते । अंसेन नित्यं प्रच्छादनात् प्रकाश्यते पुरुषेण । कसौ याद्वुतलम् । 'तत्र भवः ( ४, ३, ५३ )'—इत्यर्थे 'शरीरावपघाघ ( ४, ३, ५५ )'—इति यन्प्रत्ययः । अङ्गुल्योऽपि परम्पस्या कश्चे भवा इति वक्तुं शक्यते, अंसेन नित्यं प्रच्छादितत्वात्, प्रकाशो हि सर्वदा कक्ष्यः, तत्र भवाः, अङ्गुलयस्तद्वन्तः प्रकाश्याः किन्तु प्रकाशयन्ति कर्माणि अनुष्ठानेन फलेन धा, यथाचाधारस्थिते अरणी धातना प्रकाश्ये तत्र भवोऽग्निः प्रकाशको भवति तद्वत् । यदुधा, कक्ष्या रज्जुः तद्व्यन्धनसाधनत्वात् कक्ष्याशब्देनोच्यन्ते । "परिष्वक्तञ्च दशकक्ष्यातिः ( ऋ० सं० ८, ५, १६, ४ )" — "दशाघनिभ्यो दशकक्ष्यैभ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )" —इति च निगमौ ॥

(११) भवन्तः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु ( १ अ० १ ख० ६ ) । भवन्ति कर्माणि, अघ्नन्ते धा । "सनात् सनीला भवनी र्वातः ( ऋ० सं० १, ५, २, ५ )" — "दशाघनिभ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )" —इति च निगमौ ॥

(१२) हस्तिः । व्याख्यातं वदीनामसु । ( १ अ० १३ ख० १२ ) हस्त्यामिः पदार्थात् "ए तं त्वं हस्तिो दश ( ऋ० सं० ६, ८, २८, ३ )" —इति निगमः ॥

(१३) स्वसारः । स्वशब्दे उपपदे 'असु क्षेपमे ( दि० प० )' —इत्यस्मात् 'सापसे अन् ( उ० २, ८६ )'—इति अन्प्रत्ययः सुष्टु भस्यते क्षिप्यते पदार्थं धामिः, फाट्टेषु क्षेतव्या धा । यद्वा,



स्वशाब्दे उपपदे 'पद्भुलु विशारणे ( भू० प० )'—इत्येसात् बाहु-  
 काद् बाहुलकान् टिलोपधे । 'स्व स्व व्यापारं गच्छन्ति प्राप्नु-  
 वन्ति, स्वसिन् स्वसिन् हस्ते सीदन्तीति वा । यद्वा, परस्पर-  
 मग्निनीच इत्यन्ते, एकइस्तमवत्त्वात् स्वसार उच्यन्ते ।  
 पद्स्वस्त्रादिभ्यः ( ४, १, १० )'—इति खोप्रत्ययनिघण्टुः ।  
 'दुवस्यन्ति स्वतारो अर्हयाणम् ( ऋ० सं० १, ५, २, ५ )'—इति  
 निगमः ॥

( १४ ) जामयः, सनामयः । अनगोत्थोऽनुसन्धेयः ।  
 जमतेर्गन्तिकर्मजः ( निघ० २, १४ ) 'जनिघसिम्यामि० ( उ० ४,  
 १२६ )'—इति बाहुलकादिण्प्रत्ययः । 'अलिशालेपलिघसिजम्  
 जिगिभ्य इण्'—इति धीमोत्रदेवः । जनन्ति गच्छन्ति कर्माणि  
 प्रति अस्त्याभिरादीनि वा । जनेरेव वा बाहुलकशकारस्य  
 मकारः, जाताः स्वकारणात् । "त्वं सानायधि जामयः ( ऋ०  
 सं० ६, ८, १६, ५ )"—इति निगमः ॥

( १५ ) सनामयः । 'णह यन्धने ( दि० उ० )' 'नहो मत्स्य  
 ( उ० ४, १२२ )'—इति इण्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः । नहतेऽन्ता  
 गर्म इति नामिः, समाना नामिरासामिति सनामयः । उयोतिर्त्रि-  
 षपदेऽन्यसात् सदशाद्भ्य समायः । समाना हि मानुर्नामिस्तासाम्,  
 समा नामिः मूचनासामिति वा । "सनामयो पात्रिनपूर्वपन्ति  
 ( ऋ० सं० ७, २, २५, ४ )"—इति निगमः ॥

( १६ ) योक्त्राणि । ( १७ ) योक्त्राने । 'युक्तिर् योको  
 ( ऋ० उ० )' । 'दात्रोपारायुयुर्नस्नुनुदति ( ३, २, १८२ )'—इति

द्वन्द्वप्रत्ययः पूर्वत्र । 'युच् बहुलम् ( उ० २, ७४ )'—इति युच् ।  
युञ्जन्ति परार्थानाभिरिति, युक्ता वा हस्तेन, संयम्यते आभिः,  
क्लेशदय इति वा । शब्दस्वामाख्यात् नपुंसकलिङ्गता ।  
“दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )”—  
इति निगमः ॥

(१८) ध्रुः । धूर्वतेर्वाधकर्मणः ( निघ० २, १६ ) कर्त्तरि  
क्विप् ( ३, २, १७९ ), राहोपः ( ६, ४, ११ ) इतिषलोपे रेफस्य  
विसर्जनीयः, जसि ध्रुः । धूर्वन्ति घ्नन्त्युपक्षयन्ति कर्माणीः  
त्यर्थः । हिंसन्ति परानाभिरिति वा । धारयतेर्वा औणाः  
दिके क्विप् बाहुल्यकात् आकारस्य उकारः । अङ्गुल्या हि  
धाव्यं सुघर्णादि धारयति । “दश धुरो दश युक्ता षट्दम्ब्यः  
( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )”—इति निगमः ॥

(१९) शाखाः । 'अशू व्याप्तौ ( स्वा० आ० )' कस्तात्  
अशूत्यये विभृते 'अश्रोतेर्ङित्'—इति धीभोजदेदेन अशूत्यये  
शाखशब्दो व्युत्पादितः । व्याप्तं हि सधम् । अशब्दाधिकरणे  
उपपदे शोतेः 'अधिकरणे शोतेः ( ३, २, १५ )'—इति अच्प्रत्ययः ।  
अङ्गुल्यो हि हस्ताप्रमाणात्थान् स्ये आकारो शोते व्यतिष्ठन्ते  
आकारास्यायकाररूपत्वात् उपपन्नं हि तत्र शयनम् । अशयाः  
सत्याः पृषोदरादिस्थात् ( ६, ३, १०६ ) यकारलोपेन शकारा-  
कारयोः सघर्णादीर्घत्वे अशा इति भवति, ततोऽक्षरद्वयस्य स्थान-  
विनिमयः, टाप्, शास्ता । अश्रोतेर्वा पचाद्यचि ( ३, ३, १३४ )  
उपधादीर्घः, फकारस्य लकारश्च । अङ्गुधन्ति हि ता अङ्गुल्य-

पुस्तकादि धारयितुं कार्याणि कर्तुं वा । यद्वा, 'शब्दिभ्यो  
(भू० ५०)' पचाद्यच् (३, १, १३४) । 'शास्त्रान्ति ध्याप्युवन्ति  
कर्माणि । यद्वा, 'शीङ् ख्ये (अंवा० आ०), संसंत्  
'दृक्षांघ्यवाद्य'—इति खप्रत्ययो षांडुलंकात् हस्तावयवेऽपि

भवति । शेरतेऽपतिष्ठन्ते आसु नखादयः इति शाखाः । 'शतेष्वि  
षा'—इति श्रीभोजदेवः, खप्रत्ययोऽधिहृतः, इकारादेशस्य विर-  
ल्पितत्वात् पक्षे शाखानिष्पत्त्या शाखास्यानीयत्वाद्वा शाखा  
इष्यन्ते । तथाचामरसिंहः—'अङ्गुल्यः कथ्याणां स्युः (३, ६,  
८२)'—इति । 'हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ६,  
३५, ७)'—इति निगमः ॥

(२०) अभीशचः । ध्याख्याता रश्मिनामसु (१ मं  
५ ख० ५) । अभ्यश्नुवते कर्माणि, अभीशते वा कर्माणि कर्तुम् ।  
'देशाभीशुभ्योऽर्चता जरभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)'—इति  
निगमः ॥

(२१) दीधितयः । ध्याख्याता रश्मिनामसु (१ मं ५ ख० ६) ।  
भंगुरीयकादिधारणाद् दीप्यन्ते । दीप्यन्ति क्रीडन्त्यामिरिति वा  
दधातेऽयुंत्पन्नो दीधितिशब्दः । "अग्निं नरो दीधितिभिररण्योः  
(ऋ० सं० ५, १, २३, १)"—निगमः ॥

(२२) गमस्तयः । ध्याख्याता रश्मिनामसु (१ मं ५ ख० ७)  
शृण्वन्ति पदार्थानामिः पुरुषाः इति गमस्तयः । "दीप्यते मघोऽशुः  
'गमस्तिमिः"—इति निगमः ॥

"सुदस्त्वः"—इति केचिन् ।

० एतस्य स्थाने "संस्तुतः"—इति च केचित् पठन्ति । साध्वं-  
 ध्याख्याता नदीनामसु ( १ भ० १३ ख० १६ ) । संसरन्ति सह  
 गच्छन्ति कर्मानि प्रति सङ्गता धा । स्पष्टनिगमदर्शनाभिर्णयः ॥  
 इति द्वाविंशतिरङ्गुलिभामानि ॥५॥

वश्मि (१) । उश्मसि (२) । वेति (३) ।  
 वेनति (४) । वेसति (५) । वाञ्छति (६) ।  
 वष्टि (७) । वनोति (८) । जुपते (९) ।  
 हर्यति (१०) । आचके (११) । उशिक् (१२) ।  
 मन्यते (१३) । छन्त्सत् (१४) । चाकनत् (१५) ।  
 चकमानः (१६) । कनति (१७) । कानिपत्  
 (१८) । इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

'कान्तिकर्माणः ( विद० ३, ६, )—इच्छार्पां घातयः—

(१) वश्मि । 'घश कान्तौ' रुदादिः परस्मैपदी । लडुत्त-  
 मैकषदनम् । "तदहं वश्मि पयमान सोम ( ऋ० सं० ७, ४,  
 ६, ४ )"—इति निगमः ॥

(२) उश्मसि । पशेर्लृत्तमपुरुषदृषच्चने मसि 'सार्वधानु-  
 पमपित् । ( १, २, ४ )—इति डिटुषद्वाधात् 'महिउथा ( ६, १, १६ )'  
 —इत्यादिना सम्प्रसारणम् 'इदन्तो मसिः ( ७, १, ४६ )—इति

एकाः । "ता वा वाग्भ्युस्मसि गमन्ते (श्र० सं० २, २४, ६)"—इति निगमः ॥

(३) धेनि । धी गतिवृत्तकाल्परजनकात्वेन अर्थात् परमैपदी । "धेनि होइगुण पोर्व वत्तत्रा (श्र० सं० १, १, २४, ४)"—इति निगमः ॥

(४) येनति । नैरक्तो धातुः । "पुणानाँ मनु केन्ति (श्र० सं० ८, ६, २३, १)"—"नासत्यामा पि येनतर् (श्र० सं० ४, ४, १६, २)"—इति च निगमो ॥

(५) धेसति । भयमपि नैरक्तो धातुः । "धियाति"—इति पाठान्ताम् । निगमदर्शनाधिष्ठितः ॥

(६) धाञ्छति । 'धाञ्छि इच्छायां मीयादिकः (प०) । धियास्त्या सर्वा धाञ्छन्तु (श्र० सं० ८, ८, ३१, १)"—इति निगमः ॥

(७) ध.ए । धतोः परस्मैपदप्रथमपुरुषैक्यचनम् । "समो गा भजति यस्य ध.ए (श्र० सं० १, ३, १, ३)"—इति निगमः ॥

(८) धनोति । 'धनु धायने' तनादिः (प०), अनेकार्थत्वात् शान्नामत्र काल्त्वर्यः । एवमन्यत्रापि । "स्वाइं यदेक्य परमं धनोपि तत् (श्र० सं० १, २, २४, ४)"—इति निगमः ॥

(९) धुपते । 'धुपो प्री.तेसेवनयोः' नुदादिरात्मनेपदी, भत्र कान्तिकर्मा । "त पुष्टिं याति जोषमा चिकिरपान् (श्र० सं० १, ५, २४, ५)"—इति निगमः । 'धुपते ह्यति इति पाठान्ताम्'—इति स्पन्दस्याभिभाष्यम् ॥

(१०) हर्षते । 'हर्ष गतिकान्त्योः' भूवादिः परस्मैपदी ।  
'सा लुपाणो हर्षति जातवेषः (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)" इति  
निगमः ॥

(११) आचके । 'चक हामी' भूवादिरात्मनेपदी, छडु-  
सप्तपुरुषैक्यचनम् । "अनम्योज आचके (ऋ० सं० ३, ४, ६, ५)"  
—इत्यत्र 'क,मैर्लिटि उत्तमे इटि मलोप'छान्दसः'—इति भानु-  
दत्तः । "त्वानिवस्युरचके (ऋ० सं० १, २, १६, ४)"—इति  
निगमः । "यस्ते श,दृद्यमाचके (ऋ० सं० ६, ३, ४२, ५)"—इति  
तु 'लोपस्त आत्मनेपदेषु (३, १, ४१)' । यथाहृष्टं पाठः ॥

(१२) उशिक्ष् । यष्ः 'यशः कित् (उ० २, ६८)'—इति  
चिकृप्त्ययः, कित्त्वान् सम्प्रसारणम् । "उ शिक् पापको  
अरतिः समेषाः (ऋ० सं० ७, ८, २६, १)"—इति निगमः ॥

(१३) मन्यते । 'मन हानि' दिवादिरात्मनेपदी । "आध्र-  
श्चिय मन्यमानस्तुरह्यन् (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)"—"यदि  
मन्येतोपमुस्य मेल्यीदने"—इति च निगमौ ॥

(१४) छन्दस्सन् । 'छन्दे संवरणे' चूरादिः । पञ्चमलकारः,  
नित्, 'लेटोऽडाटी (३, ४, १४), 'सिन्वहुलं लेटि (३, १ ३४)'  
'इतश्च लोप' परस्मैपदेषु (३, ४, १७)' । 'वृषा छन्नुर्मचते  
हर्षतः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इत्यत्र मन्यते छन्नुस्सन्  
आकनन् इति फान्तिवर्मन्तु पाठान्, 'तदिन्मे छन्नुस्सद् धनुषः  
(ऋ० सं० ७, ७, २६, ३)"—इति प्रयोगदर्शनाच्च छदिः  
कान्त्ययः'—इति स्वन्दत्यामिमोष्यम् । 'दरेचताय' छन्नुस्सन्

(श्र० सं० २, १, २१, ६)”—इति, : “कं० छाप्रसुः कर्त्तुः  
(श्र० सं० ८, ६, २६, ६)”—इति च निगमौ ॥

(१५) चाकनत् । ‘कनी दीतिकान्तिगतिषु (भू० प०)  
यद्गुगन्तः । ‘नुगतोऽनुनासिकान्तस्य न भवति, ध्यत्ये  
पञ्चमलकारः, ‘लेटोऽट्टाट्टौ (३, ४, १४)’ इत्यथ श्लोकः पारम  
पदेषु (३, ४, १०)’ । “दृष्टोऽिन्द्रस्य चाकनत् (श्र० सं० ६, २,  
३८, १)”—“ये निः शचिष्ट चाकनत्”—इति च निगमौ ॥

(१६) चकमानः । ‘चक कृमौ’ भूवादिरात्मनेपदी।  
‘ताच्छील्यययोषचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२८)’ । ‘चक  
मानः पिबन्तु दुग्धमशुम् (श्र० सं० ४, २, ७, १)”—इति  
निगमः ।

(१७) कनति । ‘कनी दीतिकान्तिगतिषु (भू० प०)’ भूवादिः  
परस्मैपदी । “मानत् कनति हुदतम्”—“इन्द्रः सोमस्य कापुका  
(श्र० सं० ६, ४, २६, ४)”—इति च निगमौ ॥

(१८) कानिपत् । कनतेर्लेटि परस्मैऽदप्रथमपुरुषैकपचने  
सिच्यह्रलं लेटि, इडागमः, उपधावृद्धिर्वाह्रलकात् इकारलोपः  
पूर्ववत् । “भग्नो तृतीये सचने हि कानिपः (श्र० सं० ३, १, ३७  
५)”—इति निगमः

इत्यष्टादश कान्तिकर्माणो धातवः ॥ ६ ॥

अन्यः (१) । वाजः (२) । पयः (३) ।  
प्रयः (४) । पृक्षः (५) । पितुः (६) । वयः (७) ।

सिनम् (८) । अवः (९) । क्षु (१०) ।  
 धांसिः (११) । इरा (१२) । इला (१३) ।  
 इपम् (१४) । ऊर्क् (१५) । रसः (१६) ।  
 स्वधा (१७) । अर्कः (१८) । क्षद्म (१९) ।  
 नेमः (२०) । ससम् (२१) । नमः (२२) ।  
 आयुः (२३) । सूनुता (२४) । ब्रह्म (२५) ।  
 वर्चः (२६) । कीलालम् (२७) । यशः (२८) ।  
 इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

(१) मन्धः । 'अन्ध इत्यन्तनाम । आध्यानीयं भवति (निद०  
 ५, १)'—इति भाष्यम् । 'आमिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं  
 प्रीतिः शरीरस्थितेभ्य तदायत्तत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी । आङ्-  
 पूर्वात् ध्यायनेरसुनि षाहुलकात् यकाराकार्योर्लोपः, उपसर्गस्य  
 ह्रस्वस्य नुङ्गागमश्च घातोः । यद्वा, 'अद् भक्षणे (अदा० प०)  
 —इत्यस्मात् 'अदेर्नुम् घञ (उ० ४, २००)'—इति कर्मणि  
 कर्त्तरि घा कारके भसुनि नुमागमो घकारध्वान्तादेशः । अजते  
 षानिभिः, तान् वा ख्यमसि । तथाच धृतिः—'अजतेऽस्ति च  
 धृतानि (सि० उ० २, २)'—इति । 'अनित्यनेनाद्यः,—इति  
 क्षीरस्वामी । अनितेरसुनि षाहुलकात् घुगागमः । अनित्यन्त्



दि प्राणनम् । "मामप्रेमिः सिञ्चता मय मन्थः" ( ष  
२, ६, १३, १ ) — "न्द्रेदि मत्स्यन्धसः ( ऋ० सं० १, १  
१ ) — इति च निगमो ॥

(२) घाजः । 'यज गतो (भू० प०)' । 'अकर्त्तरि क  
सप्रज्ञायाम् ( ३, ३, १६ )' — इति घञ् । 'अजियत्योश्च ( ऋ  
६० )' — इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कुस्वामावः । क्य  
सत्र न्यासफारः — 'चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्देशेपि कुस्व  
प्रतिषेधः सिद्धो भवति घाजः' इति । निगम्यते, अमिगन्त  
दि सत्सर्वैः । गच्छत्यनेनादत्तेन सुखानि, मुक्तेन वृत्तिं क  
गच्छत्यनेन शुद्धेन सत्वशुद्धिं भोक्ता । यदाहुः — 'आहारशुद्धौ  
सत्वशुद्धिरिति । यदा, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, जानात्यनेन मुक्ते  
धर्मम् । 'दश धर्मान् विजानन्ति धृतराष्ट्रं नियोध तान् । मत्  
प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥' — इति धीमद्व्यास  
सम् । सर्वशास्त्रनामसु गत्यर्थाद्बुद्ध्युत्पादितेष्वेवमर्थो बोद्धव्यः ।  
"सुतानां घाजिनीधसू ( ऋ० सं० १, १, ३, ५ )" — अन्वय  
"घाजं हवनस्यदं रथम् ( ऋ० सं० १, ४, १२, १ )" — इति च  
निगमो ॥

(३) पयः । व्याख्यातं रात्रिनामसु पय इत्यत्र ( निर० २  
५ ) । यदा, 'अय पय गतो (भू० आ०)' — इत्यस्मादसुन् । पीयते  
द्वयं । सद्धि चतुर्विधम् पेयचोप्यलेखचर्व्यभेदेन । 'घर्दन्ते हि  
सेन मुक्तेन । 'जातान्यन्तेन घर्दन्ते ( तै० उ० २, २ )' — इति  
सुतिः । "पयस्वान्न आगृहि ( ऋ० सं० १, २, १२, ३ )" — इति

इत्यप्यस्य विधानः—(ऋ० सं० १, ५, ३७, ३)—इति च निगमः ॥

(५) प्रयः । व्याणशतमुदकनामसु ( १ अ० १२ ख० ३७ )  
‘उपययोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, ३, ४)’—‘तुराय प्रयोन हमि  
त्तोमं माहिनाय (ऋ० सं० १, ४, १७, १)’—‘प्रयस्वन्तः प्रति  
र्षाम.सि त्वा (ऋ० सं० ८, ६, १२, ३)’—इति च निगमाः ॥

(६) ध्रुवः । ‘ध्रु ध्रुवणे (भू० प०) । कर्मग्यसुन् । ध्रूयते  
प्रभं चर्ष्यमानं ध्रुवो यशः । तद्धर्मात्तान्छ्रयं वा । “सत्यश्चिन्न  
प्रशस्तनाः” “मत्तं दधामि ध्रुवसे दिवे दिवे (ऋ० सं० १, २,  
१३, २)’—“अभिध्रुव ऋन्वन्तः (ऋ० सं० ४, ७, १, ३)’—  
इति च निगमाः । “उप प्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, २,  
३)’—इत्यादिषु निष्करीकायां स्कन्दशामिना प्रय इत्यधना-  
वेत्युच्यते । तथाच ‘अक्षिति ध्रुवः (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)’—  
इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये, ‘ध्रुव इत्यधनाम्’—इति स्पष्टमुच्यते ।  
नेष्करीकायान्मथया ( निद० १०, ३ ) । अतः प्रयध्रुवः-  
प्रशरोः उमरोऽप्यधनामत्वं स्पष्टम् । सर्वैकत्वस्य पाठो विद्व-  
द्भेनिर्णीयताम् ॥

(७) पृथः । ‘पृथी सम्भर्के (द० प०) । औष्णिके किपि  
शतोः कुगागतः । सम्भृकं हि तज्ज्ञातुमिः । पृथतिर्दानार्थं इति  
श (भदा० भा०) । “वागे तप प्र पृथती (ऋ० सं० १, १, ३,  
४)’—इत्यादी माषवेनोक्तम् । तत्र किपि बाहुलकाद्दोषः ।  
क्षिपते ह्यधमर्षिभ्यः । “त्रिः पृथो अस्त्रे अस्त्रेय पिन्युत्वम् ।

(शु० सं० १, ३, ४, ४) - इत्यत्र 'सन्वत्सामिमाष्यम  
 भद्रनामैतत् पडन्ति । "पृष्ठो मारुत धाम् (अ० सं० ४,  
 ६)" - इत्यादिषु पदुयमनागतस्य सामानाधिकरण्यात्  
 पचनान्नं द्रष्टव्यम् - इति । "मग्निं विद्या' मग्निं पूषं'  
 (शु० सं० १, ५, १६, २)" - "पृष्ठो पदुतमग्निता (अ० सं०  
 २, ६)" - इति च निगमौ । "त्यंशुर्दो मारुतं पृष्ठं शिने'  
 (सं० २, ५, १८, १)" - इत्याशौ तु पृष्ठ्येकवचनास्तामपि इह

(६) पितुः । 'वा रक्षणे (अदा० प०)' । 'कमिनित्तं  
 मायागापाहिन्पद्य (उ० १, ७०)" - इति तु प्रत्ययो बाहुल्यकारि  
 कारः । रक्षितव्यं लक्षम् । प्यायतेर्बाहुल्यकार्त्तुप्रत्ययो धर्तु  
 पिमावद्य । "पितुं तु स्तोत्रम् (अ० सं० २, ५, ६, १)" -  
 प्रमन्दिने पितुमदर्चना पत्रः (अ० सं० १, ७, १२, १)" - इति  
 निगमौ ॥

(७) धवः । 'धो गतिप्रजनकान्त्यशनखत्तनेषु (अदा० प०)' ।  
 धसुन् । गत्यादिसर्धोऽप्यर्थोऽत्रानुगुणः 'कारकमेदेन । धव  
 गती (भू० आ०)" - इत्यस्माद्धसुन् वा । "इहदस्मै धव इदो  
 दधाति (अ० सं० २, १, १०, २)" - "परि धंसमोमन वां धव  
 गातध (अ० सं० ५, ५, १६, ४)" - इति च निगमौ ॥

केचिदस्य स्थाने "सुतः" इति पठन्ति । तत्र 'धूम प्रावि-  
 प्रसवे (अदा० आ०)' । 'तातथातलातसुत' - इत्यादिना कप्रत्ययः  
 पूषो हस्यस्यञ्च निपात्यते । सूयते 'धृष्ट्या । "बादित्याज्जायते  
 धृष्टिर्धृष्टेरञ्च' ततः प्रजाः" - इति हि स्मृतिः (मनुः १, ७६) । यद्वा,

‘सु पृ गती (मू० प०)’—इत्येतदुच्यते निपातनम् । निगमोऽन्ये-  
 र्थीयः ॥

(८) सिनम् । ‘सिन् वच्यो (स्वा० ऋषा० उ०)’ । ‘इण्-  
 सिप्रदोऽङ्ग्यपेभ्यो नङ् (उ० ३, २)’ । ‘सिनाति भूतानि’—इति  
 भाष्यम् । ‘सिनाति यजाति क्षुधा विनश्यन्ति भूतानि धारयति’  
 —इति स्कान्दस्वामी । सीयने भनेनेति वा । भनेनेन हि भृत्यादयो  
 यजन्ते । ‘येन सासिनं मरथः स येभ्यः (श्रु० सं० ३, ४, १, १)’  
 —इति निगमः ॥

(९) भवः । ‘अथ रश्मिगतिर्नीतिरुप्यथगमप्रवेशप्रथमस्या-  
 म्यसामर्षवाचनक्रियेऽङ्गदीप्त्ययाऽद्यालिङ्गनर्हिसादानमागृह्यिषु  
 (मू० प०)’ । भवत् २ । घात्वर्थेण योगः सर्वाङ्गीकर्तव्यः । “ययत्  
 म्प्रणयवसागम्” — ‘भद्रिर्नितोऽयसा येनु घोतिम् (श्रु० सं० १,  
 ५, २, ५, ४)’ —इति निगमो ॥

(१०) क्षु । ‘हृ क्षु रुदे (ऋदा० प०)’—‘सि निधासगत्योः  
 (तु० प०)’ । ‘क्षुनेष्ट-वा ऋष ( उ० १, ३२ )’—इति विधीय-  
 मानो इत्युच्यते यथा वाहुलकादाभ्यामपि भवति । क्षुयते शब्दते  
 एतोवृमिः स्तूयते देवतात्पादन्नं सूतादिभिः गुणवत्तया वा  
 लोकेः, निवसत्यनेन वा । “यं घात्रस्य क्षुमतो रायईशिते (श्रु०  
 सं० २, ५, १५, ५)” — “आ नू न इन्द्र क्षुमतम् (श्रु० सं० १,  
 ५, ३७, १)” —इति च निगमो ॥

(११) घासि । ‘प्लुगिगुदिकुविभ्यः वित्तः ( उ० ३, १५१ )’  
 —इतिवाहुलकात् घात्रोऽपि भवति, वाहुलकादेष इत्थं च

भवति । दीयते ऽर्घिम्यो धारयति प्राणान् घ ॥ विद्वत्कार  
तनयाय धासिम् ( ऋ० सं० १, ५, १, ३ ) - मत्र घासि  
रघनाम इह तु पयस आसन्नकारणत्वात् गोषु ऽस्त्युक्तं - वि  
स्कन्दस्वामी ॥

(१२) इत् । व्याख्यातं नदीनामसु ( १ अ० १३ व० १५ ) ।  
(१३) इत् । इत्यते दीप्यते भुक्तेन जाडरोऽग्निः क्षिप्यते  
उदरे, स्वपत्यनेन भुक्तेन न हि बुभुक्षितस्य भिदास्ति । इत्स्य  
इत्तां सवीरा मा यजामहे ( ऋ० सं० १, ३, २०; ४ ) -  
निगमः ॥

(१४) इप् । 'इप् इच्छापार ( तु० प० )' । भीष्मा  
किप् । इप्यत इति । यदुषा, 'इप् गतो ( दि० प० )' । वि  
वेदे प्राचुर्येण दर्शनाद् द्विदत्तोदैक्यवदान्तम् । 'इप्' एतेद  
आमर ( ऋ० सं० ३, ८, २२, १ ) - "मग्निना वाप्यतीति  
( ऋ० सं० १, १, ५, १ ) - इति च निगमो ॥

(१५) ऊर्क् । 'ऊर्गित्यधनाम । ऊर्गदतीति' सतः, वा  
सुप्रवृक्तमिति वा ( निरु० ३, ८ ) - इति माध्यम् । 'ऊर्गदतीति'  
मयत्यति प्राणयति वरयन्त प्राणयन्त वा करोतीत्यर्थः । 'ऊर्गमि  
वा' पदस्यस्य पकारलोपं हरया वरयन्तं धारय वकारलोपी  
इने दगागमे षोर्गिति भवति । 'सुप्रवृक्तमिति वा' इत्ये  
ष्यत्प्रोवे इने, संयोगादिप्रोवे इने, मकारलोपेति' इति इने  
च इने ऊर्गिति भवति । सुप्तिपदं हि तद्वचसि श्रुत्यात् -  
इति स्वप्त्यामिष्यत् । 'ऊर्ग' इति प्राणयते जीवोऽर्था - इति

। हृते ऊर्गिति भवति । सुष्टिष्वद् हि तद्भवति मृदुत्वात्—इति कन्दस्यामिग्रन्थः । ‘ऊर्ज्यते प्राण्यते जीव्यतेऽनया’—इति महामास्करमिश्रः । अत्र ‘ऊर्ज्यते प्राण्यते जीव्यतेऽनयाः (चु० प०)’ इत्यस्मादेव रूपे क्विप् । “यंसि त्मनमूर्जं न विभवध क्षरथ्यै (ऋ० सं० ८, ५, ५, ३)”—इति निगमः ॥

(१६) रसः । व्याख्यातमुदकनामसु ( १ अ० १२ ख० ३५ ) । “महे यत् पित्र ईं रसः दिवे कः (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)”—इति निगमः ॥

(१७) स्वधा । स्वशब्दे उपपदे दधातेः ( जु० उ० ) ‘गेहे कः ( ३, १, १४५ )’—इति कप्रत्ययो षाहुलकाद् भवति । स्वेभ्यो दीयते स्वस्मिन् धीयते धा, स्वेन धनेन धीयते धा । “विश्वा हि माया अषसि स्वधा घः (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)”—“भाद्रह स्वधामनु (ऋ० सं० १, १, ११, ४)”—इति च निगमौ ॥

(१८) अर्कः ।

(१९) क्षत्र । व्याख्यातमुदकनामसु ( १ अ० १२ ख० ३ ) । धुभ्रिवर्त्तनादिके स्वकार्ये स्त्रिं भवति, स्त्रियो भवत्यनेन भोकेति घा, “अहमभ्रमभ्रमदन्तमग्नि ( सा० सं० आ० १, ६ )”—इति ध्रुतिः । माघषपक्षे क्षत्रिण्यर्थः (सौ०), अक्षयते धुभ्रुक्षितैः । “स्याद् क्षत्रापो घसतो स्योनरुत्” —इति निगमः ॥

(२०) नैमः । ‘नीञ् प्रापणे ( भू० उ० )’ । ‘अर्त्तिस्तुसुद्-सुपृक्षिसुभायायापदियक्षिनीभ्यो मन् ( उ० १, १३७ )’ । नमयति सुगतिं दातारं, नीयते देहयात्रा भवेनेति घा ॥

“मेमा” — इति गकारान्तं नेतिच् पठन्ति । तदा ऋचुन्त्  
 मिधानन्तश्चादुषा मकारस्यैरान्त्राया ममावः । एवमेति  
 त्वात्वे वृत्तिकारेणोत्तम् । यदुषा, मनिनि करसिद्धिः ।  
 दर्शनाधिर्णयः ।

(२१) गमम् । ‘सस स्वप्ने ( मदा० प० )’ । पुंसि सञ्चार  
 षः प्रायेण ( ३० ४, ११८ ) । स्वपन्त्यनेन मुनेन, न हि मुनि  
 स्यानिनिंश स्त । “सन्नेन त्रिदुषिमदायावदो यमु ( ऋ० सं० ६  
 ४, ६, ३ )” — इति निगमः ॥

(२२) नमः । ‘णमु प्रहृत्ये ( भू० प० )’ । भसुर । उ  
 जातमाप्रभ्यो भूनेभ्यः पूर्वजन्मभूतकर्मवशान्, नभ्यने देवतात्वं  
 नमन्त्यनेन हेतुना तद्व्यन्तः प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा ।  
 षो महे महि नमो भरष्वम् ( ऋ० सं० १, ५, १, २ ) — “ए  
 षो अग्निं नमसा ( ऋ० सं० ५, २, २१, १ )” — इति च निगमौ

(२३) आयुः । अननं प्राणनमस्ति । “वाहि सदमिदु विभ्यु  
 ( ऋ० सं० १, २, २२, ३ )” — इति निगमः ॥

(२४) स्मृता । व्याख्यातमुपोनामसु ( १ अ० ८ ख० १४ ) ।

सुष्टु नयन्ति क्षुत्प्रयुक्तान् अर्घ्यते वा तदर्धिमिः । यदुषा, शोभ्य  
 नरः सुनरः ‘अन्येषामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )’ — इति दीर्घः, स्मृ  
 तायते विस्तीर्यते पुण्येन, ‘अन्येषामपि दृश्यते ( ६, २, १३७ )  
 — इति दीर्घः । वा टाप् । “पुरुणीधे जरते स्मृतावान् ( ऋ० सं०  
 १, ४, २५, ७ )” — “अभिना स्मृतावती ( ऋ० सं० १, २, ४,  
 ३ )” — इति च निगमौ ॥

(२५) वृद्धि । 'वृद्धि वृद्धि वृद्धौ ( भू० प० )' 'वृ हेनेलोपश्च  
४, १४१ )'—इति मन्त्रि । परिवृद्धं भवति सूर्यप्राणिभिः ।  
१ भुज्यमानमप्यनुपक्षीयमाणत्वात्, स्वभावतो वा परिवृद्धं  
२ जगतो भरणात्, घर्द्धन्तेऽनेन भूतानीति वा 'जातान्यन्नेन  
३ ( तै० उ० २, २ )"—इति धृतिः । "उष घृह्णाणि घाघतः  
० सं० १, १, ५, ५ )"—इति च निगमः ॥

(२६) घर्चः । 'घर्च दीर्घौ ( भू० आ० )' । असुन् । दीर्घिकरं  
शरीरादौ । "तमा संसृज घर्चसा ( ऋ० सं० १, २,  
३ )"—"सं माने घर्चसा सृज ( ऋ० सं० १, २, १२, ४ )"  
'आयुषा सह घर्चसा ( ऋ० सं० ८, ३, २७, ४ )"—इति  
माः ॥

(२७) कीलालम् । 'कल गती ( प० )' चीरादिकः, 'कील  
ले ( भू० प० )' 'कील खण्डने' । कील बन्धने इति  
रूपसौ सितवदर्थः । कील खण्डने इति तु सुच्छेदमित्यर्थः ।  
ने वा कीला जाडरानेर्त्याला, तां लाति 'कर्मण्यण् ( ३, २,  
१ )' । "कीलालये सोमपृष्टाय वेधसे ( ऋ० सं० ८, ४, २२, ४ )"  
इति निगमः ॥

(२८) यशः । श्याप्यातमुदकनामसु ( १अ० १२ ख० ५५ ) । यशो  
देदीप्यर्धान् । कीर्त्तिकरं चेति माधयः । तदा घर्चस्वदर्थः ।  
शोन पदं मधुगोष्यन्तरा ( ऋ० सं० ८, ६, २, ५ )"—  
'विद्युस्र यशस्पता ( ऋ० सं० ३, १, १६, ६ )"—इति निगमौ ॥

इत्यष्टादशतिरक्षनामानि ॥ ७ ॥



आवयति (१) । भवति (२) । वभस्ति (३) ।  
वेति (४) । वेवेष्टि (५) । अविष्यन् (६) ।  
वप्सति (७) । भसथः (८) । वधाम् (९) ।  
ह्वरति (१०) । इति दशात्तिकर्माणः ॥८॥

(१) आवयति । आहृष्यात् वेतेः (अदा० ५०) 'कुलं  
छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुगभावः । वभा-  
धेभू तन्तुसन्ताने (३०) भूयादिः, अनेकार्थत्वात् ष  
नामप्रात्तिकर्मण्यम् । एषमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । "आ तुः  
स षयति गव्यमश्व्यम् (ऋ० सं० ६, २, २, १०)"-  
इति निगमः ॥

(२) भवति । 'भवं हिंसायाम्' भूयादिः परस्मैपदी ।  
"पृथुन्यश्निरनुयाति भवं न (ऋ० सं० ४, ५, ८, २)"-  
"तेन सूभवं शतवत् सहस्रम् (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)"-इति  
निगमौ ॥

(३) वभस्ति । 'भस भर्त्सनदीप्सयोः' जुहोत्यादिः परस्मै-  
पदी । "हरी इधान्धांसि वप्सता (ऋ० सं० १, २, २६, २)"  
—इति निगमः ॥

(४) वेवेष्टि । 'विप्ल व्याप्तौ (जु० उ०)' । 'जुहोत्या-  
दिभ्यः श्लुः (२, ४, ७३)' । "स्वतैदयोयथातिथि ज्योतिष्व्या  
परिवेष्टि"—"यदा त्वा अतिथयः परिवेष्टि"—"मस्तः

परिवेष्टारः”—इति च निगमाः । प्रयोजकव्यापारे प्रयुक्तत्वात्  
निरूपणीयम् ॥

(५) वेति । वी गत्यादी अदादिः परस्मैपदी । “वीतं  
पात पयस उखियायाः ( ऋ० सं० २, २, २३, ४ )”—इति  
निगमः ॥

(६) अविप्यन् । अवतेर्बर्त्तमाने व्यत्ययेन लृट्, लृट्ः सद्वा ।  
“तृप्यविप्यन्तसेषु तिष्ठति ( ऋ० सं० १, ४, २३, २ )”—इति  
निगमः । अत्र च ‘अविप्यन्नत्तिकर्मा भक्षयन्नित्यर्थः’—इति  
स्कन्दस्वामी । तस्मादविष्टादिति पाठो न युक्तः ॥

(७) घप्सति । भसेः प्रथमपुरुषे बहुवचने ‘घसिभसोर्हलि  
च ( ६, ४, १०० )’—इत्युपधालोपे रूपम् । “दद्विर्वचनानि घप्सति  
( ऋ० सं० ६, ३, २६, ३ )”—इति निगमः ॥

(८) भसथः । भसेर्लृटि घसि ‘बहुलं छन्दसि ( २, ४, ७६ )’  
—इति शपः श्लुर्न भयति । “न देवा भसथश्चन ( ऋ० सं० ४,  
८, २५, ४ )”—इति निगमः ॥

(९) यधाम् । भसेर्लृटि तसस्तामि श्चौ द्विर्वचनान्तत्वा  
नित्यत्वान् उपधालोपः प्राप्नोति छान्दसत्वान्न, ‘घसिभसोर्हलि  
च ( ६, ४, १०० )’—इत्युपधालोपः । ‘धि च ( ८, २, २५ )’—  
इत्यादिसूत्रेषु सिचौ लोप इति पक्षे सकारलोपश्छान्दसः सकार  
मात्रलोप इति पक्षे ‘भल्लोभलि ( ८, १, १६ )’—इति सलोपः  
भस्त्वन्नश्च्ये । यधामिति पृथक्पाठे प्रयोजनं मृग्यम् । “यध  
ते हरीधाना”—इति निगमः ॥

(१०) हरति । इ, कौटिल्ये भूयादिः परस्मैपदी । “न-  
मतिष्ठद्भरणहरन्तमः (अ० सं० १, ४, १८, ५)” — “उ है  
यदुपरा अपिन्वन् (अ० सं० १, ५, २, १)” — इति निर्गमाः ॥  
इति दशाक्षिकर्माणः ॥ ८ ॥

ओजः (१) । वाजः (वा) पाजः (२) ।  
शवः (३) । तरः (४) । तवः (५) । त्वक्षः (६) ।  
शहर्धः (७) । वाधः (८) । नृम्णम् (९)  
तविपी (१०) । शुष्मम् (११) । शुष्णम् (१२) ।  
शूपम् (१३) । दक्षः (१४) । वौलु (१५) ।  
च्यौलम् (१६) । सहः (१७) । यहः (१८) ।  
वधः (१९) । वर्गः (२०) । वृजनम् (२१) ।  
ष्टक् (२२) । मज्मना (२३) । पौंस्यानि (२४) ।  
धर्णासिः (२५) । द्रविणम् (२६) । स्यन्द्रासिः  
(२७) । शम्बरम् (२८) । इत्यष्टाविंशतिर्यलना-  
मानि ॥६॥

(१) ओजः । व्याख्यातगुरुकनामगु (१ अ० २२ वा० ४३) ।  
वृजन्वयेन, वृजन्वयादिषु हि शब्देषु भवन्ति मीमांसा, मन्मन्-

त्यनेन वा शत्रून् । घर्द्धतेऽनेन ऐवर्ष्यादि, घर्द्धते व्यायामादिना ।  
 मावर्धान्तरावपि घृद्ध्यर्थेषु बोद्धव्यौ । 'उर्वधिकम्'—इति  
 माधवः । हिंस्यन्तेऽनेन शत्रवो वा । 'उपेर्जुट् च'—इति धीभो-  
 त्तदेवः । असुनि गुणः । ओपति दहति शत्रून् । "भोजसो  
 जातमुतमन्य एनम् ( ऋ० सं० ८, ३, ४, ३ )" —'घसूनि जाते  
 जनमान ओजसा (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)" —इति निगमौ ॥

(२) घाजः । व्याख्यातमश्रनामसु ( २ अ० ७ ख० २ ) ।  
 गच्छन्त्यनेन शत्रून् प्रति जिगीषयः । गम्यतेऽधिगम्यते व्याया-  
 मादिना यत्नेन । इमावर्धावुत्तरत्रापि गत्यर्थेषु बोद्धव्यौ । 'घाजो  
 यलं, घाजयतेः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः । अनेन शत्रून् प्रेरयति  
 विद्राययतीति । "परिघाजेषु भूषधः ( ऋ० सं० ३, १, १२, ४ )" —  
 इति निगमः ॥

पाजः । 'पा रक्षणे ( अदा० प० )' । 'पातेर्जुट् च'—  
 इत्यसुन् । बलेन हिंस्यते सर्वम् । "रुणुष्व पाजः प्रसिति न  
 पृर्ष्याम् ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )" —इति निगमः । "समि-  
 दस्य रशाददशि पाजः ( ऋ० सं० ३, ८, १२, २, )" —इत्यत्र  
 सन्द्स्वामिना 'पाजो यलम्'—इत्येतावदेवोक्तं न तु यलनामेति  
 घाजशब्दे तु 'परिघाजेषु भूषधः ( ऋ० सं० ३, १, १२, ३ )" —  
 इत्यत्र यलनामेतदित्युक्तम्, 'अत्यं न मिहे वि न्यन्ति घाजिनम्,  
 ( ऋ० सं० १, ५, ७, १ )" —इत्यत्र 'अत्यं न घाजं हवनस्यद्  
 रयम् ( ऋ० सं० १, ४, ११, १ )" —इत्यादौ च ऋक्भाष्ये  
 पाजशब्दोपरि 'अपि यलनाम्'—इत्युच्यते । अतो घाजपाज-

शब्दयोग्यायोरपि पञ्चानामर्थं शक्यम्, तत्रैकत्रयस्य चो  
पिद्वयद्विरधीयताम् ॥

(३) शयः । ष्याशशमुदकनामसु (१ अ० १२ न० ४)।

“मा भेम शयसस्यते (अ० सं० १, १, २१, २)”—इति निगमः ।

(४) सरः । ‘शू शयनतरणयोः (भू० प०)’ । असुन् ।

सरस्यनेन भाष्यम् । ‘यापसरो मयपन् यापदोजः (अ० सं० १, ३, २)”—इति निगमः ॥

(५) तथः । तथतिर्य्यधार्यः, असुन् । “अपादमिन्द्र तवसा

जयन्थ (अ० सं० ३, २, २, ३)”—“योगे योगे तवस्तम् (अ०

सं० १, २, २६, २)”—इति च निगमो ॥

(६) त्यक्षः । ‘तश्चू तनूकरणे (भू० प०)’ । असुन् ।

तनूक्रियन्ते तेन शत्रवः । “स प्र रिको त्यक्षसा रमो दिवश्च

(अ० सं० १, ७, १०, ५)”—इति निगमः ॥

(७) शर्द्धः । ‘शर्द्धतिरुत्साहार्यः’—इति स्कन्दस्वामी,

असुन् । शत्रुजयादायनेन उत्साहितत्वात् । “अत्रात्रिशर्द्धो

मरुतौयदर्णसम् (अ० सं० ४, ३, १५, ६)”—इति निगमः ॥

(८) वाधः । ‘वाधू विलोडने (भू० भा०)’ ‘अकर्त्तरि च

कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १६)”—इति घञ् । वाध्यतेऽनेन

शत्रवः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) नृमृणम् । ‘नृमृणं नृन् नतम् (निह० ११, ६)’—इति

भाष्यम् । ‘नृन् शत्रुभूतान् प्रति नमति, ष्यर्थो घा नमिः, नमयति

प्रहीकरोति’—इति स्कन्दस्वामी । ‘इन्द्रनृमृणं हि ते शकः

( ऋ० सं० १, ५, २६, ३ )—इत्यत्र ऋक्भाष्यम्—‘यस्माच्छ्रु-  
भूतानां मनुष्याणामपि नमनकरणं तव बलम्’—इति । स एव  
तत्र पृषोदपदित्वेन नूनमनशब्दस्य घर्णलोपादौ नृम्णमिति  
द्रष्टव्यम् । “ध्रयो नृम्णं च रोदसी सपर्यंतः ( ऋ० सं० ८, १,  
६, १ )”—“महिध्रयस्तुविनृम्णम् ( ऋ० सं० १, ३, २७, १ )”—  
इति च निगमौ ॥

(१०) तविपी । तविः सौत्रो धातुर्वृद्धयर्थः । तवेष्टिपन्-  
प्रत्ययः । टिश्वात् डीप् । “रुष्णा रजांसि तविपी दधानः  
( ऋ० सं० १, ३, ६, ४ )”—“शुष्माकमस्तु तविपी पनीयसी  
( ऋ० सं० १, ३, १८, २ )”—इति निगमौ ॥

(११) शुष्मम् । ‘शुष शोषणे ( दि० प्र० )’ । ‘अविसिचि-  
सिशुष्मिभ्यः किन् ( उ० १, १४१ )’—इति मन्प्रत्ययः । शुष्पस्यने-  
नादिः । ‘शुषिः प्रीणनार्यः’—इति माधवः । प्रियं हि बलम् ।  
‘शुष्ममिति बलनाम, शोषयतीति सतः ( निरु० २, २४ )’—इति  
भाष्यम् । ‘परस्परस्त्रायोगिकमपि बलं विशेषयति उपमेयतीत्यर्थः’  
—इति स्कन्दस्वामी । तत्र शोषयतेर्मनिन् ‘बहुलमन्यत्रापि  
सम्प्राच्छन्दसोः’—इति लुक् । “शुष्मा इन्द्रमघाता अहुतप्सवः  
( ऋ० सं० १, ४, १२, ४ )”—“यस्य शुष्माद्रोदसी अम्यसेताम्  
( ऋ० सं० २, ६, ७, १ )”—इति निगमौ ॥

(१२) शुष्णम् ।

(१३) शूष्म् । ‘शुष शोषणे ( दि० प्र० )’ । ‘पूष्मुयकलुप  
काण्यशौन्द्यादयः’—इत्यादिप्रहणात् ‘उयः प्रत्युपादयोऽपि भवन्ति’

—इति दण्डनाथवृत्तिः । उपप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्ये  
शुष्मवदर्थः । “इन्द्राय शूष मर्चति (ऋ० सं० १, १, १५४)”  
—इतमः सत्वभि योह शूषैः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)—इति  
निगमो ॥

(१४) दक्षः । ‘दक्ष शैर्घ्ये च (भू० आ०)’ चकाराद्दृशौ ।  
‘दक्ष गतिर्हिसनयोः (बु० घ० प०)’ । ‘दक्षतिस्त्साहार्यः’—इति  
स्कन्दस्वामी । असुन् । शत्रुविजये शिप्रो भवत्यनेन, हिसने  
षाऽनेन शत्रवः, प्रोत्साहितो वा भवति शत्रुविजये । ‘मित्रं दु वे  
पूतदक्षम् (ऋ० सं० १, १, ४, २)’—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी—  
‘दक्ष इति सकारान्तं बलनाम’ । अकारान्तमपि तस्यैवमर्थान्ते  
द्रष्टव्यम् । “जज्ञाना पूतदक्षसा (ऋ० सं० १, २, ८, ४)”—  
इति निगमः ॥

(१५) षीलः । षीलयति संस्तम्मकर्मा । ‘भृमूरीदृषा-  
स्सगितिनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)’—इति उपप्रत्ययो  
षाहुलफादसादपि भवति । संस्तम्भो दृढो भवति मनेन,  
संस्तम्बान्नेऽनेन शत्रव इति षा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) ष्यौषाम् । ‘ष्युद्गतौ (भू० आ०)’ । अन्तर्णोतण्यर्षो  
षा । ष्यपन्नि ष्यापयन्नि शत्रून्नेन राज्याम् । “प्रष्यौत्नेत  
मपया सत्पराषाः (ऋ० सं० ८, १, ८, ६)”—इति निगमः ॥

(१७) सहः । ‘सह मर्षणे (भू० आ०)’ छन्दस्यभिभवार्थाः ।  
। सहस्यनेन शत्रून् । “वे साहोति सहसा सहन्ते (ऋ०  
५, १, ८, ४)”—इति निगमः ॥

(१८) यहः । व्याख्यातमुदकनामसु ( १ अ० १६ ख० ४३ ) ।  
प्राप्यते आह्वयते वा अनेन शत्रुः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१९) घघः । 'हन हिंसागत्योः (भू० प०) । 'हनश्च घघः  
(३, ३, ७६)'—इत्यप् । हन्यतेऽनेन शत्रुः । निगमोऽन्वेषणीयः ।

(२०) घर्गः (२१) वृजनं । (२२) वृक् । 'वृजी वृजने  
(६० प०) । घञ् । 'कृपृवृजिमन्दिनिधाभ्रभ्यः वयुः ( उ० २,  
७६)' 'क्विप् च (३, २, ७६)' । वज्र्यन्तेऽनेन प्राणैः । "जरयन्ती  
वृजनं यद्वदीयते (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)"—"प्रतीचीनं वृजनं  
दोहसे गिरा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)"—इति च निगमौ ॥  
माध्यस्तु—'मथ्योदात्तन्तु वृजनं घत्तते वलयुद्धयोः । "वृजने न  
वृजिनान्तसम्पिपेव (ऋ० सं० ३, २, १६, १)"—"त्वं शुष्णं वृजने  
पृक्ष धाणौ (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)"—"जरयन्ती वृजनं (ऋ० सं०  
१, ४, ३, ५)" 'तु घत्तते उपद्रवे'—इति । तदन्वेषणीयो निगमौ ॥

(२३) मज्जना । तु मस्त्री शुद्धौ (तु० प०) । औणादिको  
मनिन् ( उ० ४, १४० ) । 'भ्रलां जश् भ्रशि (८, ४, ५३) चुत्वम्,  
तृतीयैकचनम् । मज्जयति शत्रून् । "नामा पृथिव्या भुवनस्य  
मज्जना (ऋ० सं० २, २, १२, ४)"—"स इन्महानि समिथानि  
मज्जना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)"—"चि रोदसी मज्जना थाधते  
शवः (ऋ० सं० १, ४, १०, ५)"—इति निगमः । निगमेषु तृती-  
यैकचनान्तस्य प्रायशो दर्शनात् तदन्तः पठितः ॥

(२४) पौस्यानि । 'पुं सि अमिबर्द्धने (प०) चुरादिः । अच्च्वा-  
दयश्च ( उ० ४, १०८ )—इति यत्प्रत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्यः ।



“पौंस्यानि नियुतः सध्वरिन्द्रम् (ऋ० सं० ४, ७, ५३)”—

“यस्मिन् विश्वानि पौंस्या (ऋ० सं० १, १, १०, ४)”—“मद्वत्स  
पौंस्यम् (ऋ० सं० १, ५, ३०, ५)”—इति निगमाः ॥

(२५) धर्णसि । ‘धृञ् धारणे (भू० उ०) । “सानसिबर्णसि  
र्णसि ( उ० ४, १०४ )”—इत्यसिप्रत्ययो नुमागमोऽपि निपात्यै  
गुणः । धियतेऽनेन राज्यादि । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२६) द्रघिणम् । द्रु गतो (भू० प०) । ‘दुदक्षिभ्यामिति  
( उ० २, ५२ ) । “सनो ददातु द्रघिणम्”—इति निगमः ॥

(२७) स्यन्द्रासः । ‘स्यदि किञ्चिच्चलने (भू० आ०) ।  
‘अन्धरन्धसिलिन्ध्रेध्रपुंङ्गुतीवृशीघ्रगोरुन्द्रामद्रस्यन्द्रकुलीरादयः’ ।  
रन्ध्रत्ययान्तो निपात्यते । तस्मात् जसेरसुक् ( ७, १, ५० )  
स्यन्दतेऽनेन शत्रून् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२८) शम्बरम् । व्याख्यातमुदकनामसु ( १ अ० १२ ख० ७ )  
संक्रियतेऽनेन शत्रुः, संवृणोति वा तत्क्षत आपदम् । शम्भन्मुष्प  
षाणामुत्कृष्टं च युद्धादौ, शम्भेनेन्द्रेणादीयते वा । यदापि  
देवताहीन्द्रः । ‘वा च का च यल्लृत्तिरिन्द्रकर्मिष तन् ( निर०  
७, १० )’—इति भाष्यम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्यष्टाविंशतिर्यलनामानि ॥६॥

मघम् (१) । रेक्णः (२) । रिकथम् (३) ।  
वेदः (४) । वस्विः (५) । श्वात्रम् (६) ।  
रत्नम् (७) । रयिः (८) । क्षत्रम् (९) । भगः (१०) ।

ष्वहुम् (११) । गथः (१२) । द्युघ्नम् (१३) ।  
 न्द्रियम् (१४) । वसु (१५) । रायः (१६) ।  
 धः (१७) । भोजनम् (१८) । तना (१९) ।  
 म्णम् (२०) । बन्धुः (२१) । मेधा (२२) ।  
 शः (२३) । ब्रह्म । (२४) । द्रविणम् (२५) ।  
 खः (२६) । घृत्रम् (२७) । घृतम् (२८) ।  
 इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥१०॥

(१) मघम् । मंहतिर्दानकर्मा ( प० ३, २०, १० ) । 'घञर्थे  
 विधानम् (३, ३, ५८ घा०)'—इत्यत्र परिगणितस्य प्रायिकत्वात्  
 अत्यये पूगोदरादिस्वात् लोपो हकारस्य घकारश्च । दीयतेऽधि-  
 यः । "तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)"  
 —"यदिन्द्र दक्षिणा मघोनी (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—इति  
 नेगर्मा ॥

(२) रेक्णः । 'रिचिर् चिरेचने ( ऋ० उ० )' । 'रिचिर्धने घिञ्च  
 ( उ० ४, १६४ )'—इत्यसुन्, नुडागमो गुणश्च, चित्त्वात् 'चञोः  
 कुमिण्यतोः ( ७, ३, ५२ )'—इति कुत्त्वम् । रेक्ण इति धननाम,  
 रिच्यते प्रयतः ( निरु० ३, २ )—इति भाष्यम् । रिच्यते अघतिष्ठते  
 प्रयतः घ्रियमाणस्य धनं धनिना सह न त्रियत इत्यर्थः । 'रेक्णो  
 धनं रच्यैः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः । प्रेर्यतेऽनेन दत्तेन

• निगमम् - निगमः •

भृश्यादिः कर्मणु । "त्पादे गत्रेकः परमं पतति तत् ( अ० सं० १, २, ३४, ४ )" — "पत्तिर्न शापस्य रेकः ( अ० सं० ५, ३, ६, २ )" — इति न निगमो ॥

(३) निगमम् । रिनेः ( अ० उ० ) 'पातुनुदिनिरिति' निगमस्य ( उ० २, ६ ) — इति शब्दः । पूर्ववदर्थः । "न ज्ञानो साक्षात्पर्युगमारैक् ( अ० सं० ३, २, ५, २ )" — इति निगमः ।

(४) वेदः । 'विदुन्त् सामे ( अ० प० )' । ममुन् । विदुन्त्येतत्, लभ्यते पाप्मेन घमादिः । "होतारं विश्वेदेन ( अ० सं० १, १, २२, १ )" — इति निगमः ॥

(५) परिषः । एम् परणे ( म्या० उ० ) अस्माद् यस्तुन्तात् अस्तुनि पादुल्कादिलोपः । भृशं त्रियते, परिवर्तौ हेतुत्वात् परिषः 'वित्तं यन्धुयंयः कर्म विद्या भवति पञ्चर्ना । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ( २, १३, ६ )' — इति मनुः । "युधा देवेभ्यो परिषध्कर्ष ( अ० सं० १, ४, २५, ५ )" — "अहो राजन् परिषः पूर्ये फः ( अ० सं० १, ५, ५, २ )" — इति निगमो ॥

(६) श्वाश्रम् । आशुशब्द उपपदे 'अत सातत्यगमने ( भू० प० )' — इत्यस्मात् आदित्यधिदसि' — इति ह्रस्वप्रत्ययः, षुश्रुत्त्वेन आशुशब्दश्च व्युत्पत्स्यते, यणादेशसवर्णादीर्घौ । 'आशु अतति आशु गच्छति, चञ्चलं हि धनम् । निगमोऽन्येवर्णायः ॥

(७) रत्नम् । 'रसु कीडायाम् ( भू० आ० )' 'रमेस्त व ३, १२)' — इति नप्रत्ययः तकारध्वान्तादेशः रमणीयं हि

क्तम् । 'रमतेऽस्मिन्'—इति क्षीरस्वामी । 'चित्ते रमस्य  
मन्वमानः'—इति भृतिः । "धा रज्" भदि स्पूर्ं पृहन्तम् (अ०  
सं० ४, ६, ८, ५)"—होतारं रज्जघातमम् (अ० सं० १, १,  
१)"—इति निगमौ ॥

(८) रयिः । व्याख्यातमुद्रकनामसु (१अ० १२ख० ७३) । गम्य  
प्राप्यते पुण्येन गच्छत्यनेन तृप्तिं भोगसाधनत्वात्, यशो वाऽ  
दत्ते, क्षीयतेऽर्थिभ्य इति धा । "भग्निना रयिमश्नयत् (अ० सं०  
१, १, १, ३)"—इति निगमः ॥

(९) क्षत्रम् । व्याख्यातमुद्रकनामसु (१अ० १२ख० ४५) । प  
जन्मसुश्रुतवशेन तद्धति स्थिरं भवति, श्रुतौ उपभोगसाधनत्वात्  
हितस्ति दाच्छिद्यम् । गतावपि शब्दवदर्थः । क्षतान् पाप  
प्रायते । क्षत्रशब्दान् प्रायतेश्च वृषोदरादित्वात् क्षत्रम् । धने  
पापं नरा निस्तर्ज्ज्वात्युच्यते । "न हि ते क्षत्रं न सहो न मन  
(अ० सं० १, २, १, १)"—"सुक्षत्रासो ज्ञादसः (अ० सं०  
१, १, ३६, ५)"—इति च निगमौ ॥

(१०) भगः । 'भज सेवायाम् (भू० उ०)' । 'पुंसि सङ्ग  
घः प्रायेण (३, ३, ११८)' 'चजोः कुधिष्यतोः (७, ३, ५२)  
भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः । यद्वा सेव्यतेऽनेन हेतुना तद्  
भगशब्दः पुंलिङ्गो धनवचनः । "शिक्षास्तोतृभ्यो मातिधग्भो  
(अ० सं० २, ६, ६, ६)"—"यद्धित—स्योभगः"—इति निगमः ॥

(११) मीध्वद्भुम् । 'मिह सेचने (भू० प०)' । इत्यचत्  
स्वदलोपदीर्घाः, व्यवहारभाष्यश्च । सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृ

‘सदस्रमीव्हुष्टमशिवानमा इत्यत्र : मट्टमास्करमित्रमायोः  
मीव्हु इति घननाम’—इति दृश्यते । ततो निघण्टु उकारान्त  
निगमदर्शनाभावात् अकारान्तनिगमदर्शनात् उकारान्ताकारान्त  
योरपि स्त्रीकारोऽस्माकम् । “रुद्रस्य ये मीव्हुष्टयः सन्ति पुत्र  
( ऋ० सं० ५, १, ७, ३ )”—“तां वा रुद्रस्य मीव्हुष्टयः ( ऋ० सं०  
५, ४, २८, ५ )”—इत्यादौ निर्वाहकृच्छत्वात् “मीव्हुष्टम्”—इति  
पठितव्यमिति केचिदाहुः । अन्ये तु “मीव्हुष्टः”—इति सकण्ठ-  
मपि । तेषां मीव्हुष्टांसमिति निर्वाहः । उभयेषामपि “सदस्र  
मीव्हुष्टे ( ऋ० सं० १, ७, ३४, ५ )”—इत्यकारान्तस्य पाठोऽपे-  
क्षणीयः । बहुम्यस्तु निर्णयः ॥

(१२) गयः । व्याख्यातमपत्यनामसु ( २४० २४० ८ ) । इहानि  
तदर्थः । गीयते स्तूयते होतृभिः । “अपशदाशुषेगयम् ( ऋ० सं० १,  
५, २१, २ )”—इति निगमः ॥

(१३) घुष्टम् । ‘घुष्टसुष्टनिष्ट’—इत्यादिना ‘घुष्ट दीर्घा ( मृ०  
आ० )’—इत्यस्मात् नप्रत्ययो मकारध्वान्तादेशो निपात्यते ।  
तेन तदुपान् । दीप्यते घुष्टम् । ‘घु अमिगमने ( अदा० प० )  
इति क्षीरस्वामी । अत्र घातोर्मगागमो निपात्यते । “घुष्टं सद  
सातमम् ( ऋ० सं० १, १, १८, ३ )”—“घुष्टाघात्रेभिरागतम्”-  
इति च निगमो ॥

(१४) इन्द्रियम् । ‘इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रद्वष्टमिन्द्रपष्टमिन्द्र  
पुष्टमिन्द्रदतमिति पा ( ५, ३, १३ )’—इति घप्रत्ययान्तमस्तोदार्त  
निपात्यते । इन्द्रः—‘इदि परमैश्वर्ये ( मृ० प० )’ परमैश्वर्यपुष्ट

ज्यते । इन्द्रस्य लिङ्गम् । घनेन हि ऐश्वर्य्ययुक्त इति व्यज्यते ।  
त्र पृष्ठी, समर्थात्, लिङ्गार्थं घम् । यद्वा, इन्द्रेण दृष्टम्  
न्द्रियम् । यद्वा, इन्द्र आत्मा, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणा सृष्टम् ।  
न्द्रजुष्टं घा, आत्मना सेवितम्, तद्द्वारेण भोगोत्पत्तेः । इन्द्र-  
त्तं घा, इन्द्रेण पूर्वकर्मणा घा अस्त्युपदत्तम् । सृष्टजुष्टदत्तार्थेषु  
तीया समर्थात् । “दक्षिणं पादमघनेनिजेऽसिनाप्त्र इन्द्रियं  
घामि ( ऐ० ब्रा० ८, ५, ४ )”—इति निगमः ।

(१५) घसुः । रात्रिनामसु “घस्वी”—इत्यत्र ( ६६ पृ० )  
व्याख्यातम् । घस्ते आच्छादयति तिरोभावयति दारिद्र्यम् । “अहं  
भुवं घसुनः पूर्व्यस्पतिः ( ऋ० सं० ८, १, ५, १ )”—इति निगमः ॥

(१६) रायः । ‘रा दाने (अदा० प०)’ । ‘रातेडैः ( उ० २,  
६२ )’ । जस् । क्षीयतेऽर्थिम्यः, तदेव प्राप्यते घा पूर्वकृतेन  
पुण्येन । “अनामृणः कुचिदादस्य रायः ( ऋ० सं० १, ३, १, १ )”  
—इति निगमः ॥

(१७) राधः । ‘राध साध संसिद्धौ (स्वा० प०)’ । असुन् ।  
‘राधुवन्ति साधुवन्ति धर्मादीन् पुरुषार्थान्’—इति स्कन्दस्वामी ।  
राध्यतेऽनेन धर्मादिरिति वा । राधिर्हि साधोऽपि । दिनस्ति  
दारिद्र्यम् । “राध इन्द्र घरेण्यम् ( ऋ० सं० १, १, १७, ५ )”  
—“राधस्तज्जो विद्वत्सऽडमयहस्त्याभर ( ऋ० सं० ४, २, १०,  
१ )”—इति निगमौ ॥

(१८) भोजनम् । ‘भुज्ज पालनाभ्यवहात्योः ( रु० प० )’ ।  
स्युद् । ‘इत्यस्युदोः बहुलम् (३, ३, ११३)’—इति । यद्वा, भमि-  
१६—

मतार्थं भवति भुज्यते तद्वदिः, भुज्यन्तेऽनेन विषया इति  
पाल्यतेऽनेन वा । “शत्रूयतामा भरा भोजनानि (श्र० सं० ३,  
१८, ५)” — “मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोयीः (श्र० सं०  
१, ७, १६, ३)” — इति निगमौ ॥

(१६) तना । ‘तनु विस्तारे (त० प०)’ । पचायच् (३, ७  
१३४) । तनोति विस्तारयति त्रिषर्गसाधनं हि धनम् । कृती-  
कषचनस्य ‘सुपां सुलुक् (७, १, ३६)’ — इत्याकारः । “विह्वयन्ते  
तना गिरा (श्र० सं० ६, ३, २५, १)” — “आ यो मधू कनाय  
कम् (श्र० सं० १, ३, १६, २)” — इति निगमौ ॥

(२०) नृमूणम् । व्याख्यातं घट्टनामसु (२३२ पृ०) । ननरी  
प्रदीकरोत्यर्थिभ्यस्तदुपस्तु । “हरते दधानो नृमूणा विध्वानि  
(श्र० सं० १, ५, ११, २)” — इति निगमः ॥

(२१) यन्धुः । ‘यन्ध यन्धने (यथा० प०)’ । “भृस्पृत्रिहि-  
प्रप्यसिचसिदनिहिदियन्धिप्रतिभ्यश्च” — इति उपत्ययः । यन्धा-  
त्यनेन भृत्स्थादीन् । यद्वा, यन्धुरिय यन्धुः । “भयन्धुना सुध-  
परोपजगमुपः (श्र० सं० १, ४, १६, ४)” — इति निगमः ॥

(२२) मेधा । ‘मिधु मेधु सङ्गमे घ (भू० उ०)’ घकारात्  
द्वितामेधयोश्च । ‘मिधिः सङ्गत्यर्थः’ — इति माधयः । घम् ।  
सङ्गच्छनेऽनेन सत्यं तदुपता, द्विस्यने वा तदुपान् घौरादिभिः प्रानि  
वैषार्थकारणात् — इति महाभागतम् । यदुपा, मती धीने  
सर्ववित्तव्यं रक्षितव्यं दातव्यमिति धनयता युद्धौ धनं चाप्यने ।  
च मनिराय् उपरदे धानोः ‘यप्रथं कषिधानम् (३, ३ ५८ वा०)’

—इति कः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) मतिशब्दस्य मेमावः ।  
 “मेधाकारं विदधस्य प्रसाधनम् (ऋ० सं० ८, ४, २१, ३)” —  
 इति निगमः ॥

(२३) यशः । व्याख्यातमन्त्रनामसु ( २२७ पृ० ) । “उत  
 त्या मे यशसाश्वेतनायै (ऋ० सं० २, १, १, ४)” —इति निगमः ॥

(२४) ब्रह्म । व्याख्यातमन्त्रनामसु ( २२८ पृ० ) । वर्द्धन्ते-  
 ऽनेन धर्मादयः, वृंहकं वा भोगानाम् । “अस्माकं ब्रह्म पृतनासु  
 सहा (ऋ० सं० २, २, २२, ७)” —इति निगमः ॥

(२५) द्रविणम् । व्याख्यातं वलनामसु ( २३६ पृ० ) ।  
 रयिवदर्थः । “त वा यजन्त द्रविणं समस्मै” —इति  
 निगमः ॥

(२६) धवः । व्याख्यातमन्त्रनामसु ( २२१ पृ० ) । “अस्मै  
 पृथुधवो बृहत् (ऋ० सं० १, १, १८, २)” —“बृहच्छवा असुरो  
 बर्हणावृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)” —इति निगमौ ॥

(२७) वृत्रम् । व्याख्यातं मेघनामसु ( ६० पृ० ) । आच्छाद-  
 यति दाष्ट्रियम्, आच्छाद्यते वा राजतः करादिभ्यात् । गल्पधे  
 रयिवदर्थः । घृद्धी ब्रह्मवदर्थः । “वृत्रं पुरुकुलसाय रन्धीः (ऋ०  
 सं० २, ४, १६, २)” —इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिना ‘वृत्रं  
 घननाम’ —इति व्याख्यातत्वात् केषुचित् फीरोषु दृश्यमानमपि  
 “वित्तम्” —इति न पठनीयम् ॥

(२८) घृतम् । ‘वृङ् सम्भक्तौ (क्या० प०)’ । ‘दुतनिभ्यां  
 दीर्घश्च वा ( ३० ३, ८७ )’ —इति चकारस्थानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्



• निदन्तम्—निघण्टुः •

तत्प्रत्ययः । सम्भज्यते सर्वैः । "वृत्तञ्चयः संदुर्गिर्विज्ञा  
( ऋ० सं० २, ६, २७, ३ )"—इति निगमः ॥

इत्यष्टाविंशतिरेव घननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या (१) । उस्त्रा (२) । उस्त्रियां (३) ।  
अही (४) । मही (५) । अदितिः (६) ।  
इला (७) । जगती (८) । शकरी (९) । इति  
नव गो (मातृ) नामानि ॥११॥

अघ्न्या । 'अहन्तव्या भवतीत्यघ्न्याति वा ( निद० १६,  
४३ )"—इति भाष्यम् । अघ्नस्य दुर्भिक्षादेर्हन्त्री वा अहन्तव्या ।  
अघ शब्दे नञि वा उपपदे हन्तेः 'अघ्न्यादयश्च ( उ० ४, १०८ )'  
—इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते । "नहि मे अस्त्यघ्न्या ( ऋ०  
सं० ६, ७, १२, ४ )"—"अद्धि वृणमन्त्र्ये विश्वदानी ( ऋ० सं०  
२, ३, २१, ५ )"—इति निगमौ ॥

(२) उस्त्रा । व्याख्यातं रश्मिनामसु ( १५५ पृ० ) । वसन्ति  
क्षीरादि हविरस्याम् । 'उस्त्रियेति गोनामोत्स्त्राविणोऽस्यां  
भोगा उस्त्रेति च'—इति ( निद० ४, १६ ) भाष्यम् । 'उत्-  
स्त्राविणोऽस्यां भोगास्ते उद्दुर्घ्यं स्रवन्ति गच्छन्ति क्षीरदधिनय-  
नीतक्रमेण'—इति स्कन्दस्यामी । "मयोभूर्यातो धमिषानूक्षा-  
( ऋ० सं० ८, ८, २७, १ )"—"उस्त्रः पिनेय जाययाधि वी-  
( ऋ० सं० ४, ५, १४, ४ )"—इति च निगमौ ॥

(३) उस्त्रिया । उस्त्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्याद्यै घः ।  
अर्थः पूर्ववत् “अधिद्र उस्त्रिया अनु ( ऋ० सं० १, १, ११, ५ )”  
—“समुस्त्रियाभिर्वाचशन्त नरः ( ऋ० सं० १, ५, १, ३ )”—  
इति च निगमो ॥

(४) अही । अहिशब्दो व्याख्यातो मेघनामसु ( ८७ पृ० ) ।  
'हृदिकारात् : ( ४, १, ४५ पा० )'—इति डीप् । गम्यतेऽनया  
क्षीरादिहविः, गम्यते दत्तया पुण्यम्, अंहति शृङ्गादिना मनु-  
ष्यान्, न हन्तव्या वा । निगमोऽन्वेषणीयः । “ईक्षेण्यासो अहो ३  
नचारथः ( ऋ० सं० ७, ३, २, ३ )”—इति भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(५) मही, (६) अदितिः, (७) इला । व्याख्यातानि पृथि-  
र्षानामसु ( ३४ पृ०, ३२ पृ०, ३३ पृ० ) । तत्र घनेः किति, 'घतिस्यति  
( ४, ७, ४० )'—इतीत्वे दितिः, नप्समासः । इत्यदितिशाब्दस्य  
घ्युत्पत्तिः । महान्ते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वान् उपभोगसाधन-  
त्वाद्वा । महान्तेऽनया देवाः पय आदीनां हविषां सदायत्त-  
त्वान् । “देवाश्च यामिर्यजते हदाति च”—इति श्रुतिः । पुनः  
पुनः दुह्यमानापि न क्षीयते । न घति, अस्त्रण्डनीया वा ।  
ईदयते स्नूयते देवतात्वात् र्थाप्यते वा चास्तया । गम्यते सद्-  
धिमिरिति वा । “महीनां पयोऽस्ति ( य० पा० सं० ४, ३ )”—  
इति, “अदित एहि सरम्यत्येहि ( य० पा० सं० ३८, २ )”—  
इति, “मिमिश्वा समिलामिरा ( ऋ० सं० १, ४, ५, ६ )”—  
“इडे रन्ते हय्ये काव्ये ( य० पा० सं० ८, ४३ )”—इति च  
निगमाः ॥

(८) जगती । प्रनुष्णनामासु "जगन्ः"—इत्यत्र शाब्दिक  
(२०० पृ०) । शशु । 'उगिलाध (४, १, ६)'—इति री।  
गायने गवर्णिमिः । जगत्या उन्दसा वादार्पन्चासु मशदाकांशः  
प्ययोभेदेन वा जगती । "जागता हि परायो जगती हि तान्-  
हम्"—इति हि प्राहाणम् । "जागताः परायः (पे० प्रा० ५, ६  
३)"—इति न । "समोपपद्योमेन स रैवर्नाङ्गतीनि"—  
इति निगमः ॥

(९) शकरी । व्याख्यानं पादुनामासु (२०७ पृ०) । शकीति  
क्षीरादिप्रदानेन सहचरन् प्रीणयितुं स्पर्शनेन वा पापमपनेतु  
शकरीशब्दसम्बन्धादभेदेन वा शकरी । "परायो वै शक्यः पदु  
षापकथ्यते"—इति ध्रुतिः । निगमोऽन्येषणीयः ॥  
इति नव गो (मातु) नामानि ॥ १६ ॥

रेलते (१) । हेलते (२) । भामते (३) ।  
हृणीयते (४) । श्रीणाति (५) । श्रेपति (६) ।  
दोधति (७) । वनुष्यति (८) । कम्पते (९) ।  
भोजते (१०) । इति दश कुड्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

(१) रेलते । अयं नैहको घातुः । "अरेलता मनसा देवानां  
पतेत्"—इति निगमः ॥

(२) हेलते । हिडु अनादरे क्रोधे च भूवादिरात्मनेपदी ।  
अहेलमानोररिषां अजाध (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—

“अहेलमानो घरणोद् बोधि ( ऋ० सं० १, २, १५, १ )”—  
इति निगमौ ॥

(३) भामते । ‘भाम क्रोधे’ भूवादिरात्मनेपदी । ‘देव  
जुष्टोच्यते भामितेगोः ( ऋ० सं० १, ५, २५, १ )—“स्वयम्भू-  
र्भामो अभिमातिवाहः ( ऋ० सं० ८, ३, १८, ४ )”—इति  
निगमौ ॥

(४) हृणीयते । ‘हृणीद् रोपे वैमनस्ये च’ कण्ङ्वादिः ।  
“पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ( ऋ० सं० ८, ६, ७, २ )”—हृणीय-  
मानो अप हिमदैयेः ( ऋ० सं० ३, ८, १५, २ )”—इति  
निगमौ ॥

(५) श्रीणाति । ‘श्री भये’ क्त्वादिः परस्मैपदी । अनेका-  
र्धत्वात् कृध्यतिकर्मा । एवमुत्तरत्रापि । “एनः कृण्वन्तमसुरं  
श्रीणन्ति ( ऋ० सं० २, ७, १०, २ )”—इति निगमः ॥

(६) श्रेषति । ‘श्रेषु षलने’ भूवादिः स्वरितेत् । निगमोऽ-  
न्येषणीयः ॥

(७) दोषति । नैरुक्तो धातुः । “इन्द्रो घृत्रस्य दोषतः ( ऋ०  
सं० १, ५, २६, ५ )”—इति निगमः ॥

(८) घनुष्यति । ‘घनुष्यतिर्दन्तिकर्मा ( निट० ५, २ )’—  
इत्यत्र हल्द्वयस्य—‘घनोतेः कण्ङ्वादिप्रशेषात् यकप्रत्ययः, सत्स-  
प्रयोगेन च घनुभाषो द्रष्टव्यः’—इति । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(९) कम्पने । ‘कपि षलने’ भूवादिरात्मनेपदी । निगमो-  
ऽन्येषणीयः ॥

• निरुक्तम्—निघण्टुः •

(१०) भोजते । 'भुज कौटिल्ये' तुदादिः परस्मैपदात् ।  
'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यादिषानुक्तत्वात् गुणः  
व्यत्ययेनात्मनेपदम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥  
इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेलः (१) । हरः (२) । घृणिः (३) । त्यजः  
(४) । भामः (५) । राहः (६) । ह्वरः (७) ।  
तपुषी (८) । जूर्णिः (९) । मन्युः (१०) ।  
व्यथिः (११) । इत्येकादशः क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

(१) हेलः । हेलतेः भावे असुन् । "द्वेषस्य हेलोऽचयासि  
सीष्ठाः (ऋ० सं० ३, ४, १२, ४)"—इति निगमः ॥

(२) हरः । 'हम् हरणे (भू० उ०)' असुन् । हरति हत्या-  
पृथ्यविवेकं, हियने पाऽनेन पुरुषः स्ववशम्, दुर्जयोऽन्तरः शङ्कः  
क्रोधः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) घृणिः । उघट्टग्रामसु व्याख्यातम् (१०३ पृ०) ।  
क्षाल्यनेन स्पृदादिः, दीप्यतेऽनेन पा, क्रुद्धोऽग्निरपि ज्वलति दि  
मसिद्धः । "भाषुणे मंसचापद्वै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)—  
इति निगमः । 'मा हणानस्य (ऋ० सं० १, २, १६, २)—  
'अत्र माप्ये'—हणिरिति क्रोधनामासु पाठान् हरति क्रोधाप्योऽपि  
अप्यने'—इति अन्त्यस्यर्षी, तन् कथमिति विचिन्तयम् ॥

(४) त्यजः । 'त्यज हानौ ( भू० प० )' । असुन् । त्यज्यते  
 त्पुरुषैः, त्यज्यन्तेऽनेन प्राणा इति घा, त्यज्यते घा स्वघर्मः ।  
 क्रुद्धः पापं किञ्च कुर्व्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरुनपि । क्रुद्धः  
 शय्या घाच्चा नः साधूनपि क्षिपेत्"—इति हि महाभारतम् ।  
 'महश्चिदसि त्यजसो वरुता ( ऋ० सं० २, ४, ८, १ )"—"किं  
 वैषु त्यज एनश्चकथं ( ऋ० सं० ८, ३, १४, ६ )"—इति  
 नेगमी ।

(५) भामः । भामतेभायि घञ् । यद्वा 'भा दीप्तौ ( अदा०  
 ३० )' । 'अत्तिस्तुसुद्गुसृष्टृक्षिभुभावावापदियक्षिर्नाभ्यो मन् ( उ०  
 १, १३७ )"—इति मन् । दीप्यते तेन तद्भान् । "देवजुष्योच्यते  
 भामिने गीः ( ऋ० सं० १, ५, २५, १ )"—"स्वयम्भूभामो अभिमा-  
 तिवाहः ( ऋ० सं० ८, ३, १८, ४ )"—इति निगमौ ॥

(६) पद्दः । 'हन हिसागत्योः ( अदा० प० )' असुन् ।  
 'नञि हन पद्द च ( उ० ४, २१८ ),—इति नञ्युपपदे विधीयमान  
 एदादेशो घाहुल्कात् नञ्यिनापि भवति । "अनेहसस्ते हरिषो  
 अभिषौ ( ऋ० सं० ८, १, ३०, २ )"—इति निगमः ॥

(७) इट् । 'इ फीटिल्ये ( भू० प० )' अत्तिकर्मां च ।  
 असुन् । इरति कुटिलो भवत्यनेन अत्ति घा ।

(८) सपुगी ।

(९) जूर्णिः । 'जूर्णिर्जपनेर्वा द्रघनेर्वा जीर्णनेर्वा'—इति भाष्यम्  
 ( नि० ६, ४, ) । गच्छत्यनेन दुःखं, लोकगर्हां घा हिनस्ति  
 परान् घा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

• निरुणम्—नियन्तुः •

(१०) मन्तुः । 'मन वाने (तनाः भाः)' । ध्वं  
नियुञ्चिन्मिन्ननिष्णो युन् (उ० ३, १८) — इति इत् ।  
वाहुन्कादनादेगाभाय । भायने ह्यागन्तेन । वडा, मन्तं  
दीमिरर्मजो युम् । "दीप्यतेऽनेन तडात् । न दि ते सर्वं  
सहो न मन्तुम् । (प्र० सं० १, २, १५, १)" — "न  
हणानस्य मन्तवः ( प्र० सं० १, २, १६, २ )" — इति  
निगमो ॥

(११) ध्यतिः । 'ध्या मयन्त्रयोः (भू० भाः)' । प्र  
सर्पधानुभ्यः ( उ० ४, ११५ ) — इति इत् । विभेत्यस्मान् सः  
चलति धानेन मयमां । "पतत्रिभिध्रमैरव्यधिभिः ( ऋ० १  
५, ५, १६, ७ )" — "भाने माकिष्टे ध्यधिरा दधर्गोन् ( ऋ० ६  
३, ४, २३, ३ )" — इति च निगमो ॥

इत्येकादश क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

वर्तते (१) । अयते (२) । लोटते (३) ।  
लोठते (४) । स्यन्दते (५) । कसति (६) ।  
सर्पति (७) । स्यमति (८) । स्रवति (९) ।  
स्रंसति (१०) । अवति (११) । श्रोतति (१२) ।  
ध्वंसति (१३) । वेनति (१४) । मार्ष्टि (१५) ।  
भुरण्यति (१६) । शवति (१७) । कालयति (१८) ।

पेलयति (१६) । कण्टति (२०) । पिंस्यति (२१) ।  
 विस्यति (२२) । मिस्यति (२३) । प्रवते (२४) ।  
 लवते (२५) । च्यवते (२६) । कवते (२७) ।  
 गवते (२८) । नवते (२९) । क्षोदति (३०) ।  
 नक्षति (३१) । सक्षति (३२) । म्यक्षति (३३) ।  
 सचति (३४) । ऋच्छति (३५) । तुरीयति (३६) ।  
 चतति (३७) । अतति (३८) । गाति (३९) ।  
 इयक्षति (४०) । सञ्चति (४१) । न्सरति (४२) ।  
 रंहति (४३) । यतते (४४) । भ्रमति (४५) ।  
 धजति (४६) । रजति (४७) । लजति (४८) ।  
 क्षियति (४९) । धमति (५०) । मिनाति (५१) ।  
 ऋण्वति (५२) । ऋणोति (५३) । स्वरति (५४) ।  
 सिसर्ति (५५) । विपिष्टि (५६) । योपिष्टि (५७) ।  
 रिणाति (५८) । रीयते (५९) । रेजति (६०) ।  
 दघ्यति (६१) । दभ्नोति (६२) । युष्यति (६३) ।  
 धन्वति (६४) । अरुपति (६५) । आर्य्यति (६६) ।



सीयते (६७) । तकति (६८) । दीयति (६९) ।  
 ईपति (७०) । फणति (७१) । हनति (७२) ।  
 अर्दति (७३) । मर्दति (७४) । ससृते (७५) ।  
 नसते (७६) । हर्यति (७७) । इयति (७८) ।  
 इर्ते (७९) । ईङ्गते (८०) । जयति (८१) ।  
 श्वात्रति (८२) । गन्ति (८३) । आगनीगन्ति (८४) ।  
 जङ्गन्ति (८५) । जिन्वति (८६) । जसति (८७) ।  
 गमति (८८) । धति (८९) । धाति (९०) ।  
 धयति (९१) । बहते (९२) । रथर्यति (९३) ।  
 जेहते (९४) । प्वःकति (९५) । क्षम्पति (९६) ।  
 प्साति (९७) । वाति (९८) । याति (९९) ।  
 इपति (१००) । द्राति (१०१) । द्रूलति (१०२) ।  
 एजति (१०३) । जमति (१०४) । जवति  
 (१०५) । वञ्चति (१०६) । अनिति (१०७) ।  
 पवते (१०८) । हन्ति (१०९) । सेधति (११०) ।  
 अगन् (१११) । अजगन् (११२) । जिगाति

(११३) । पतति (११४) । इन्वति (११५) ।  
 द्रमति (११६) । द्रवति (११७) । वेति (११८) ।  
 हन्तात् (११९) । एति (१२०) । जगायात् (१२१) ।  
 अयधुः (१२२) इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥

अत्र घर्त्तते इत्यादीनां गत्यर्थानां गतिकर्मकत्वं स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितम् । अनेकार्थत्वाद्वा गतिकर्मत्वम् । एष्वप्रदर्शितनिगमानां निगमा अन्येषणीयाः । अनुक्तविकरणानां भूवादित्वं शेषम्, अनुक्तौ परस्मैपदित्वञ्च ॥

(१) घर्त्तते । 'वृत्तु घर्त्तने (भू०)' आत्मनेपदी ॥

(२) अयते । (३) लोटते । (४) लोटते ॥

(५) स्यन्दते । 'स्यन्दु प्रस्रवणे (भू०)' । आत्मनेपदी ।

“स्यन्दन्तां कुल्या विविताः पुरस्तात् ( ऋ० सं० ४, ४, २८, ३ )”

—इति निगमः ॥

(६) कसति । 'कस गती (अदा० प०)' ।

(७) सर्पति । 'सृष्टु गती (भू० प०)' । “नमो अस्तु सर्पेभ्यः”

—“अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम् ( ऋ० सं० ७, ३, २०, ४ )”

—इति निगमो ॥

(८) स्यमति ।

(९) स्रघति । 'सृ गती (भू० प०)' । “अचस्रवेदघशंसो

( ऋ० सं० २, १, १७, १ )” —इति निगमः ॥

• निगमम् - निगमः •

(१०) स्मरते । 'स्मरु भवस्मरते ( मू० )' मन्त्रेण

"जानेन जागमनि स प्र सगृते ( ऋ० सं० २, ७, ४, १ )" -  
निगमः । 'प्रसतिगमनीतप्यर्थः' - इति हरदत्तः ॥

(११) भयति । 'भय रक्षणगत्यादी ( मू० प० )' 'प्रस  
पाणीः पुम्हन् घमन्तीः ( ऋ० सं० ३, २, २, ५ )" -  
घेदन्निर्घ्रायति ( ऋ० सं० ६, ५, २६, ४ )" - इति निगमौ ॥

(१२) ध्येतति । 'भृतिर्क्षरणे ( मू० प० )' । "ध्येतन्निवे  
पतो स्तोकाः ( प्र० सं० ३, १, २१, ५ )" - इति निगमः ॥

(१३) ध्यंसति ।

(१४) येनति । नैरक्तधानुः । "आ प्र द्रय हरिवो मा  
येनः ( ऋ० सं० ४, १, २६, २ )" - "नासत्या मा वि येनः  
( ऋ० सं० ४, ४, १६, २ )" - इति निगमौ ॥

(१५) मार्षि । 'मृज शुद्धौ' अदादिः । "मृगो न र्मज  
( ऋ० सं० २, २, २५, २ )" - "उ रायन्तरिक्षे मर्जयन्त ( ऋ०  
सं० ५, ४, ६, ३ )" - इति निगमौ ॥

(१६) भुरण्यति । 'भुरण धारणपोषणयोः' कण्ठ्वादिः ।  
"भुरण्यन्तं जनां अनु ( ऋ० सं० १, ४, ८, १ )" - "शुचिर्वा  
स्तोमो भुरणावजीगः ( ऋ० सं० ७, ७, २२, १ )" - इति च  
निगमौ ॥

(१७) शवति । 'शव गतौ' । 'शु गतौ' - इति स्कन्दस्वामी,  
"मा भेमे शवसरूपे ( ऋ० सं० १, १, २१, २ )" - इति  
॥

(१८) कालयति । 'कल क्षेपे' चुरादिगन्तः । व्यत्ययेन शानिवद्वाचादुबृद्धिः । "तं काले काल आगते यते"—इति निगमः । 'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः ( निघ० २, २५ )'—इति यास्कः ॥

(१९) पेलयति । 'पिल् पेल्ल शैल् गतौ ( भू० प० )' । "घयांसि का गन्धेन पिपीलिकाः प्रशाद"—इति निगमः । 'पिपी-लेका पेलतेर्गतिकर्मणः ( निघ० ७, १३ )'—इति यास्कः ॥

(२०) कण्टति । 'कटि गतौ ( भू० प० )' । "यातुधानैभ्यः कण्टकीकारीम् ( य० घा० सं० ३०, ८ )"—इति निगमः । 'कण्टकः कन्तपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः इति निरुक्तम् ( ६, ३२ )' । 'कण्टति पश्यति परान्"—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२१) पिस्यति । 'पिस् पेष् गतौ ( भू० प० )' । व्यत्ययेन श्यन् ॥

(२२) विस्यति । (२३) मिस्यति । 'विस प्रेरणे' 'मसी रमिमाणे' दिवादिः । मिस्यतीतीकारश्छान्दसः । "श्यं शप्मे-मिर्विसथा इवास्तत् ( ऋ० सं० ४, ८, ३० २ )"—इति निगमः । अत्र 'विस्यतिर्गतिकर्मण्यु पठ्यते'—इति स्कन्दस्वामी । ऋग्भाष्ये—विस्यति मिस्यति इमौ निरुक्तधातु ॥

(२४) प्रवते । (२५) ह्वते । (२६) व्यचते । 'व्युङ्क्ष्युङ्क्षुङ् प्लुङ् म्लुङ् क्लुङ् गतौ ( भू० आ० )' । अभि प्रचन्त समनेव योपाः ( ऋ० सं० ३, ८, ११, ३ )—"तिस्रः पृथि-वीरुपरि प्रवा दिवः ( ऋ० सं० १, ३, ५, २ )"—इति निगमो ॥ ..

• निगमम् - निगमः •

(२७) घञने । 'कुश् गन्धिर्यजयोः ( भू० भा० )' ।  
 गघारं घञः कयन्धम् ( ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३ )  
 निगमः । 'कयनेर्गन्तिकर्मणः कयन्धमुद्कम्'—इति स्क  
 ष्यामी ॥

(२८) गघने ।

(२९) नघने । 'णु स्तुर्गो' अदादिः ( ष० ) । 'णु  
 छन्दसि ( २, ४, ७५ )'—इति शपो लृगमायः, आत्मनेदन्तु  
 व्यत्ययेन । 'प्रधेनच उद्गुतो नघन्त ( ऋ० सं० ५, ४, १ )'  
 इति निगमः ॥

(३०) क्षोदति । 'क्षुदिर् सम्प्रैषणे' रुधादिः, स्वरिते  
 व्यत्ययेन शप् । 'क्षोदन्त आपो रिणते घनानि ( ऋ० सं०  
 ३, २३, ६ )'—इति निगमः ॥

(३१) नक्षति । 'नक्ष गतो ( भू० ष० )' । "शकच्युतोरे  
 नक्षत घाम् ( ऋ० सं० १, ३, ३, ४ )"—इति निगमः ॥

(३२) सक्षति । 'पच समवाये' स्वरितेत् ( भू० ) । 'सि  
 घहुळं लेटि ( ३, १, ३४ )' 'लेटोऽडाटी ( ३, ४, ६४ )' । नैकघातु  
 र्णा । "सश्वादेव प्र णस्पुरः ( ऋ० सं० १, ३, २४, १ )"—इति  
 स्कन्दस्वामी ॥

(३३) म्यक्षति । 'म्यक्षेर्गन्तिकर्मणो रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी ।

(३४) सचति । 'सच समवाये ( भू० उ० )' । "अच्छि  
 पत्राः सचन्ताम् ( ऋ० सं० १, २, ६, १ )"—"अग्निः विधा  
 अग्निः पृशः सचन्ते ( ऋ० सं० १, ५, १६, २ )"—इति

निगमौ । 'सचत्पृच्छतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्द-  
स्वामी ॥

(३५) ऋच्छति । 'ऋ गतिप्रापणयोः (भू० प०)' । 'पात्राध्मा  
(७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण ऋच्छादेशः । "वाचा स्तेनं शख्य  
ऋच्छन्तु (ऋ० सं० ८, ४, ७, ५)"—इति निगमः ॥

(३६) तुरीयति । नैरुक्तधातुः ॥

(३७) चतति । 'चते याचने' स्वरितेत् । "दूराद्दूरमची-  
चतम्"—इति निगमः । 'चततिर्गत्यर्थं च'—इति भट्टभास्कर-  
रमिथः ॥

(३८) अतति । 'अत सातत्यगमने' । "अपमु ते समतसि  
(ऋ० सं० १, २, २८, ४)"—इति निगमः ॥

(३९) गाति । 'गाङ्गर्ता (भदा० आ०)' । व्यत्ययेन  
परस्मैपदी । "निर्यत्—पूनेव स्वधितिः ध्रुचिर्गात् (ऋ० सं० ५,  
२, ४, ४)"—इति निगमः ॥

(४०) श्यक्षति । 'यज पूजायाम्' तुदादिपठमनेपदी ।  
व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—  
इति दि आर्द्धधानुफक्त्यात् णिलोपः । यजेः सनि वा रूपम्,  
अभ्यासस्य सम्प्रसारणं व्यत्ययेन । "कविमिषक्षसि प्रवन्धः  
(ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमः । 'गतिकर्मा'—इति  
हरदत्तः ॥

(४१) सधति । सञ्चतेरेव छान्दसः शकार उपजनः ।  
'असधन्ती भूरिधारे पयम्यती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)"—

अरुजीविण वृषणं सध्वतः श्रिये' (अ० सं० १, ५, ८, २) -  
निगमौ ॥

(४२) त्सरति । 'त्सर छद्मगतौ (भू० प०)' । 'अ  
त्सरन्ति घेनुभिः (अ० सं० ५, ७, १८, १)' - अक्त  
स्पृशत्यधिकित्वात् (अ० सं० १, ५, १५, ५) - इति  
निगमौ ॥

(४३) रंहति । 'रहि गतौ (भू० प०)' । 'सहस्रताः इतल  
अस्य रंहिः (अ० सं० ८, ८, ३६, ३)' - 'पुरोहरिम्यां वृत्तौ  
रथो हियः (अ० सं० १, ४, १७, ३)' - इति निगमौ । 'रथे  
रंहतेर्यतिकर्मणः (निरु० ६, ११)' - इति भाष्यम् ॥

(४४) यतते । 'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदम् (भू०) । 'इ  
इय श्रेणिशो यतन्ते (अ० सं० २, ३, १२, ५)' - 'मिर् ।  
यातयज्जनम् (अ० सं० ६, ७, ११, २)' - इति निगमौ ॥

(४५) भ्रमति । 'भ्रमु चलने (भू० प०)' । 'अमिस्सृन्ति  
हन्मरर्यानाम्' - इति निगमः ॥

(४६) धजति । 'धज धजि गतौ' (भू० प०) 'धाजिरेकम्  
'दहशे न रूपम् (अ० सं० २, ३, २२, ४)' - 'अदिधुंनिर्वात् इ  
धर्त्तमान् (अ० सं० १, ५, २७, १)' - इति निगमौ ॥

(४७) रजति । (४८) सजति । (४९) क्षिपति ॥

(५०) धमति । 'धमिः स्तौत्रः' - इति सत्यद्वयामी । यज्,  
'ध्या शब्दाप्रिसंयोगयोः (भू० प०)' । 'ध्याध्याध्या (७, ३,  
'०)' - इत्यादिना धमादेशः । 'ध्याध्याध्याः पुरातनं धमन्ते

(ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—निःपीमदुभ्यो धमपो निःपधस्थान

(ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)"—इति निगमो ॥

(५१) मिनाति । 'मीम् हिंसायाम्' । मीनातेर्निगमे (७, ३, ८१)"—इति हस्यः । "मितोति"—इति पाठान्तम् । तत्र 'डु मिम् क्षेपणे' स्वादिः । "समचक्रं रथमचिध्वमित्यम् (ऋ० सं० २, ८, ६, ३)"—इति निगमः । 'मीनातेरेतद्रूपम्, सर्वेणापि लोके नापगन्तुमशक्यम्"—इति हरदत्तः ॥

(५२) ऋष्यति । 'ऋचि रचि गती (ऋ० प०)' । 'इदितोनुम् घातोः (७, १, '५८)' 'रयेर्मती षदुलम् (६, १, ३४ घा०)"—इति षदुल्यचनान् सम्यसारणम् । "व्यनुयन् घार्या देव ऋष्यति- (ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः । 'ऋष्यतिर्गतिकर्मा, अन्तर्गतपर्ययः । विविधं गमयति—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५३) ऋणोति । 'ऋण गती' तनादिः स्वरितेन् । सञ्ज्ञा- पूर्वको विधिरनित्यः—इति ल्यूपधगुणाभाषः । "अभिकृष्णेन रजसा घामृणोति (ऋ० सं० १, ३, ७, ४)" "ऋणो रपो अन- घघाणाः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमो । उभयोरपि 'ऋणोतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५४) स्वरति 'न्वु शब्दोपनाययोः' । "हृषी इन्द्र प्रतद्वस् अमिस्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)"—इति निगमः ॥ अत्र 'गतिकर्मा'—इत्युक्तं स्कन्दस्वामिना । "अनिमेवं विदधाभि स्वरन्ति (ऋ० सं० २, ३, १८, १)" इत्यादौ 'गतिकर्मस्वरपठितोऽपि गत्यर्थः' इत्युक्तम् ॥



(५५) सिंसर्ति । 'ऋ सुं गतौ' जुहोत्यादिः । परयोश्च (७, ४, ७७) 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)—इति मन्त्रस्येत्यम् । "प्र याहवा सिंसर्तं जीवसे न (ऋ० सं० ५, ५, ५)"—इति निगमः ।

(५६) विपिष्टि । 'विप्ल व्याप्तौ' जुहोत्यादिः (३०) । लेटि सिंवि 'सिध्वहुलं लेटि (३, १, ३४)' । "आग्ने संधेपियोरयिम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, १)"—इति निगमः । 'समन्तात् प्रापय'—इति ऋभास्करमिश्रः ।

(५७) योपिष्टि । 'युप द्विसायाम् (मू० प०)' । लेटि सिंवि व्यत्ययेन गुणः ॥

(५८) रिणाति । 'री गतिरेपणयोः' ऋयादिः सादिध । "ऋधायमाणो निरिणाति शशून् (ऋ० सं० १, ४, २६ ३)"— "लोपामुदा वृषणं नीरिणाति (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमौ ॥

(५९) रीयते । 'रीइ ध्रषणे' दिषादिः । "एदु निम्न ॥ रीयते (ऋ० सं० १, २, २८, २)"—इति निगमः । 'रीयते रैजतीति गतिकर्मसु पाठान् गत्यर्थः'—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(६०) रैजति । नैरुक्तधानुः । "द्वयो नय इषयान् मन्म रैजति (ऋ० सं० २, १, १७, १)"—'चलति गच्छतीत्यर्थः'—इति स्कन्दस्यामी ॥

(६१) दश्यति । 'दष पालने' सादिः । व्यत्ययेन द्यन् । "पधा-या यो भषस्य धाता (ऋ० सं० २, ८, ४, ५)"—इति च निगमः ॥

(६२) दम्नोति । 'दम्नु दम्ने' स्वादिः ॥

(६३) युध्यति । 'युध सम्प्रहारे' दिवादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदी ॥

(६४) धन्वति । 'रिवि रवि धवि गत्यर्थाः (भू० प०)' । "परि सोम प्रधन्वा स्वस्तये (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)" — "न यस्य घावापृथिवी न धन्व (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)" — इति निगमौ ॥

(६५) अरुयति । नैरुक्धातुः । "वि घूममग्ने अरुयं मियेध्य (ऋ० सं० १, ३, ६, ४)" — स्वसारः श्याधी मरुपीमजुपन् (ऋ० सं० १, ५, १५, १)" — "प्रतीची रनेररुपीरजानन् (ऋ० सं० १, ५, १८, १०)" — इत्यादिषु स्कन्दस्यामिभाष्यम्- 'अरुयतिर्गतिकर्मा' — इति दृष्टम् । "युञ्जन्ति प्रध्नमरुयं चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)" — इत्यादौ द्वित्रयोः प्रदेशयोः 'अरुयतिर्गतिकर्माः' — इत्यपि । उभयया दृष्टमपि, बहुषु प्रदेशेषु दर्शनात् अरुयतीति पाठो युक्तः ।

(६६) आर्यति । "मामार्यन्ति हृत्नेन कर्त्वे न च (ऋ० सं० ८, १, ५, ३)" — "तमिच्छ्वोत्नैरार्यन्ति (ऋ० सं० ६, १, २१, ६)" — इति निगमौ ॥

(६७) सीयते । 'यिम् बन्धने' स्वादिः ऋयादिश्च । व्यत्ययेन श्यन् । "डीयते" — इति पाठान्तरम् । तदा 'डीङ् विहायसां गती' दिवादिः । निगमदर्शनाग्निर्णयः ॥

(६८) सकति । 'सक हतने (भू० प०)' "यः शूरसातापरिसकम्ये घने (ऋ० सं० १, २, ३३, १)" — अन्योन्यान्मत्सर्गप्रतक्ते" इति निगमौ ॥

(६९) वीयति । 'वीद् शणे' दियादिः । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । "इयनो न वीगप्रत्येति पाणः (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५)" इति निरगम् ॥

(७०) ईयति । "ईय गतिदिशादानेषु" भात्मनेपदी, व्यत्यये परस्मैपदम् । "उतानो गा ईयने वृष्ण्यायतः (ऋ० सं० ४, ४, २३, २)"—इति निरगम् । यद्गुण 'ईयतीति गतिस्मंसु पाठान्'—इति स्कन्दश्यामी ॥

(७१) फजति । 'फज गतो' । "ययामद्वांभ्यन्वापनीकन (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)"—इति निरगम् ।

(७२) दनति । 'दन दिसागतयोः' अदादिः । 'चदुलं उन्दति (२, ४, ७३)'—इति शपो लुग् न भयति । "सं पदकृत् मन्युभिर्जनासः (ऋ० सं० ५, ४, २६, २)"—इति निरगम् ।

(७३) अर्दति । 'अर्द गतो याचने च' ॥

(७४) मर्दति । 'मृद् मर्दने' । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॥

(७५) सख्ते । 'ख ख गतो' जुहोत्यादिः परस्मैपदी ।

व्यत्ययेनात्मनेपदम् । पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६) अम्याससं-  
रुगागमः । "प्रससन्ति दीर्घमायुः प्रयशे (ऋ० सं० ३, १, १, १,  
—"जातेन जात मति स प्रसख्ते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)—इति  
निरगमी ॥

(७६) नसते । 'नस कौटिल्ये' भात्मनेपदी । "अक्षीभ्यां ते  
नासिकाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ८, २१, १)"—इति निरगम् ॥

(७७) हर्यति । 'हर्य गति कान्त्योः' ।

(७८) इयति । 'शृ शृ गती' जुहोत्यादिः । 'अर्त्तिपिप-  
त्स्योश्च (७, ४, ७७)' । "हृष्टीरियर्त्तयोजसा (शृ० सं० १, १, १४,  
३)"—इति निगमः ॥

(७९) ईत्ति । 'ईर गती कम्पनेच' अदादिरात्मनेपदी ।  
"मत्सरासः प्रसुपः साकर्मास्ते (शृ० सं० ७, २, २२, १)"—इति  
निगमः ॥

(८०) ईङ्गते । 'ईखि गती' (भू०) आत्मनेपदी । "य ईङ्गवन्ति  
पर्वतान् (शृ० सं १, १, ३७ २)"—इति निगमः । अत्र 'ईङ्गति-  
र्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(८१) अयति । (८२) श्यात्रति । पती नैरुक्तधातू ॥

(८३) गन्ति । 'गम्ल गती' (भू० प०) । ध्यत्ययेन शपो  
लुक् । "अङ्गितोभिरायहि यज्ञियेभिः (शृ० सं० ७, ६, १४, ५)"  
—निगमः ॥

(८४) आगनीगन्ति । 'गम्ल गती' (भू० प०) । दाधर्त्ति-  
दर्धर्त्ति (७, ४, ६५) इत्यादिना भाङ्पूर्वस्य गमेर्लटि भन्यासस्य  
सुत्याभावो नोपागमश्च निपात्यते । यङ्लुगन्ताद्वा लटि निपात-  
नाद्रूपसिद्धिः । "वश्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम् (शृ० सं० ५,  
१, १६, ३)"—इति निगमः ॥

(८५) जङ्गति । गमेर्यङ्लुकि 'नुगतोऽनुनासिकात्स्य (७,  
४, ८५)'—इति नुकि च रूपम् । "प्रातर्मक्षु धियावसुर्जगम्यात्  
(शृ० सं० १, ४, २५, ४)"—इत्यत्र 'जङ्गन्तेर्गतिकर्मण एतद्रूपम्-  
—इति स्कन्दस्यामिभाष्यम् ।

(८१) तिज्जति । 'इषि तिषि चिषि प्रीजनार्थाः (मू० १०)'  
(८२) जसति । 'जषु मोक्षने' दिषादिः (१०) । ज्जते

शब्दः ॥

(८८) गमति । गम्ह गतो (मू० १०) । लेट् । लेटोऽद्वयं  
(३, ४, ३४) । घादुन्कात् 'सिष्यदुन्डं लेटि (३, १, ३४)'-इति  
सिप् न भषति । यडा, 'सर्वे विधयस्त्वन्दसि विकल्पने'-इति  
एत्यामायः । "त भागमन्तु त इह ध्रुयन्तु (ऋ० सं० ४, ६४  
१)"-इति निगमः ॥

(८९) धति । (९०) धानि । (९१) धयति । ज्योर्धा  
नैरुक्ताः ॥

(९२) वहते । 'वह प्रापणे' (मू० ३०) स्वरितेर् । 'वैत्वा-  
नरं मातरिष्या परावतः (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"-इत्यत्र  
'परापूर्वस्य वहनेर्गतिकर्मणः पराचच्छब्दः'-इति स्कन्दस्वामी ॥

(९३) रथर्यति । नैरुक्तघातुः । 'रंहेर्था रथो रंहपं गन्तव  
इच्छतीति क्वचि रथीयतीति प्राप्ते रेफउपजन ईडामायध  
पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०६)'-इति स्कन्दस्वामी । 'एष  
देवो रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)"-इति निगमः ।  
माधवभाष्यं प्रपञ्चम् ॥

(९४) जेहते । 'वेह जेह वाह प्रपञ्चे' आत्मनेपदी ।  
जेहमाना (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"  
-इति निगमः । 'ओ हाङ् गतावित्यस्य रूपम्'-इति  
स्कन्दस्वामी ॥

(६५) प्यःकति । (६६) क्षुम्पति । (६७) प्साति ।  
(६८) घाति । (६९) याति ॥

(१००) इपति । 'इप गती' दिवादिः ( प० ) । व्यत्ययेन  
शः । "तत्रासाम्यमिप्यः शर्म यंसन् ( ऋ० सं० ५, १, २१, २ )"  
—इति निगमः ॥ 'इपुरिपतेर्गतिकर्मणः ( ६, १८ )'—इति  
निरुक्तम् ॥

(१०१) द्राति । 'द्रा कुत्सितायो गती' अदादिः ( प्र० ) ।  
"वैस् यवो मतयो दस्स दद्दुः ( ऋ० सं० १, ५, ३, १ )"—इति  
निगमः ॥

(१०२) द्रुलति । नैरुक्धातुः ॥

(१०३) एजति । 'एजू कम्पने ( भू० प० )' । "यूधेन  
वृष्णारेजति ( ऋ० सं० १, १, १६, २ )"—"यथा समुद्र एजति  
( ऋ० सं० ४, ४, २, ४ )"—इति निगमौ ।

(१०४) जमति । 'जमु अदने ( भू० प० )' । "न जामये  
सान्वोरिक्थ मारैक् ( ऋ० सं० ३, २, ५, २ )"—इति निगमः ।  
'जामिर्जमतेर्गतिकर्मणः'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१०५) जवति । 'जु गती'—इति क्षीरस्वामी । "न पातप  
इन्द्र जुजूर्चु नः"—"विपाद् शुनुदी पयसा जवेते ( ऋ० सं० ३, २,  
१२, १ )"—इति निगमौ ॥

(१०६) घञ्जति । 'घञ्यु गती ( भू० प० )' । "नमो घञ्जने  
परिषञ्जते ( प० घा० सं० १६, २१ )"—इति निगमः ॥

(१०७) भनिति । 'अस्य प्राणने, मन च (अ० प०)  
"अत्र मानसोऽन्यनिमि"—इति निगमः । 'भनितिर्गणिकर्तृ  
इति शापयः ॥

(१०८) पयने । 'पुम् पयने' । 'नेद्राद्ने पयने व  
फिञ्जन (अ० सं० ७, २, २२, १)"—'एकं संज्ञाप पविन्द्र  
तिगमम्"—इति निगमो ॥

(१०९) हन्ति । 'हन हिसागत्योः' अदादिः (प०) । 'ने  
येन एष्टित्यया (अ० सं० १, १, १५, २)"—आद्य वृ  
मधिसानो जघान (अ० सं० १, २, ३७, २)"—इ  
निगमो ॥

(११०) सेधति । 'पिधु गत्याम् (भू० प०)' । 'सेधत द्वेते  
भयतं सचा भुया (अ० सं० १, ३, ५, ५)"—इति निगमः ॥

(१११) अगन् । 'गम्लृ गर्तो (भू० प०)' । लुङि तिपि  
च्छेः 'मन्त्रे घस (२, ४, ८०)"—इति लुकि, "इतश्च (३, ४,  
६७)"—'संयोगान्तलोपः (८, २, २३)' 'मौनोधातोः (८, २,  
६४)"—इति मकारस्य नकारः । "यदामागन् प्रथमजा सूतस्य  
(अ० सं० २, ३, २१, २)"—इति निगमः ॥

(११२) अजगन् । गमेर्लुङि 'बहुलं छन्दसि (२, ४ ७३)"—  
इति शापः श्लुः । पूर्वचमत्त्वम् (८, २, ६४) । "यन्मातुरजगद्यः  
(अ० सं० ३, १, ५, २)"—इति निगमः ॥

(११३) जिगाति । 'जा स्तुतो (अदा० प०)' । 'छन्दसि  
बुद्धोत्यादिः । अर्धत्तिपिपरयोश्च (७, ४, ७७) 'बहुलं छन्दसि

७, ४, ७८ )—इति अभ्यासस्येत्यम् । “घेना जिगाति दायुषे  
( ऋ० सं० १, १, ३, ३ )”—इति निगमः । ‘जगतीति पाठा-  
तम्’—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

( ११४ ) पतति । ‘पल्ह गती ( भू० प० )’ । “गोभिः सन्नद्धा  
पतति प्रसूता ( ऋ० सं० ५, १, २१, १ )”—इति निगमः ॥

( ११५ ) इन्वति । ‘इवि गती ( भू० प० )’ । “देवीद्वारो  
वृहतीर्विभ्रमिन्या ( य० घा० सं० २६, ३० )”—इति निगमः ॥

( १२६ ) द्रमति । ‘द्रम हम्म मीमृ गती ( भू० प० )’ । “प्र  
चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ( ऋ० सं० ८, ३, २३, ४ )”—इति  
निगमः । ‘चन्द्रमाश्चायं द्रमति’—इति भाष्यम् ( निरु० ११, ५ ) ।  
‘द्रमतिर्गतिकर्मा’—इति स्कन्दस्वामी ॥

( ११७ ) द्रवति । ‘दु इ गती ( भू० प० )’ । “यत्रा नरः  
सं च वि च द्रवन्ति ( ऋ० सं० ५, १, २१, १ )”—इति  
निगमः ॥

( ११८ ) वेति । ‘वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु’ अदादिः ।  
“अपामी घां वाधते वेति सूर्यम्”—“पदं न वेत्योदती ( ऋ०  
सं० १, ४, ४, १ )”—इति निगमो ॥

( ११९ ) हन्तात् । हन्तेलोटि तातडि रूपम् । “हयन्तात्”—  
इति केचित् पठन्ति । तत्र ‘हय गती ( भू० प० )’—इत्यस्य  
तातडि तकार उपजनः ॥

( १२० ) पति । ‘इ गती’ अदादिः ( प० ) । “विचाकशाञ्च-  
न्द्रमा नकमेति ( ऋ० सं० १, २, १४, ५ )”—इति निगमः ॥



(५) भोगम् । निपातोऽयम् । “भोगमिन् वृषिर्नन्दन् ( सं० ८, ६, २७, ४ )” — “भोगः पार्श्वे न शोचिन् ( अ० सं० ४, १८, ३ )” — इति निगमौ । ‘भक्तोद्गमो निपातः शब्दस्य साधुशान्ता’ — इति दि माघपः ॥

(५) जोगः । अयनिर्गन्तिकर्मा । ‘जोरी च ( उ० २, २१ )’ — इति ईषप्रत्यय ईकारध्वान्तादेशः । जम् । “जीरा मज्जिर्गोचिन् ( अ० सं० ७, २, ११, ५ )” — “जीरं दूतममर्त्तयन् ( इ० सं० १, ३, ३०, ११ )” — इति निगमौ ॥

(६) जूर्णिः । ध्यातपानं कौघनामसु ( २५६ पृ० ) । निपातोऽन्वेषणीयः ॥

(७) शूर्त्ताः । ‘तातघातसुन’ — इत्यादि भोजमूत्रे आदिशब्दे शृणाल्यस्मान् कप्रत्ययान्तो निपातपते । शृणाति फल्ल्याम् “त्वया शूर्त्तां घहमाना अपत्यम् ( अ० सं० २, ४, १७, १ )” — इति निगमः । ‘शूर्त्ताः क्षिप्रास्त्वरमाणाः’ — इति महभास्करमिथ्याः ॥

(८) शूघनासः । सु शब्दे उपपदे हन्तेः ‘युच् बहुलम् ( उ० २, ७५ )’ — इति युचि बाहुलकात् कुत्वं णिलोपश्च निपातं वैदीर्यश्च । शीघ्रमागच्छत्यनेन क्रियाफलम् । तस्मान् जसोऽसुक् । “सिन्धोरिव प्राध्यने शूघनासः ( य० घा० सं० १७, ६५ )” — इति निगमः । ‘शूघनासः क्षिप्रगमनाः’ — इत्युच्यते ॥

(९) शीमम् । ‘शीम कत्यने ( भू० भा० )’ । घम् । शीम्यतेऽनेन तदुचान् । “प्रयात शीमनाशुभिः ( अ० सं० १, ३, १४, ४ )”

—“आचक्षणाः पृण्ध्वं यात शशिम ( ऋ० सं० ३, २, १४, २ )”

—इति निगमौ ॥

(१०) तृप् । ‘त्रि त्वरा सम्भ्रमे ( भू० भा० ) । ‘मस्जीपो-  
पुक्’—इति घादुलकात् पुक्प्रत्ययो घातोस्तृभाचक्ष । त्वरत्यनेन  
फललाभमद्य, त्वरतेऽनेन फलमागन्तुम् । “तृप्चिप्यन्नतसेपु  
तिष्ठति ( ऋ० सं० १, ४, २, २ )” —“तृप्चीमनुप्रसितिं द्रुणानः  
( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )” —इति निगमौ ॥

(११) तृपम् । व्याख्यातमुदकनामसु ( १४४ पृ० ) । षड्दंते-  
ऽनेन तद्वन्तः श्लाघ्याः । “आपिन्धे नः प्रापित्यै तृपमा गहि ( ऋ०  
सं० ५, ७, ३०, ३ )” —इति निगमः ॥

(१२) तूर्णिः । ‘त्रि त्वरा सम्भ्रमे’ । ‘घदिधिध्रुयुदुग्लाहा-  
त्वरिभ्यो निन् ( उ० ४, ५२ )’ —इति नितृप्रत्ययः । त्वरतेऽनेन  
फलमागन्तुम् । “अणो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ( ऋ० सं० ८, ४,  
११, १ )” —“सुतमा गन्त तूर्णयः ( ऋ० सं० १, १, ६, २ )” —  
इति निगमौ ॥

(१३) अजिष्म् । अज गतिक्षेपणयोः ( भू० प० ) । ‘अजिष्-  
शिषिरशिषिलस्फिरस्फिरस्फिरस्फिराः ( १, ५३ )’ —इति किर-  
च्यत्ययो जिभाचक्ष निपात्यते । शिषलि फलोत्पत्तिमाद्यम् ।  
“इवा मीलते अजिरं दत्याय ( ऋ० सं० ५, २, १४, २ )” —इति  
निगमः ॥

(१४) भुरण्युः । भुरण्यतिर्गतिकर्मा । ‘मृगप्वाद्यश्च ( उ०  
२, ३६ )’ —इति क्युप्रत्ययः । “येना पायक चक्षसा भुरण्यं ( ऋ०

सं० १, ४, ८, १)”—इत्यत्र सान्द्रस्वामिना भुरण्यति क  
 करणार्थे—इति प्रतिपादितम् । तत्र भुरण्यस्य  
 विशिष्टगमनादिप्रित्याकर्त्तरि सत्यप्येव वृत्तिः । “श्रीशान्तु  
 दिवं भुरण्युः (ऋ० सं० १, ५, १२, १)”—इति निघण्टुः  
 ‘भुरण्यतेर्गनिकर्मण इदं, क्षिप्रनाम ‘वा’—इति स्कन्दस्वामि  
 भाष्यम् ॥

(१५) शुः । निपातः । “श्वानं वस्तो पोषयितांश्चर्वात्  
 (ऋ० सं० २, ३, ६, ३)”—इति निगमः । ‘शु आयुर्गामी’—  
 इति निरुक्तम् (६, १) ॥

(१६) आशुः । ‘अशु व्याप्ती’ । ‘कृवापाजिमिस्वदिसाध्यद्वन्  
 उण् (उ० १, १)’ । व्याप्तोत्पन्नेन नरचैलक्षणेन व्याप्तम्  
 ‘आशु इदं क्षिप्रनाम क्षिप्रगामी’—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । अ  
 इति च शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः । तेन आशु इति  
 निपातः, आशुरिति सत्यचाची च उभयमपि पठितं भवति ।  
 तथा च स्कन्दस्वामी “समाशुमाशवे भर (ऋ० सं० १, १, ८, २)  
 —इत्यत्र ऋग्भाष्ये ‘आशुमिति क्षिप्रनामैतत्’—इति । ‘आशु  
 इति शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः’—इति ( निरु० ६, १) ।  
 निर्विवक्षयोपन्यास इति चेत् ? न, निपातत्वादिति चोक्तत्वात् ।  
 “त्यमग्रे शुमिस्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० सं० २, ५, १७, १)”—इति  
 निगमः ॥

(१७) प्राशुः । ‘सत्यचाच्याशुब्धवत्’—इति भाष्ये प्रक  
 ३३३ । ‘इस्तो इन्तेः प्राशुर्दाने ( निरु० १, ७)”—इति

माष्ये 'प्राशुः शिप्रः'—इति स्वल्दस्वामी । “सुप्राव्यः प्राशुपालेष  
वीरः ( ऋ० सं० ३, ६, १४, १ )”—इति निगमः ॥

(१८) त्तुजिः । 'तुजि हिंसायाम् ( भू० प० )' । 'किं  
किनोः प्रकरणे'—इत्यर्थे 'उन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्'—इति  
किन्प्रत्ययः । लिङ्चद्वावात् द्विर्वचनम् । “तुजादीनां दीर्घोऽभ्या-  
सस्य ( ६, १, ७ )”—इति दीर्घः । तूर्णवदर्थः । 'आयुक्षाता  
मञ्चिना त्तुजि रथम् ( ऋ० सं० ७, ८, ७, १ )”—इति निगमः ॥

(१९) त्तुजानः । तोजतेर्लिटि कानजादेशः । “इन्द्रा याहि  
त्तुजानः ( ऋ० सं० १, १, ५, ६ )”—इति निगमः । 'शिप्रार्थे  
स्वर आदित अन्तोदात्तः तुगर्थस्तूतुजानो महे मतः'—इति  
माधवः ॥

(२०) तुज्यमानासः । तोजतेरेव कर्मणि लटि शानच् ।  
“तुज्यमानास आविपुः ( ऋ० सं० १, १, २१, ५ )”—इति  
निगमः ॥

(२१) अज्जाः । अजनेः 'स्फायितश्चिचञ्चि ( उ० २, १२ )—  
इत्यादिना रक् । 'बाहुलकादाद्दधातुके विकल्प इष्यते'—इति  
वैकल्पिकत्वात् घीभावाभावः । अजिरचदर्थः । “घौर्न भूमि  
गिर्यो नाज्जान् ( ऋ० सं० ८, १, २२, ३ )”—इति निगमः ।  
'अज्जान् सत्वरान् शीघ्रान्'—इति भट्टभास्करमिश्रः ॥

(२२) सार्चावित् । (२३) धुगत् । (२४) ताजत् । प्रयो  
निपाताः । सार्चाविदित्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः ॥ “अतस्त्वा  
र्गामिद्युंगदिन्द्रकेशिभिः ( ऋ० सं० ६, ६, ३६, ४ )”—इति

• निगमम् -- निगमः •

निगमः । अत्र नाप्यन्यु -- 'गुणन् शीति युनोके गच्छ इति  
 -- इति धीनद्वाये उक्त्यान् । 'यनुजानः तृणिः युगन्' --  
 शिप्रनामसु युगन्वाच्येनाप्यपाठि ॥ " तातन् -- माल्ति " --  
 " तातन् -- प्रमीपने " -- इति निगमो ॥

(२५) तरणिः । तर्णेः ' भर्त्सिमुभृथम्यश्यविनृभ्योऽतिः ( उ०  
 २, ६५ ) ' -- इत्यनिप्रत्ययः । तृनुपदर्थः । " विद्ध्यो शमी तरणि-  
 स्थेन घान्तः ( ऋ० सं० १, ७, ३०, ३ ) " -- " तर्णिविम्बदर्शने  
 ( ऋ० सं० १, ४, ७, ५ ) " -- इति निगमो ॥

(२६) घातरंहा । ' वा गतिगन्धनयोः ( अदा० ५० ) ' । इति-  
 मृमिष्यामिद्मिन्दूषुषुयिम्यस्तन् ( उ० ३, ८४ ) -- इति तद । ' तु  
 मीडायाम् ( भू० भा० ) ' ' ज्मेथ [ घेमे ] ( उ० ४, २०८ ) --  
 इत्यसुन् हुगागमश्च । घातवन् गंहो यस्य सः । " घातरंही  
 दिव्यासो अत्याः ( ऋ० सं० २, ४, २५, २ ) " -- इति निगमः ॥

इति पड्विंशतिः शिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तलित् (१) । आसात् (२) । अम्बस् (३) ।  
 तुर्वशे (४) । अस्तर्माके (५) । आके (६) ।  
 उपाके (७) । अर्वाके (८) । अन्तमा-  
 नाम् (९) । अवमे (१०) । उपमे (११) । इत्ये-  
 कादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

(१) तलित् । 'तड् भाषाते' चुरादिः । 'ताडेषिलुक् च ( उ० १, १५ )'—इतीतिप्रत्ययः । "दूरे चित् सन्तलिदिषाति रोचसे ( ऋ० सं० १, ६, ३१, २ )" —या नो ददे तलितो य अरातयः ( ऋ० सं० २, ६, ३०, ४ )" —इति निगमौ ॥

(२) आसात् । 'आस उपवेशने ( अदा० भा० )' । 'पुंसि सप्रज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )' । अन्तिके आसते । "आ न इन्द्रो दूरादान आसात् ( ऋ० सं० ३, ६, ३, १ )" —"स नो दूरा-  
चासाष्ठा ( ऋ० सं० १, २, २२, ३ )" —इति निगमौ । 'आसादि-  
त्यन्तिकनाम'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । "आसादासेः"—इति  
माधवः ॥

(३) अम्यरम् । 'वृद्धरादयश्च'—इत्यरन्प्रत्ययो मुगागमश्च  
निपात्यते । प्राप्यते ह्यासन्नम् । "यत्रासत्या परावति यद्वा ष्यो  
अध्यम्यरे ( ऋ० सं० ५, ८, २७, ४ )" —इति निगमः । स्कन्द-  
स्वामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते । स्कन्दस्वामी तु 'अन्तरिक्षनाम'  
—इति ॥

(४) तुर्वशे । व्याख्यातं मनुष्यनामनु ( १६८ पृ० ) ॥ तृणं  
व्याप्यते अन्तिकम् । "यत्रासत्या परावति यद्वा ष्यो अधि तुर्वशे  
( ऋ० सं० १, ४, २, २ )" —इति निगमः ॥

(५) अस्तमीके । अस्तंशब्दे उपपदे भातेः 'अलीकादयश्च ( उ०  
सं० ४, २५ )'—इति घीकन्प्रत्ययो धातौर्लोपश्च निपात्यते । अस्तं  
प्राप्यते अस्मिन्, अन्तिकस्थं हि नाशयते । "सचस्य नः पराक आ  
सचस्वास्तमीक आ ( ऋ० सं० २, १, १७, ४ )" —इति निगमः ॥

(६) आके । (७) उपाके । (८) अवाके । आइ  
 ल्छन्द्रेषूपपदैषु क्रामतेः 'चलाकाद्यश्च (उ० ४, १४)'—इति  
 प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते । अर्वाक् गन्ता । अत्र  
 उपकम्यते गन्तुमिः । कम्यते च ह्यासन्नम् । "आके नि  
 अहभिर्द्विद्युतः (ऋ० सं० ३, ७, २१, ६)"—  
 उपाकऽथा (ऋ० सं० १, २, २३, १)"—  
 अस्ति भेषजम् (ऋ० सं० ५, ८, ३२, ५)"—इति निगमाः ॥

(६) अन्तमानाम् । अन्तिकशब्दात्तमपि 'तमोदत्त्वं'—  
 तादिलोपः । अन्तिकतममन्तिकम् । "अघाते अन्तमानाम् (ऋ०  
 सं० १, १, ७, ३)"—  
 सं० १, २, २२, ५)"—इति निगमौ । आधुदात्तमन्तिकम्, अन्तोदत्त  
 तृतीयायद्बुचचनम्, "अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः (ऋ० सं०  
 ३, २४, ५)"—इति माधयः ॥

(१०) अयमे । 'अव रक्षणादिषु (भू० प२)' । 'अवे  
 पा' इति मप्रत्ययः । गम्यते ह्यासन्नम् । "अस्मै घृतामयम  
 सख्ये (ऋ० सं० २, ७, २४, २)"—  
 (ऋ० सं० १, ७, २७, ५)"—इति निगमौ ॥

(११) उपमे । उपपूर्वान् मिनातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (१, २  
 १०१)"—इति इः । उपच्छिद्यते हान्तिकम् । "उपमे रोचने दिव  
 (ऋ० सं० ६, ६, १, ४)"—  
 सं० १, ४, २७, ३, —इति निगमौ ॥

इत्येकादशान्तिकनामानि ॥१६॥

रणः (१) । विवाक् (२) । विखादः (३) ।  
 श्नुः (४) । भरे (५) । आक्रन्दे (६) ।  
 हवे (७) । आजौ (८) । पृत्तनाज्यम् (९) ।  
 भीके (१०) । समीके (११) । ममसत्यम्  
 (१२) । नेमधिता (१३) । सङ्गाः (१४) ।  
 मितिः (१५) । समनम् । (१६) मीड्वहे  
 (१७) । पृत्तनाः (१८) । स्पृधः (१९) । मृधः  
 (२०) । पृत्सु (२१) । समत्सु (२२) । समर्ये  
 (२३) । समरणे (२४) । समोहे (२५) ।  
 समिथे (२६) । सङ्घे (२७) । सङ्घे (२८) ।  
 संयुगे (२९) । सङ्घथे (३०) । सङ्घमे (३१) ।  
 घृत्रतूर्ये (३२) । पृक्षे (३३) । आणौ (३४) ।  
 शूरसातौ (३५) । वाजसातौ (३६) ।  
 समनीके (३७) । खले (३८) । खजे (३९) ।  
 पांस्ये (४०) । महाधने (४१) । वाजे (४२) ।  
 अज्म (४३) । सद्म (४४) । संयत् (४५) ।



संवतः (४६) । इति पट्टत्वारिंशत् संवत्  
नामानि ॥१७॥

(१) कणः । 'अण कण कण शब्दायाः (भू० प०)'  
'वशिष्टयोः कर्मण्यणम्' (३, ३, ८१ पा०) — इत्यम् । 'रन्ति  
दुन्दुभयोऽथ योधा वा पाम्परं शब्दायन्ते । पट्टा, ल्ते  
'साम्नागाम्नाभूणार्पीणाः (३० २, १३)' — इत्यादिना नन्त्ययो  
मकारलोपश्च निपात्यन्ते । 'गमर्णीयो हि मंत्रामो विचित्रकर्माधि-  
ष्टानत्पाम् । "मर्त्या इन्द्र गृपमो रणाय (ऋ० सं० ३, ३  
११, १)" — इति निगमः ॥

(२) विवाक् । विपिधा विष्टा धाचो यत्र योधानम् ।  
'द्वयन्त उ रवा द्वय' विवाचि (ऋ० सं० ५, ३, १४, २) — इति  
निगमः ॥

(३) विशाङ् । 'वद स्वैर्व्ये हिसायाञ्च (भू० प०)'  
'विशिष्ट' स्वैर्व्यमत्र शूराणां हिसनं वा । "तं विशादे सञ्चि  
मय धृतं नरम् । (ऋ० सं० ७, ८, १४, ४)" — इति निगमः ॥

(४) नदनुः । 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०) । 'ब्रुई  
नदध (३० ३, ४६)' — इति चानुद्भवत्ययः । "यदा कृणोति  
नदनुं समूहसि (ऋ० सं० ६, २, ३, ४)" — इति निगमः ॥

(५) भरे । 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)'  
'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः (३, १, १३४)' तत्र गणपाठः—  
'पच-घच-घप-घद-लप-तज-भराः' — इति । विभक्तिं पोषयति

सुभटानां धैर्यं यशो वा । यद्वा, 'पुंसि सप्तज्ञायां घः (३, ३, ११८)' । विभ्रत्यन्तेन जयलक्ष्मीं योधाः । उभयत्रापि पृषोदरा-  
देराकृतिगणत्वादाय दान्तत्वम् । यद्वा, 'भृ भर्त्सने' कृयादिः  
स्वादिश्च । भर्त्स्यन्ते हि तत्र शत्रवः । हर्त्तेर्वा भः ।  
हियन्ते हि यत्र योद्धृणामायुंषि धनानि च । 'हृग्रहोर्मश्छ-  
न्दसि (३, १, ८४ वा०)' । "अस्मिन् भरे नृत्तर्म घाजसातौ  
(ऋ० सं० ३, २, ४, ७)" — "अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु  
(ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)" — इति निगमौ ।

(६) आक्रन्दे । 'कदि कदि कृदि आह्वाने रोदने च (भू०  
आ०)' । क्रन्दन्त्याह्वयन्तेऽन्योन्यमत्र, रुदन्ति धानेन वन्यु-  
विनाशहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) आह्वे । 'ह्वेस् स्पर्द्धायाम् (भू० उ०)' । 'आडि  
युद्धे (३, ३, ७३)' — इत्यप् । 'बहुलं छन्दसि (६, १,  
३४)' — इति सम्प्रसारणञ्च । आह्वयन्तेऽत्र परस्परं म्पर्द्धया  
योधाः । "न कश्चन सहत आह्वेषु (ऋ० सं० ४, ७, ३०,  
१)" — इति निगमः ॥

(८) अजौ । 'अज गतिक्षेपणयोः (भू० ष०)' । अज्य-  
तिभ्याञ्च (उ० ४, १२७)' — इति इणप्रत्ययः । बाहुलकाद्  
वीभाषाभाषः । अजन्ति गच्छन्त्यत्र चित्रयश्चियं योद्धातः,  
कातराः पराभवं वा । एवमर्थो गत्यर्थेषु द्रष्टव्यः । क्षिप्यन्ते  
राष्ट्राणि क्षिपन्त्याक्षिपन्ति घान्योन्यं घीर्घ्यातारतम्यात् । "तेन  
पात्रं सनिषदस्त्रिजार्जौ (ऋ० सं० ८, ३, ७, ४)" — इति निगमः ॥

(१) वृत्तात्पम् । वृत्तात्पयोःसादत्रोश्च मन्वादि-  
 र्थात् ( उ० ध. १०८ ) यत्प्रत्ययः । वृत्तानां मेतानत्रयं  
 यत् । “गाया मुद्रन्ः वृत्तात्पेषु ( ऋ० सं० ८, ५, २१, १ )”  
 --इति निगमः ॥

(१०) भर्मीकं । भभिपूर्वादिनेः ‘अर्मीकादयश्च ( उ० ध.  
 २५ )’ --इतीकप्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते । यदुपा, न विजं  
 भयिर्गां ते भर्मीकाः । भर्मीकैः क्रियमाणत्वात् भर्मीकमित्यु-  
 च्यते । “पादि षस्रियो वृत्तिनादभर्मीकं ( ऋ० सं० १, ८, २६,  
 ४ )” --इति निगमः ॥

(११) सर्मीकं । संपूर्वोऽथ एतिः । धर्मीकवत् । निग-  
 मोऽन्येषणीयः ॥

(१२) ममसत्यम् । मम सत्यं जपः इति योद्धृणां  
 धाक्यविषयत्यात्मसत्यमित्याचक्षते । वृषोदरादिः । ‘त्वां  
 जना ममसत्येष्विन्द्र ( ऋ० सं० ७, ८, २२, ४ )’ --इति निगमः ॥

(१३) नेमधिता । ‘सुधितवसुधितनेमधितधिष्यधिर्षीय च  
 ( ७, ४, ४५ )’ --इति नेमपूर्वाद्घातेः तप्रत्यये इत्वमिडागमो षा  
 निपात्यते । नेमशब्दो दानपर्यायः । सप्तम्येकवचनस्याकारादेशः  
 ( ७, १, ३६ ) । “इन्द्रधरो नेमधिता हवन्ते ( ऋ० सं० ५, ३, ११, १ )”  
 --“विदन्मत्तो नेमधिता चिकित्वात् ( ऋ० सं० १, ५, १७, ४ )” --  
 “नेमधिता न पौश्या ( ऋ० सं० ८, ४, २८, १३ )” --इति निगमाः ॥

(१४) सङ्काः । सचतेर्गतिकर्मणः याहुलकाद्ङुप्रत्ययश्लो-  
 । यद्वा, संपूर्वात् किरतेः क्तन्तेर्वा ‘अन्येष्वपि दृश्यते ( ३,

१०१) —इति डः । सङ्कीर्त्यन्तेऽत्र योद्धारः, सम्यक् एव्यन्ते  
 छियन्ते आयुधैर्वा । “इषुधिः सङ्का पृतनाश्च सर्वाः (ऋ० सं०  
 ५, १, १६, ५)” —इति निगमः ।

(१५) समितिः । सम्पूर्वादिभेदेः क्तिन् । “राजानः समिताविध  
 (ऋ० सं० ८, ५, ६, १)” —इति निगमः ॥

(१६) समनम् । सम एव अथैकलव्ये (भू० प०), । समन्ति  
 विक्लवा भवन्त्यस्मिन् शूराः । “ज्या इयं समने पारयन्ती  
 (ऋ० सं० ५, १, १६, ३)” —इति “वि या सृजति समनं (ऋ० सं०  
 १, ४, ४, १)” —इति च निगमौ ॥

(१७) मीध्वहे । “मीध्वहम्” —इति धननामसु व्याख्यातञ्च  
 (२३६ पृ०) । मीध्वहार्थत्वात् संग्रामोऽपि मीध्वहम् । यद्वा,  
 मीध्वहमस्मिन्नस्तीति ‘लुगकारेकाररेफाश्च (४, ४, १२८ घा० २)’  
 —इति मत्वर्थीयस्य लुक् । “प्रघने” —इत्यपठितमपि संग्राम-  
 नाम । प्रकीर्णान्यस्मिन्निति आभरणरूपेण चूडामणिकटकवि-  
 शेषात् । “सर्मोव्वहे नर राजा हवन्ते (ऋ० सं० १, ५, ५, १)”  
 —इति निगमः । ‘सर्मोव्वहे । स्वरित्युदकनाम । उदकार्ये  
 संग्रामे भाजो अन्यस्मिन्नपि संग्रामे’ —इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ।  
 “स जामिमिर्ष्यत्समजातिमीध्वहे (ऋ० सं० १, ७, १०, १)”  
 —इति च ॥ ।

(१८) पृतनाः । ‘पृङ् व्यायामे (तु० आ०)’ ‘पृपृसां क्तिन्’  
 —इति तनन्प्रत्ययः । व्यापियन्तेऽत्र योद्धारः । “रणाय निघ्नन्  
 पृतनासु शत्रून्” —इति निगमः ।

(१६) स्पृधः । स्पृधं सहृषे (भू० भा०) । कियञ्चिच्चि  
(३, २, १७८ घा०)—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिप्रसिद्धिः (३  
२, १७८ भा०)'—इत्युक्तेः क्विप् । पृषोदरादित्वात् रैकस्य  
ऋकारोऽलोपश्च । शसि स्पृधः । स्पृधन्तेऽत्र परस्परं योद्धाः ।  
“जयेम संयुधि स्पृधः (ऋ० सं० १, १, १५ ३)”—इति निगमः ।  
स्पृध इति संग्रामनाम, तत्करोति (३, १, २५ घा० २)—इति  
णिजन्तात् क्विप्, संग्रामकारिण इत्यर्थः—इति स्कन्दस्वामि-  
भाष्यम् ।

(२०) मृधः । ‘अमर्द्धन्ता सोमपेयाय देवा (ऋ० सं० ३, १,  
२५, ४)’—‘मिहो न पातममृधम् (ऋ० सं० ३, १४, १)’—इत्यारौ  
‘मृधिर्हिसार्थः’—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । तत्र पूर्वयन् क्विप्  
शस् । “अयं सुतः सुमस्रमा मृधस्कः (ऋ० सं० २, ६, २१, ४)”—  
“यिन इन्द्र मृधो जहि (ऋ० सं० ८, ८, १०, ४)”—इति निगमौ ।

(२१) पृतसु । पृतनाशब्दश्च संग्रामनामसु पठितोऽपि  
‘नासिकापृतनासानूनां नस्पृत्स्नवो घाच्याः (६, १, ६ ३ घा० )  
—इति पृदादेशो विवृतत्वात् पुनः पाठः । “यममे पृतसु मर्त्यम्  
(ऋ० सं० १, २, २३, २)”—इति निगमः ।

(२२) समत्सु । सम्पूर्णादन्तेः क्विप् सम्भशयन्ति योद्धुणामा-  
यूषि । सम्पूर्णांमदी ह्ये इत्यस्माद्वा क्विपि समो मलोपः ।  
गंहयन्ति तत्र मुमटाः । “समत्सु त्या हयामहे (ऋ० सं०  
५, ८, ३१, ३)”—“धन्यना तीव्राः समदो जयेम (ऋ० सं० ५, १,  
१, २)”—इति निगमौ ।

(२३) समर्थे । मर्थशब्दो मनुष्यनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०) ।  
मर्थैः मरणधर्मिभिः सह वरन्ति, सहशब्दस्य सभायः । “मास्मी-  
तादृगपगूहः समर्थे (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)” — “तचस्वधाव  
श्यमासमर्थे (ऋ० सं० १, ५, ७, १)” — इति निगमौ ॥

(२४) समरणे । सम्पूर्वात् ‘ऋ सृ गतीं (भू० प०)’ — इत्य-  
स्मान् ल्युट् । “मां वृताः समरणे हवन्ते (ऋ० सं० ३, ७, १७,  
५)” — इति निगमः ॥

(२५) समोहे । ‘उहिर् दुहिर् अर्दने (भू० प०)’ । नभ्रपूर्वा-  
दुद्देश्च । सम्यगुहान्ते अर्द्यन्तेऽत्र मिथो योद्धारः । ‘अधिगव  
ओहम् (ऋ० सं० १, ४, २७, १)’ — इत्यादीं वहेरिदं रूपमिति  
स्कन्दश्यामी । स च सम्पूर्वाद्बुद्देश्चि पृगोऽपदित्यात् सम्प्रसारणे  
लघूपधगुणः । समुहान्तेऽत्र रथादिना सुमटाः, सुमटैर्वा कथयानि ।  
“समोहे वा य आशत (ऋ० सं० १, १, १६, १)” — इति  
निगमः । ‘अन्तोदात्तं संग्रामनाम, मध्योदात्तं णमुल्लन्तम्’ —  
इति माधवः । “इयत्ति रेणुं मघवा समोहम् (ऋ० सं० ३,  
५, २३, ३)” — इति णमुल्लन्तम् ।

(२६) समिधे । सम्पूर्वादिनेः ‘समीजः (उ० २, १०)’ — इति  
थक् । “यदन्यरूपः समिधे यभूथ (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)” —  
“स इन्महानि समिधानि मज्जना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)” —  
इति निगमौ ॥

(२७) सहू । सम्पूर्वात् घञिङः ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,  
१० १)” — इति ङ, ‘बहुलं सम्ब्राच्छन्दसोः (२, ४, ५४ पा०)’

(३८) गजे । 'गत मन्त्रे ( भू० प० )' । पुंसि सम्प्रसारणः ( ३, ३, ११८ ) । ध्यात्ययेन जकाराम्य लकारः । मन्त्रान्ते हि योश्चास्यत्र । 'गन्त सञ्जने ( भू० प० )'—इत्यामादायः । ध्यात्ययेन गकारलोपः । ध्याल्लि तत्र कानराः । "क्वे न परान् प्रति हन्ति मूर्ति ( ऋ० सं० ८, १६, २ )" — इति निगमः ॥

(३९) गजे । 'गत मन्त्रे ( भू० प० )' । पूर्वयन् साञ्चोर्भक्ष । "कर्मन् कर्मन्च्छतमृतिः स्वजद्वरः ( ऋ० सं० १, १५, १ )" — इति निगमः ॥

(४०) पाँच्ये । बलनामसु ध्याख्यातम् ( २३५ पृ० ) अभियर्द्धतेऽनेन । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(४१) महाधने । 'मह पूजायाम् ( भू० प० )' । 'वर्तेमां पृषदुपृहन्महज्जगच्छनृषच्च ( उ० २, २७ )' — इति निपातनम् धविः प्रीणनार्थः ( भू० प० ) । इदित्त्वान्नुम् । पचाद्यच् । षकारलोपः, इकारस्याकारध्वपृषोदरादित्त्वान् । धिनोतीति धनम् प्रीणयतीति संग्रामो यदुद्वारा । महच्चासौ धनञ्च महाधनम् । महद्धनमर्थोऽनेनेति धा । "इद्रं धयं महाधने ( ऋ० सं० १, १, १३ ५ )" — "नास्य धर्त्ता न तस्ता महाधने ( ऋ० सं० १, ३, २१ ३ )" — इति निगमो ॥

(४२) धाजे । धाजशब्दो व्याख्यातो बलनामसु ( २३१ पृ० ) । "इन्द्र धाजेषु नो श्व ( ऋ० सं० १, १, १३, ४ )" — "तं त्याजु धाजिनम् ( ऋ० सं० १, १, ८, ३ )" — इति निगमो ।

(४३) अज्म । अज गति क्षेपणयोः (भू० प०) । मनिन् ।

“अग्निर्नादीदेचिचत इदो अज्मन्ना (ऋ० सं० १, ७, १६, २)”

—इति निगमः । ‘यज्ञगृहे मुद्दे घा’—इति माधवः ॥

(४४) सनुम । सद्देर्मनिन् । अवसाद्यन्तेऽत्र प्राणितः ।

निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४५) संयत् । सम्पूर्वाद् यमेर्पतेर्षा औणादिकः क्विप् ।

यमेरनुनासिकलोपः तुगागमः । संयतन्ते संयच्छन्ति हयादीन् ।

“इलान्नः संयतं कर्त् (ऋ० सं० ५, ७, २, २)” । ‘संयत्

संग्रामः’—इति हरदत्तः । “आसंयत मिन्द्रणः स्वस्तिम्

(ऋ० सं० ४, ६, १४, ५)”—इत्यत्र ‘संयतं मुद्दम्’—इति

माधवः ॥

(४६) संवतः । सम्पूर्वाद् घनेः सम्पदादित्वात् क्विप्, अनुना-

सिकलोपे तुगागमः । संवननीयो हि शूरैः संग्रामः । “परस्या

अधि संवतः (ऋ० सं० ६, ५, २६, ५)”—“स संवतो नवजातस्तु

तुयात् (ऋ० सं० ४, १, ७, ३)”—इति निगमौ ॥

इति पदचत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

इत्यति (१) । नक्षति (२) । आक्षाणः

(३) । आनट् (४) । आपट् (५) । आपानः (६) ।

अशत् (७) । नशत् (८) । आनशे (९) ।

(१०) । इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥



(१) एवनि । भद्र वचकर्मणु ऐश्वर्यकर्मणु न प्रवेत्  
 त्यादिगनिकर्मांशानुक्रमणुगमेणम् । 'इवि आनी (मू० प०  
 "कर्त्तव्या गंगमिन्वनि (मू० सं० १, १, ३२, २)"—इति निरुक्तम् ।  
 (२) गान्ति । 'गान्ति गनी (मू० प०)' । गान्तिगनी  
 पर्यनेष्टाम् (मू० सं० ४, १, १३, २)"—"वृद्धम् विद्वन्तो एवि  
 नश्च (मू० सं० १, ४, १०, ४)" इति निगमौ । इति नश्च  
 तांति एवमिकर्मणु पठितम् इकार भागम् स्थान्दम्—इति  
 स्फन्दमामिभाष्यम् ।

(३) आक्षानः । अक्षानोर्लटि शानच् । 'सिष्यदुलं लै  
 (३, १, ३४)'—इति पादुलकाम् सिषि, उपधादीर्घश्च, प्रथ्यादिभ्यं  
 'षडो कः सि (८, २, ४१)' आदेशः प्रत्यययोः (८, ३, ५१) पत्वन् ।  
 आक्षाने शूर वसिषः (मू० सं० ७, ७, ८, १)"—इति निरुक्तम् ।  
 भाष्य द्रष्टव्यम् ॥

(४) आनद् । 'णश अदर्शने (दि० प०)' । लुङि च्लेः भन्वे  
 घसद्वरणश (२, ४, ८०)—इति लुक् । संयोगान्तलोपे (८, २,  
 २३), प्रथ्यादिपत्ये (८, २, ३६), जश्चम् । 'छन्दस्पिं इश्ये  
 (६, ४, ७३)—इति आङ्गागमः । "किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमा-  
 नद् (मू० सं० ८, ६, ५, १)"—"धर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानद् (मू०  
 सं० ८, २, १६, १)"—इति निगमौ ॥ यद्वा अक्षानोर्लटि एक्ष्वे  
 व्यत्ययेन एषो लुक्, प्रथ्यादिना पत्वम्, 'भ्रलांजशोऽन्ते (८, २,  
 ३६)' 'घाऽचसाने (६, ४, ५६)' । "उपांशुना समममृतत्वमानद्  
 (मू० सं० ३, ८, १०, १)—इति निगमाः ॥

; (५) आष्ट । अश्नोतेर्लुङि आत्मनेपदप्रथमपुरुषैकवचनम् ।

‘आष्ट मविदार्यगाधम्’—इति निगमः

(६) आपानः । ‘आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)’ शानच् । अन्तते-  
र्वधकर्मणः ‘तद्रूपम्’ इति स्कन्दस्वामी । “आपानासौ विचस्यतः  
(ऋ० सं० ६, ७, ३४, ५)”—इति निगमः । भाष्यं द्रष्टव्यम्  
(निघ० ३, १०) ॥

(७) अशात् । अश्नोतेर्व्यत्ययेन लङि च्लेः पूर्वषत् लुक् ।  
‘बहुलां छन्दस्यमाद्योगेऽपि (६, ४, ७५)’—इत्यङ्भाषः । निग-  
मोऽन्वेषणीयः ॥

(८) नशात् । नशयतेर्लृटि ‘लेटोऽडाटौ (३, ४, ६४)’ इतश्च  
लोपः परस्मैपदेषु ( ३, ४, ६७ ) । “स धीतये ते नशात्”—“न  
विः शवांसि ते नशात् (ऋ० सं० ६, ५, २, ३)”—इति निगमौ ॥

(९) आनरो । अश्नोतेर्लृटि रूपम् । “न किः स्वस्य आनरो  
(ऋ० सं० १, ६, ६, १)”—इति निगमः ॥

(१०) अश्नुते । “अतत्ततनूर्नतदामो अश्नुते (ऋ० सं० ७,  
३, ८, १)”—“ध्वश्नुहि तर्पया काममेवाम् (ऋ० सं० १, ४, १८,  
४)”—इति निगमौ ॥

इति दश ध्यासिकर्माणः ॥ १८ ॥

दभ्नोति (१) । श्रथति (२) । ध्वरति (३) ।

धूर्वति (४) । वृणक्ति (५) । वृथ्वति (६) ।

कृण्वति (७) । कृन्तति (८) । श्वसिति (९) ।

नभते (१०) । अर्दयति (११) । स्तृणाति (१२)  
 स्नेहयति (१३) । यातयति (१४) । स्फुरति  
 (१५) । स्फुलति (१६) । निवपन्तु (१७) ।  
 अवतिरति (१८) । वियातः (१९) । आतिरत्  
 (२०) । तलित् । (२१) । आखण्डल (२२) ।  
 द्रूणाति (२३) । रमूणाति (२४) । शृणाति  
 (२५) । शम्नाति (२६) । तृणेव्वहि (२७)  
 ताव्वहि (२८) । नितोशते (२९) । निवर्हयति  
 (३०) । मिनाति (३१) । मिनोति (३२) ।  
 धमति (३३) । इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः ॥१६॥

व्यातिकर्मसु शाकपूणेरतिरिक्ता एव “विज्याकः”—“इ-  
 द्यचाः”—“विघ्ने”—इति स्कन्दस्यामी ॥

(१) दम्नोति । “दम्भु दम्भे” स्वादिः (प०) । “त्रत्पा  
 वेत्ता धा दध् यन्ति भूण्यः (अ० सं० १, ४, २०, २)”—इति  
 निगमः ॥

(२) भयति । भय क्रय क्रय हित्तापाम् (भू० प०) । भयत्  
 पृत्रमुन सनोति पात्रम् (४, ८, २७ १)”—“नय पुते नयति य  
 भयिष्टम् (अ० सं० ५, ६, २३, ५)”—इति निगमौ ॥

(३) ध्वरति ।

(४) धूर्वति । 'तुर्व धुर्व दुर्व धुर्व हिंसार्थाः (भू० प०)' ।  
 षष्ठायाञ्च (८, २, ७८) — इति दीर्घः । "धूरसि धूर्व धूर्वन्तं  
 र्व (प० पा० सं० १, ८)" — इति निगमः ॥

(५) घृणक्ति । घृजी घर्जने रुधादिः । "नि चक्रेण रथ्या  
 षष्ठा घृणक् (ऋ० सं० १, ४, २६, ४)" — इति निगमः ॥

(६) वृधति । 'मध छेदने' तुदादिः । प्रहिज्या (६, १, १६)  
 — इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'बृध्वा मध्यं प्रत्यम' ऋणीहि (ऋ०  
 सं० ३, २, ४, २)" — "विवृध घत्रेण घृत्रमिन्द्रः (ऋ० सं० १, ४,  
 ८, ५)" — इति निगमौ ॥

(७) कृण्वति । 'कृषि हिंसाकरणयोः (भू० प०)' व्यत्ययेन  
 धिन्विहृण्णोरच (३, १, ८०) — इत्येतन्न भवति ॥

(८) कृस्तति । 'कृती छेदने (पा०)' तुदादिः । 'शेमुचा-  
 दीनाम् (७, १, ५१)' । "धि दन्वूर्योनाचकृतो कृषायाद् (ऋ० सं०  
 १, ५, ४, ४)" — इति निगमः ॥

(९) श्वसिति ॥

(१०) नमते । 'णम तुम हिंसायाम्' (भू०) भात्मनेपदी ।  
 "नमन्ता मन्यके समे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)" — इति निगमः ॥

(११) भर्दयति । 'भर्द हिंसायाम्' (भू० प०) भाधृवीयः ।  
 "धृवं पिपर्वाभर्दयन् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)" — इति निगमः ॥

(१२) स्मृणति । 'स्मृन् भाच्छादने' रुधादिः रुधादिः । 'कटु  
 वृषामोऽ भस्मृणम् (ऋ० सं० ६, ४, ४१, ५)" — इति निगमः ॥

(१३) स्नेहयति । 'स्निहृ स्नेदने' शुभ्रदिः । 'क. स. सीपु पूर्व्याः ( अ० सं० १, ५, २१, २ )'—इति निगमः ।  
यनिर्यधकर्मां—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१४) यानयति । 'यनि निकारोपम्कारयोः, शुभ्रदिः । 'अ. तयन्त शितयो नघमघाः ( अ० सं० १, ३, २, १ )'—इति निगमः

(१५) म्फुरति । (१६) स्फुरति । 'म्फुर स्फुरणे' स्फुर सञ्चरणे' तुदादिः, कुटादिः । "पदा क्षुम्पामिव म्फुरत् ( अ० सं० १, ६, ६, ३ )"—"भाद्रौ इमे पिम्फुरन्ती भमिप्रान् ( अ० सं० ५, १, १६, ४ )"—इति निगमः । 'म्फुरतीनि घघकर्मसु पाठ्यं—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) निघपन्तु । 'डु घप घीजसन्ताने ( अ० ३० )'—एत् स्मात् लोट् । "अन्यन्ते अस्मधिघपन्तु सेनाः ( अ० सं० २, ६, १८, १ )"—इति निगमः ॥

(१८) अघतिरति । तरनेर्लट् 'बहुल छन्दसि ( ७, ४, ७८ )—इतीत्थम् । "अघातिरज्ज्योतिषान्निस्तमांसि ( अ० सं० ५, ११, १ )"—"अदिन्द्र शास्वीरघातिरः ( अ० सं० २, १, २०, ४ )"—इति निगमो ॥

(१९) वियातः । 'तत्र वियात इत्येतद् वियातयन् इति वियातयेति घा ( निरु० ३, १० )'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी तस्य समाधिर्मर्थं व्याचष्टे—'विपूर्वस्य यातयतेर्या वे इत्ये वियातय इति भवति धारयः पारयः इतिवत् । तस्य सम्बोधनम् वियातयेति । वियातयितरिति घा-पाठान्तरम्—इति । धारय-

राख्येति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'ध्यत्ययो बहुलम् ( ३, १, ८५ )—इति  
अस्मादपि 'अनुपसर्गांल्लिम्पविन्द ( ३, १, १३८ )'—इति सूत्रेण  
राप्रत्यय इति दर्शयति ॥

(२०) आतिरत् । आङ्पूर्वात्तरतेर्लङ् पूर्ववत् इत्वम् । "इन्द्रः  
भूमिरातिरत् दासमर्कः"—इति निगमः ॥

(२१) सलित् । अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७२ पृ०) ॥

(२२) आखण्डल । 'खड खडि कडि भेदे ( ५० )'  
शुरादिः । अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् ( ३० ५, ७२ )'—इति  
पाठुलपादयच् । "आखण्डल प्रहयसे ( ऋ० सं० ६, १, २४,  
२ )"—इति निगमः ॥

(२३) दृणाति । 'दृ हिंसायाम्, कयादिः । "सृष्वी मनु  
प्रसिति दृणानः ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )"—इति निगमः ॥

(२४) र्गणाति । 'रमु क्रीडायाम्' भूवादिरात्मनेपदी,  
ध्यत्ययेन ण्ना, परस्मैपदम् ॥

(२५) शृणाति । 'शृ हिंसायाम्' कयादिः ध्यादिश्च । "शृणाति  
पीलुञ्जति गिधराणि ( ऋ० सं० ८, ४, १५, १ )"—इति निगमः ॥

(२६) शप्नाति । 'शमु उपशमे' दिपादिः । ध्यत्ययेन धा  
"शिशिरं जीषनापकम् ( निट० १, १० )"—इति निगमः । 'शिशिरं  
शृणानेः शप्नातेषां—इति निरुक्तम् ( १, १० ) । 'शप्नातेः  
हिमार्थम्"—इति रकन्दमार्मी ॥

(२७) नृनेष्यति । 'नृदि हिंसायाम्' कयादिः । लटि निधि  
एकारभाषः । निगमोऽन्येर्नृजायः ॥

(१३) स्नेहयति । 'ष्णिह स्नेहने' शुरादिः । 'यतीषु पूर्व्यः (ऋ० सं० १, ५, २१, २)"—इति निगमः । 'यतिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१४) यातयति । 'यति निकारोपस्कारयोः' शुरादिः । 'तयन्त क्षितयो नघग्याः (ऋ० सं० १, ३, २, १)"—इति निगमः ।

(१५) स्फुरति । (१६) स्कुलति । 'स्फुर स्फुरणे' क सञ्चलने' तुदादिः, कुटादिः । "पदा क्षुम्पमिव स्फुत् (ऋ० सं० १, ६, ६, ३)"—"आर्जो इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं० ५, १, १६, ४)"—इति निगमः । 'स्फुरतीति वधकर्मणु १३१"—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) निवपन्तु । 'टु घप घीञसन्ताने (भू० उ०)'—'स्मात् लोट् । "अन्यन्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः (ऋ० सं० १४, १)"—इति निगमः ॥

(१८) अघतिरति । तरतेर्लोट् 'यदुल छन्दसि (ऋ० सं० ५, ११, १)"—"अघातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि (ऋ० सं० ५, ११, १)"—"यदिन्द्र शारदीरघातिरः (ऋ० सं० २, १, १५)"—इति निगमो ॥

(१९) वियातः । 'तत्र वियात इत्येतद् वियातयति वियातयेति वा (निघ० ३, १०)"—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी तस्य समाधिमर्घं व्याचष्टे—'विपूर्वस्य यातयनेर्वा वेङ्गो वियातय इति भयति धारयः पारयः इतिवन् । तस्य सप्तोऽर्थः वियातयेति । वियातयित्पिति वा पाठान्तरम्—इति । धातु

इति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'व्यत्ययो बहुलम् ( ३, १, ८५ )—इति  
 षादपि 'अनुपसर्गाल्लिम्पिन्द ( ३, १, १३८ )'—इति सूत्रेण  
 अथ इति दर्शयति ॥

(२०) आतिरत् । आङ्पूर्वात्तरतेलंड् पूर्ववत् इत्वम् । "इन्द्रः  
 रंतिरत् दासमकैः"—इति निगमः ॥

(२१) तलित् । अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७५, पृ०) ॥

(२२) आखण्डल । 'खड् खडि कडि भेदे ( ५० )'  
 षदिः । अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् ( ३० ५, ७२ )'—इति  
 हुलकादलच् । "आखण्डल ग्रहयसे ( ऋ० सं० ६, १, २४,  
 )"—इति निगमः ॥

(२३) टृणाति । 'टृ हिंसायाम्, ऋयादिः । "तृप्वी मनु  
 सेति टृणानः ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )"—इति निगमः ॥

(२४) रम्णाति । 'रमु षीडायाम्' भूषादिरात्मनेपदी,  
 त्ययेन इत्, परस्मैपदम् ॥

(२५) ऋणाति । 'ऋ हिंसायाम्' ऋयादिः ष्यादिश्च । "ऋणाति  
 ण्त्सुञ्जति स्थिराणि ( ऋ० सं० ८, ४, १५, १ )"—इति निगमः ॥

(२६) शम्नाति । 'शमु उपशमे' षिपादिः । व्यत्ययेन ध्वा  
 'शिशिरं जीघनायकम् ( निद० १, १० )"—इति निगमः । 'शिशिरं  
 टृणातेः शम्नातेषां—इति निदक्तम् ( १, १० ) । 'शम्नातेः  
 ईसार्थस्य—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२७) तृणेव्यदि । 'तृहि हिंसायाम्' रुधादिः । लटि त्तिपि  
 आरम्भायः । निगमोऽन्येषणीयः ॥



(२८) ताड्यति । 'तड् भाषात्रे' गुरादिः । हन्मञ्जु  
पृगोश्शरदिषाम् रूपसिद्धिः । "वि शूश्रून्तावृद्धि वि ह  
नुदम्य (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)"—इति निगमः ॥

(२९) निनांशते । शोशने नैरुक्तो घानुः । "मन्दी नक  
शोशते (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)"—"इन्दुरिन्द्राय शोशने शिबोले  
(ऋ० सं० ७, ५, २१, ११)"—"सुनासीरा हविषा शोशनताः"—  
इति निगमाः ॥

(३०) नियर्हयति । 'यर्हि हिंसायाम्' चुरादिः, निर्वृत्तेः ।  
"यर्हिष्यते नि सदध्राणि यर्हयः (ऋ० सं० १, ४, १६, १)"—इति  
निगमः ॥

(३१) मिनाति, (३२) मिनोति (३३) धमति । गतिक  
व्याख्याताः ( २५६ पृ० ) । "न ता मिनन्ति मायिनो न धी  
(ऋ० सं० ३, ४, १, १)"—"न मिनन्ति वेधसः"—"उशिम्यं  
नामिमीत धर्णाम् (ऋ० सं० २, ५, २४, ५)"—इति मिनातेर्नि  
गमाः । अत्र 'मिनातिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी । "घान  
धर्णं चरत आमिनाने (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—"उ  
द्वियर्धा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"—इति  
मिनोतेर्निगमौ । अनयोः, 'मिनोतिर्वधकर्मा'—इति स एव ।  
"वि सप्तशिमरधमत्तमांसि (ऋ० सं० ३, ७, २६, ४)"—इति  
निगमः ॥

इति त्रयस्त्रिंशत् धधकर्माणः ॥ १६ ॥

दिद्युत् (१) । नेमिः (२) । हेतिः (३) ।  
 नमः(४)। पविः(५)। सृकः(६) । वृकः(७) ।  
 वधः (८) । वज्रः(९)। अर्कः(१०) कुत्सः(११)।  
 कुलिशः (१२)। तुजः (१३) । तिग्मम् (१४) ।  
 मेनिः (१५) । स्वधितिः (१६) । सायकः (१७) ।  
 परशुः (१८) । इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

(१) दिद्युत् । 'द्युत्दीप्तौ (भू० आ०)' । द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च (३, २, १७८ वा० २)'—इति क्विपि द्वित्ये, 'द्युत्स्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७, ४, ६४)' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । द्यतेर्वा क्विपि पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः । द्यति शत्रून् । "अस्तुर्न दिद्युत्त्वेप प्रतीका ( ऋ० सं० १, ५, १० ४ )" — "यत्रा घो दिद्युद्रदति ( ऋ० सं० २, ४, २, १ )" — "या ते दिद्युद्वमृष्य ( ऋ० सं० ५, ४, १३, ३ )" — इति निगमः ।

(२) नेमिः । नयतेः 'नियोमिः ( उ० ४, ४३ )'—इति मि प्रत्ययः । नयति शत्रून् विनाशं, नीयन्तेऽनेन वा पेश्वर्यात् । यद्वा, णमु प्रहृत्ये (भू० ५०)' । उत्सर्गाच्छन्दसि गमादिभ्यो-दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति क्विप्रत्ययः । लिङ्घदभावाद् द्विर्घचने 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६, ४, १२०)' अन्तर्णो-

• निगमम्—निघण्टुः •

(४) राजनि । 'गन् ईगौ (भू० उ०)' सतिन् । 'विद्या-  
विद्या विराजनि (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—"राजन्नामव्ययान्  
(ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमौ ॥

इति चत्वारः तेष्वर्ष्यकर्मणः ॥ २१ ॥

राष्ट्री (१) । अर्ष्यः (२) । नियुत्वान् (३) ।  
इनइन (४) । इति चत्वारोऽश्वरनामानि ॥ २२ ॥

(१) राष्ट्री । राजनेरैश्वर्यकर्मणः (निघ० २, २१, ४) । इत्  
सर्घधानुभ्यः ( उ० ४, १५४ )—इति इन् प्रत्ययः । इध्धादिना  
( ८, २, ३६ ) पत्यम् । पित्वान् ईन् ( ४, १, ४१ ) । "राष्ट्री  
देशानां निपस्ताद् मन्द्रा (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)"—इति निगमः ॥

(२) अर्ष्यः । 'ऋ गतौ (भू० प०)'—इत्यस्मात् ष्यति प्राप्ते  
'अर्ष्यस्वामिवैश्ययोः (३, १, १०३)'—इति यन्निपात्यते । गम्यते  
हि सर्वैरीश्वरः । "समर्ष्यो गा अजति यस्य षष्टि (ऋ० सं० १,  
३, १, १)"—मंहिष्ठो अर्ष्यः सत्पतिः (ऋ० सं० ६, १, २५, ६)"  
—इति निगमौ ॥

(३) नियुत्वान् । नियुच्छब्दो व्याख्यातः 'नियुतो षायो'  
त्यत्र (१७१ पृ०) । नियुतोऽश्वाः तामिस्तडान् । 'तसौ मत्वर्ष्ये  
१, ४, १६)'—इति मसंज्ञाया विधानाज्जश्त्वम् न भवति ।  
यज्ञमवसे नियुत्वान् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"—इति

अस्य स्थाने “पति.”—इति केचित् पठन्ति । तत्र ‘पा रक्षणे (अदा० प०)’ ‘पातेर्डतिः (उ० ४, ५७)’ । रक्षिता हीश्वरः । ‘पिता पाता वा पालयिता वा’—इति भाष्ये (निरु० ४, २१) अत्र पातेर्ण्यन्ताद् वाहुलकात् डतिः रूपसिद्धिश्च स्कन्दस्वामिना उक्ता । “शिमिन् वाजानां पते (ऋ० सं० १, २, २७, २)”—इति निगमः ॥

(४) इनः । एनेः सम्भाजनार्थं वर्तमानात् समुपसर्गार्थविशिष्टाद्वा ‘इण्सिञ्जिदीङ्गुप्यचिभ्यो नक् (उ० ३, २)’—इति नक् प्रत्ययः । अर्थस्तु ‘तत्रेन इत्येतरसनितः (निरु० ३, ११)’—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना विस्तरेणोक्तः । “इतो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः (ऋ० सं० २, ३, १८, १)”—इति निगमः ॥

इति चत्वारिंशदध्यायः समाप्तः ॥ २२ ॥

इति ध्रुवराज्यञ्चधिरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अपस्तुङ्मनुप्याआययप्रुवो वश्म्यन्ध  
आवयत्योजोमघमन्व्यारेलतेहेलोवर्त्ततेनुतलिद्रण  
इन्वतिदभ्नोतिदिद्युदिरज्यति राष्ट्रीति द्वाविं-  
शतिः ॥

इति निघण्टो द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥ ..



(४) भूरि । भवतेः 'अदिशदिभूशुमिभ्यः क्तिन् (उ० ४, ६५)'  
—इति क्तिन्प्रत्ययः । भवति तत् सर्वस्यानुग्रहदा । "यत्र गाघो  
मूष्णिशूहा अयासः ( ऋ० सं० २, २, २४, ५ )" —इति निगमः ॥

(५) शश्वन् । 'दृ शो ष्वि गतिवृद्धयोः (मू० ५०)' । 'संध्य  
मृग्यद्रेहन् ( उ० २, ७६ )' —इत्यादिना द्विर्ध्वनम्, अभ्यासवका-  
रेकारेकारस्याकारे द्वित्वमाद्युदात्तञ्च निपात्यते । परिषर्द्धते  
गम्यते षा । "अहं धनानि सञ्जयामि शश्वतः ( ऋ० सं० ८, १,  
५, १ )" —"यच्चिद्धि शश्वता तना ( ऋ० सं० १, २, २१, १ )" —  
इति निगमौ ॥

(६) पिश्वम् । (७) परीणसा ।

(८) व्यानशिः । विपूर्वाद्भोतेष्टसर्गतश्छन्दसि गमादिभ्यो  
दर्शनान् ( ३, २, १७१ भा० ) —इति क्तिः । द्वित्वम् । अत  
भावेः भधोनेध । विविधं व्याप्नोति । "व्यानशिः पवसे  
सोमधर्मभिः ( ऋ० सं० ७, ३, १२, ५ )" —इति निगमः ॥

(९) शतम् । 'पद्निःषिंशतिस्त्रिंशत्पञ्चाशत्पञ्चाशन्पष्टि-  
रामल्पशीतिनपतिशतम् ( ५, १, ५६ )' —इति दशदशांशमावस्त  
च निपात्यते । "दशदशतः" इति निष्कम् ( ३, १० ) ।  
निपातनसामर्थ्यान् बहुमात्रेऽपि पसंने । "वाजयामः शतप्रतो  
( ऋ० सं० १, १, ८, ४ )" —इति निगमः ॥

(१०) सदस्मम् । सदो कटनामसु ध्याण्यात्तम् (२३४ ५०) ।  
ते माचर्यीकः । अत्रापि भाषिनी शक्तिरस्ति । "सदस्मा-  
शाप पात्रे व्योमन् ( ऋ० सं० २, ३, २२, १ )" —इति निगमः ॥

(११) सलिलम् । व्याख्यानमुदकनामसु ( ११७ पृ० ) ।  
 गम्यते हि जलस्य । "प्रसंगे सलिलं सर्वमा इदम् ( अ० सं०  
 ८, ७, १७, ३ )"—इति निगमः । 'सलिलमिति यदुक्तम् ।  
 सलिलं कुपिदिनि पाठान्"—इति द्वादशः ॥

(१२) कुपिम् । निपातोऽयम् । "कुपिन् सोमस्यागमिति  
 ( अ० सं० ८, ६, २६, २ )"—इति निगमः ॥

इति द्वादश यदुनामानि ॥ १ ॥

ऋहन् (१) । ह्रस्वः (२) । निवृष्वः (३) ।  
 मायुकः (४) । प्रतिष्ठा (५) । कृधु (६) ।  
 वभ्रकः (७) । दभ्रम् (८) । अर्भकः (९) ।  
 क्षुल्लकः (१०) । अल्प (११) । इत्येकादश  
 ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

(१) ऋहन् । 'रुह धीजजन्मनि ( भू० प० )'—'रुह त्यागे  
 ( भू० प० )' । अनयोः 'संक्षत्तृम्पद्भेदित्यादयः ( उ० २, ७६ )'  
 —इति रेफस्य सम्प्रसारणम्, इतिप्रत्ययः, शतृवद्भावश्च निपा-  
 त्यते । तत्र, दण्डनाथवृत्तिः—'आदिग्रहणाद्रिद्विषदित्यादयो  
 भवन्ति'—इति । आरुहते हि ह्रस्वो वृक्षादिः, त्यज्यते वा  
 दीर्घार्धिभिः । "वृहन्तं चिद्वहते रुधयानि ( अ० सं० ७, ७,  
 १, ३ )"—इति निगमः ॥

(२) ह्रस्वः । 'सर्वनिघृष्यभृष्यलष्यशिषपद्ब्रष्येष्थो अतन्त्रे'  
—इति घनप्रत्ययान्तो निपात्यते । ह्रसतिः शब्दार्थे षट्ठितः,  
तथाप्यत्र न्यूनार्थे घर्त्तते । "नमो ह्रस्वाय च घामनाय च ( य०  
षा० सं० १६, ३० )" —इति निगमः ॥

(३) निघृष्यः । घृषु सङ्घर्षे ( भू० ष० ) । अत्र न्यूनार्थः ।  
शुभ्रधलक्षणः कः । ह्रस्वघर्षः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) मायुकः । 'डु मिभ् प्रक्षेपणे ( ऋया० उ० )' । 'ह्रवापा  
( उ० १, १ )' —इत्युण् । स्वार्थे कः । प्रक्षिप्यतेऽनायासेन ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) प्रतिष्ठा । प्रतिपूर्वात् तिष्ठतेन्यूनार्थात् 'घन्नर्थे कवि-  
घानम् ( ३, ३, ५८ षा० )' —इति षाड्गुलकात् कर्त्तरि कः ।  
प्रतितिष्ठति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) कृषु । 'कृती छेदने ( ऋ० ष० )' । 'पृषिदिष्यधिगृधि  
धुषिभ्यः ( उ० १, २३ )' —इत्यादिना षाड्गुलकात् कुप्रत्ययस्त-  
कारस्य घकारश्च । 'निघृन्तमिष हि तद् भवति ह्रस्वत्यादेव' —  
इति स्कन्दस्वामी । "यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्षान् ( ऋ० सं०  
४, ६, १३, ३ )" —इति निगमः ॥

(७) घन्नकः । 'डु घम उद्विरणे ( भू० ष० )' न्यूनार्थः ।  
'स्फायितञ्चिञ्चि ( उ० २, १२ )' —इत्यादिना षाड्गुलकाद् ।  
ततः स्वार्थे कः ( ५, ३, ६७ ) । "घन्नकः पद्विरुपसर्पदिन्द्रम्  
( ऋ० सं० ८, ५, १५, ६ )" —इति निगमः । "स्तयानो घन्नो  
विजघान मन्दिहः ( ऋ० सं० १, ४, १०, ४ )" —इत्यत्र 'घन्नः



हस्यनामैतत् द्रष्टव्यम् । स्वार्थिककप्रत्ययान्तो हस्यनामसु पठितः  
इति स्कन्दम्यामी ॥

(८) दस्रम् । दस्रतिन्यूनार्थः । 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० ३, १२)'—इति रक् । 'नेद्घशि कृति (७, २, ८)'—इति त्व-  
प्रतिषेधः । दस्रं पश्यदुभ्य उर्विया निचक्ष ( ऋ० सं० १, ८, ६  
५ )"—इति निगमः ॥

(९) अर्मकः ।

(१०) धुल्लकः । धुधं लाति । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' । स्वार्थे कः । 'धुधं लाति धुल्लकः'—इति क्षीरस्वामी ।  
'नमो महदुभ्यः धुल्लकेभ्यश्च धुल्लका शिपिविष्टका'—इति  
निगमः ॥

(११) अल्पः । 'अलं भूयणपर्व्याप्तियारणेपु' । 'अल्लित्ति-  
शीङ्गुपाभ्यः पः'—इति पः । "अल्पा एतं परापो मूत्रं  
उपतिष्ठे रन्"—इति निगमः ॥

इत्येकादश हस्यनामानि ॥ २ ॥

महत् (१) । ब्रह्मः (२) । षट्प्वः (३) ।  
वृहत् (४) । उक्षितः (५) । तवसः (६) ।  
तविपः (७) । महिपः (८) । अभ्यः (९) ।  
अमुक्षाः (१०) । उक्षाः (११) । विहायाः (१२) ।

यह्नः (१३) । ववक्षिथः (१४) । विवक्षसे (१५) ।  
 अम्भृणः (१६) । माहिनः (१७) । गभीरः (१८) ।  
 ककुहः (१९) । रभसः (२०) । ब्राधन् (२१) ।  
 विरप्शी (२२) । अद्भुतम् (२३) । वंहिष्ठः (२४) ।  
 वर्हिपत् (२५) इति पञ्चविंशतिर्महद्नामानि ॥३॥

(१) महन् । 'मानेनान्यान् जहातीति शाकपूणिर्महनायो  
 भवतीति वा ( निरु० ३, १३ )'—इति भाष्यम् । 'मानेन  
 स्वगुणेन परिमाणेन अन्यान्, यदपेक्ष्य तस्य महत्त्वं, तान् जहाति  
 अतिक्रामति मानशब्दात् जहातिष्वेति शाकपूणिः । निर्यचनलाघ-  
 वात् महनेः पूजाकर्मणो घदत्याद्यार्ष्यः'—इति स्कन्दस्वामी ।  
 उभयत्रापि 'चर्त्तमाने पृक्पुबुद्धन्महत् ( उ० २, ३८ )'—इत्यतिप्रत्यये  
 निपातनाडूपसिद्धिः । "महत्तदुल्लयं स्थविरं तदासीत् ( ऋ० सं०  
 ८, १, १०, १ )"—इति निगमः ॥

(२) ब्रध्नः । व्याख्यातमश्वनामसु ( १६५ पृ० ) । यद्भाति  
 स्वगुणैः सर्वान् धेतनदानेन भृत्यादीन् । "युञ्जन्ति ब्रध्नरु-  
 पञ्चन्तम् ( ऋ० सं० १, १, ११, १ )"—इति निगमः ॥

(३) ब्रुष्यः । 'ब्रुष गतो ( तु० ५० )' । सर्वनिघृष्य ( उ०  
 १५१ )—इति घन्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते । गम्यते हि  
 महान् सर्वैः गतो वा भूमिम् । इमावर्थौ गत्यर्थेषु बोद्धव्यौ ।  
 'ऋषिर्दर्शनात् ( निरु० २, ११ )'—इति भाष्यादपि दर्शनार्थम् ।

दर्शनीयो हि महान् । “ऋष्यात् इन्द्र स्थविरस्य वाङ् (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)”—इति निगमः ॥

(५) वृद्धम् । ‘वृद्धि वृद्धौ ( मू० प० )’ ‘घर्तमाने वृद्धवर्द्ध’ (उ० २, ७८) - इति निपातनम् । परिवृद्धं भवति हि महत्त्वं पर्यन्तेऽन्मिन्नेत्यर्थादि पर्यन्तेऽनेन समाश्रितः । वृद्धयर्थेऽप्येवमर्थो बोद्धव्यः । “वृद्धवदेम विदधे सुर्वागः (ऋ० सं० २, ५, १६, ६)”—“उरोर्ऋष्यस्य वृद्धतः (ऋ० सं० १, २, १७, ४)”—इति निगमौ । उरोर्ऋष्यस्येत्यत्र ‘ऋष्यस्य महत्त्वात् यल्लवतः, वृद्धः एतदपि महत्त्वमैव । वेगसम्यग्धेन न च पुनरुक्तिः । महत्त्वेनेन शीघ्रस्येत्यर्थः’—इतिस्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५) उक्षितः । ‘उक्षतिर्विध्यर्थः’—इतिस्कन्दस्वामी । तिष्ठा-  
यामिङ्गागमः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) तवसः । तवतिवृद्ध्यर्थः । ‘अत्यधिकमितमिनमिर-  
मिलभिनमितपिपतिपनिपणिमहिन्व्योऽसच् ( उ० ३, ११२ )’ ।  
“रजस्तुरं तवसं मारुतं गणम् (ऋ० सं० १, ५, ८, २)”—  
“तन्त्वा गृणामि तवस मत्तव्यान् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)”—  
इति निगमौ ॥

(७) तविपः । तवतेरेव । ‘तवेर्णिद्धा ( उ० १, ४८ )’—इति  
टिपच्प्रत्ययः । “सानु गिरीणां तविपेभिरुर्मिमिः (ऋ० सं० ४,  
८, ३०, २)”—इति निगमः ॥

(८) महिपः । महते ‘अविमह्योष्टिपच् ( उ० १, ४५ )’ महत्-  
वर्थः । यदुघा, महतेः क्विप्, सप्तम्येकधचनम्, सदैः अन्येष्वपि

इष्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्ययः, 'तत्पुरुषेऽहिति यदुलम् (६, ३, १४)'—इति अलुक्, 'सुपामादिषु च (८, ३, ६८)'—इति षत्वम् । महि महति स्थाने सीद्दास्ते महिषः । "महिषासौ मायिनश्चित्रमानवः (ऋ० सं० १, ५, ७, २)"—इति निगमः ॥

(९) धम्ब । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । धा समन्तात् भवतीति कीर्त्तित्वान् । यद्वा, भवतेः सत्तार्थात् प्राप्यर्थाद्वा नञ्पूर्वात् 'नञिमुषो डित्'—इति कन्प्रत्ययः । न भवत्यनेनोपद्रवोऽस्मिन्निति वा न प्राप्यते लेशीः । "न ये चातस्य प्रमिनन्त्यम्बम् (ऋ० सं० १, २, १४, १)"—धा यो नो धम्ब इपते (ऋ० सं० १, ३, १६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१०) ऋमुक्षाः । 'ऋ गतौ (भू० प०) । 'अर्त्तोर्भुक्षि नक्'—इति भुक्षिन्प्रत्ययः । पश्चिमध्यमुक्षामात् (७, १, ८५)' 'इतोऽत् सचर्णनामस्थाने (७, १, ८६)' । उरु चिस्तीर्णं भाति, ऋतेन सत्येन यज्ञेन वा भाति भवति वा, ऋभुः मेधाधी महत् स्थानं वा । उरुशब्दादुपपदाद् भातेर्भवतेर्था 'मृगव्यादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य उचर्णटिलोपः सम्प्रसारणञ्च निपात्यते । क्षयतेरैश्वर्यकर्मणः क्षियतेर्था 'वृतेऽङ्ङदसि (उ० ४, १३६)'—इति षाहुलकादिनि टिलोपश्च । ऋभूणां क्षयति ईष्टे, ऋभो महति स्थाने निवसति वा । "त्यमृमुक्षानर्यस्त्वं षाट् (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)"—इति निगमः ॥

(११) उक्षा । उक्षतेर्बृद्ध्यर्थात् 'भवन्मुक्षन्पूषन् (उ० १, १५५)'—इति कन्प्रत्ययान्तो निपात्यते । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१२) विहायाः । घहिहाधाम्भ्यश्छन्दसि (उ० ४, २१५)  
—इति जहातेर्जिहीतेर्या वाहुल्यकात् पुगभावेऽपि युगागमो निर-  
त्यते । “कृष्णादुदस्यादर्याश्च विहायाः (श्र० सं० २, १, ४, ७)”  
—इति निगमः ॥

(१३) यहः । यजतेः ‘शेवयहजिह्वाप्रीवाप्वार्मावा (उ० १,  
१५२)’—इति घन्प्रत्ययो जकारस्य हकारश्च निपात्यते । यज्ञो  
देवपूजादिकं करोति । यद्वा, ‘यसु प्रयत्ने (दि० प०)  
‘यसोश्च’—इति कन्प्रत्ययः’—इति भोजदेवः । यस्यति प्र-  
त्यते शशुत्याञ्जयादी । ‘यह इति महतो नामधेयम्  
यातश्च, हतश्च भवति’—इति (निरु० ८, ८) भाष्ये ‘यात-  
धासावाहतश्च पार्थिभिः, हतधासौ शरणार्थिभिः, दिवपानुत्तवं  
दर्शितम्’ इति स्कन्दस्वामी । ततोऽत्र यातेर्हयतेश्च गेहे कः (१,  
१, १४४)’ इति वाहुल्यकात् भूने कप्रत्ययो ह्यतेः सम्प्रसारणा-  
भायश्च । “प्रयो यहं पुरुषाम् (श्र० सं० १, ३, ८, १)—इति  
निगमः ।

(१४) यपश्शिथ । (१५) विपश्शसे । ‘तत्र यपश्शिथ विप-  
शस इत्यन्ते (निरु० ३, १३)’—इत्यादि भाष्ये भनयोराख्यातयोर्म-  
ह्यामसु पञ्जीयत्यं महदुपाचकत्यं योपपादितम् स्कन्दस्वामिना ।  
यपश्शिथेऽपत्र ‘सन्वत (८, ४, ७१)’—इतीत्याभाषः, एकपयनस्य  
त्वाने बहुपयनम्, शकारान् परस्यकारस्येत्यञ्च व्यत्ययेन । “भनि-  
विरयं यपश्शिथ (श्र० सं० १, ६, १, ५)”—इति पायकशोधिर्  
विपश्शसे (श्र० सं० ७, ७, ४, १)”—इति निगमो ॥

(१६) अम्भृणः । अमतेः क्विप् । विमत्तैः 'एणसिभृजिदि-  
१, २)'—इत्यादिना थाहुलकात् नप्रत्ययः । "पिराङ्भृष्टि-  
भृणम् (अ० सं० २, १, २२, ५)"—इत्यत्र 'अम्भृणस्य महतः  
ऋस्य हेतुभूता'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) माहिनः । महतेः । 'महेरिण्ष (उ० २, ५३)'  
इति णप्रत्ययः । "प्रत्यो न हर्मिस्तोमं माहिनाय (अ० सं०  
४, २७, १)"—इति निगमः ॥

(१८) गर्भीरः । पाङ्नाप्रसु व्याख्यातम् (६६ पृ०) । प्रति-  
ष्टो महति स्थाने लिप्यन्ते । "उच्यन्ते धरिमता गर्भीरम् (अ०  
१, ७, २६, २)"—इति निगमः ॥

(१९) ककुहः । 'ककु सहने' । 'ककेरुहः'—इति उह  
प्रत्ययः सहने अभिमयति शत्रून् सहने क्षमनेऽपराधान् वा ।  
"यच्यन्ते वा ककुहासः (अ० सं० १, ३, ३३, ३)"—इति निगमः ।  
'ककुहः इति मटप्राम'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२०) रमसः । 'रम रामस्ये' (भू० धा०) । 'अत्यपिच-  
मितमिनमिरमिलमिनमितपित्तिपतिपणिमहिभ्योऽसच् (उ० ३,  
११३)' । रमने महान्ति कर्माणि, संरम्यते वा शत्रुषु । "अघेनं  
पृषा रमसासो भटः (अ० सं० ८, ५, ३, ४)"—इति  
निगमः ॥

(२१) घाघन् । प्रन्थानेः 'संभृत्पुण्डुवेहदित्यादयः (उ० २, ७६)'  
—इतीति प्रत्ययः धा भागमध्य निपात्यन्ते । "न घाघतोतदुयो  
दंतुभूतः (अ० सं० २, १, २, ४)"—इति निगमः ॥

(२२) विरष्णी । 'रपल्प व्यक्तायां वाचि (भू० प०)' विपूर्व । 'रपभृक्प्रत्यभिकुम्भ्यः शक्'—इति बाहुलकान् शक् । विविधं स्तीति विरष्णाः तेऽतारः, तोस्य सन्ति इति विरष्णी । 'यद्वक् विविधं रपणं तदस्यास्ति वा । महि महः इत्यसुश्रन्तगाश्च । विरष्णी गोमती मही ( ऋ० सं० १, १, १६ ३ )"—इत्यादीनाम् न्तोपादानं सन्देहनिवृत्त्यर्थम् । "कृत्चे अपिचो विरष्णीन् (ऋ० सं० ४, ७, १२, २)"—"विरष्शिने षञ्जिणे शन्तमानि (ऋ० सं० ४, ७, ४, १)"—इति निगमौ ।

(२३) अद्भुतम् । भू सत्तायाम् (भू० प०) । 'अदि भुगे डुतच् (उ० ५, १)' । 'अदित्याश्चर्यार्थोऽव्ययम्'—इति क्षेरेः स्वामी । तत्र सम्पूर्वाद् विभर्त्तेर्वा बाहुलकात् डुतन् प्रत्यये समोऽभावश्च । सम्यक् पोपितो घनादिभिः, सम्यक् शिभर्त्त श्रिनेनेति वा । "सदसस्पतिमद्भुतम् (ऋ० सं० १, १, ३५ १)"—षयद्रुतस्याद्भुतस्य दक्षा ( ऋ० सं० १, २, २२, ४ )"—इत्यत्र 'महन्नामाद्युदात्तः स्यादत्राश्चर्यभूतेऽन्तोदात्तः खरः'—इति माघवः । "तत्र स्तुरीपमद्भुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)"—इति निगमः ॥

(२४) वंहिष्ठः । 'यहि महि घृत्तो' (भू० आ०) लङ्घि वंहोर्न लोपश्च । (उ० १, २८) - इति बहुपदम्, तत इष्टप्रत्ययः । 'वंहते-वंदुलम् मन्थर्थावः—इति क्षीरम्यामी । अतिशयेन बहुन्तो वंहिष्ठ । त्रियम्बिरम्बिरोप्यदुल (६, ४, १५३)"—इत्यादिना वंहादेशः । 'नियुक्तपद्मकल्पकृत्स्नमूलकृत्स्नपुष्टपिस्तदुल्लादयः'—इति वंहिष्ठ-

स्यप्रत्ययो न्योपश्च निपात्यते । अन्यत् पूर्ववत् । “यद्वं-  
दिष्टम् नाति विधेसुदान् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, ३)”-इति निगमः ॥

(२५) यर्हिपन् । वृह वृदि वृद्धौ (भू० प०) । वृर्हेर्नलो-  
पश्च (उ० २, १०२)-इति इतिप्रत्ययः यर्हिःशब्द उपपदे सतः  
'सत्सृष्टिप (३, २, ६१)'-इत्यादिना क्त्विप् । पृयोदरादित्याद्  
यर्हिपः सकारलोपः । सुपामादित्यात् (८, ३, ६८) पत्वम् । यद्वा  
'मनिने (८, ३, १६)'-इति । 'सर्वधातुम्यः (उ० ४, ११५)'-इति  
एत् । अन्यन् पूर्ववत् । परिसृद्धे म्याने स्यादति दि महान् ।  
निगमोऽन्येवर्णायः ॥

इति पञ्चविंशतिर्महानामानि ॥ ३ ॥

गयः (१) । कृदरः (२) । गर्तः (३) ।

हर्म्यम् (४) । अस्तम् (५) । पस्यम् (६) ।

दुरोणे (७) । नीलम् (८) । दुर्याः (९) । स्वस-

राणि (१०) । अमा (११) । दमे (१२) ।

श्रुतिः (१३) । योनिः (१४) । सद्म (१५) ।

शरणम् (१६) । वरुधम् (१७) । छर्दिः (१८) ।

छदिः (१९) । छाया (२०) । शर्म (२१) ।

अज्म (२२) । इति ह्वाविंशतिर्हनामानि ॥४॥



गयः । व्याख्यातमपत्यनामसु (१६० पृ०) । गम्यते वात्स-  
गच्छत्यनेन सुखम् । गत्यर्थे च्वेयमर्थो बोद्धव्यः । गीयते सृ-  
स्यास्थ्यातिशयेन, श्रवन्त्यस्मिन् स्थिता देवा इति च । “मत्स-  
द्वाशुषे गयम् (मृ० सं० १, ५, २१ २)” —इति निगमः ॥

(२) हृदरः । ‘हृती छेदने’ (तु० द० प०) । ‘हृदादयश्च  
(उ० ५, ४४) —इति अरन्प्रत्ययो गुणामावध्व सकारस्य द्कारश्च  
निपात्यते । हृत्यते छिद्यतेऽनेन क्लेशः परिच्छिन्नं वा सुरात्-  
मर्यादया । यद्वा, ‘हृद् आदरे’ (तु० आ०) । ‘महिवृद्भिनिधि-  
मध्व’ (३, ३, ५८) —इत्यप् । हृतो दर आदरोऽत्र हृतदरः । शृ-  
दरादित्वात् (६, ३, १०६) तशब्दलोपः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) गर्तः । ‘शृ शब्दे’ (मृ० प०) स्तुतिकर्मा वा । हसि-  
मृमिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३) —इति तन्प्रत्ययः ।  
शब्दयते तस्मिन् स्तूयते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) हर्म्यम् । ‘हम् हरणे’ (भू० उ०) । ‘मध्यविध्यशिष्य-  
इति षयन्प्रत्ययो मुडागमो गुणश्च निपात्यते । हरति अनुत्तिथने  
आर्हायतेऽत्र धान्यादि । यदुषा, ‘अम ह्रम हम्म मीमृ गतीं  
(भू० प०) । भघ्न्यादित्वाद् (उ० ४, १०८) षक्प्रत्ययः ।  
“मन्योरियाय हर्म्येषु तर्षां (मृ० सं० ८, ३, ४, ४)” —इति  
निगमः ॥

(५) अस्तम् । ‘अत् भुवि’ (अदा० प०) । ‘अस्त गतिरी-  
प्यादानेषु (भू० उ०) । ‘असु क्षेपणे’ (दि० प०) । ‘हसिमृमिण्वामि  
(उ० ३, ८३) —इति षानुलकान् तन् । द्वितीयेक्ययत्

भवत्यङ्गनसुखं क्षीयते हि तत् । आदीयते स्वीक्रियते वा  
तदर्शिमिः, क्षियन्तेऽस्मिन् पदार्थाः इति वा । “अस्तं न गायो  
मक्षन्त इदम् ( ऋ० सं० १, ५, १०, ५ )”—इति निगमः ।  
“तमग्निमस्ने पसयो न्युष्वन् ( ऋ० सं० ५, १, २३, २ )”—इति च ।

(६) पस्त्यम् । ‘मध्यविध्य’—इत्यादिर्नोणादिकः षयच्,  
नुगागमध्य निपात्यते । पसन्त्यस्मिन् । यद्वा, पन्लृ गतो ( भू०  
प० ) । निपातनान् सकार उपजनः । पस्त्या ‘पसेः सङ्गत्यर्थे  
पा’—इति माध्यः । “घरुणः पस्त्याश् स्या ( ऋ० सं० १, २,  
१७, ५ )”—“प्रप्र दाश्यान् पस्त्यामिरन्धित ( ऋ० सं० १, ३,  
२१, २ )”—इति निगमो । ‘पस्त्यमिति गृह्णाम । अजादित्यात्  
( ४, १, ४ ) टाप्’—इति स्कन्दस्वामी ।

(७) दुरोणे । ‘रास्त्रासास्त्रा’—इत्यादिभोजसुत्रे आदिप्रह-  
णान् दुरोणादयः—इति वृत्तिः । दुःपूर्वान् भवतेनेकि रुटि  
गुणः । ‘दुरोण इति गृह्णाम । दुःसामपन्ति दुस्तर्पाः ( निरु०  
४, ५ )’—इति माध्ये दुराश्रयंभ्यायनेः रक्षणार्थस्य तर्पणार्थस्य  
वा व्युटि छान्दसत्यान् वस्त्रमारणम्, भाद्रगुणध । गृहादयो  
दुःसामपन्ति दुन्तर्पा इति पय्यायेणास्यार्थकथनम्—इति  
स्कन्दस्वामी । “सुयोदमुता मनिषिदुंरोणे ( ऋ० सं० ३, ८,  
१८, ५ )”—“मध्ये निरनोण्योः दुरोणे ( ऋ० सं० १, ५, १३,  
२ )” इति निगमो ॥

(८) मीयन् । ‘आइकोइदुहोडादयः’—इति उड्यत्त्ययः,  
अप्यशारेर्लोपो गुणामाषध निपात्यते । मीयन्तेऽत्र पदार्थाः,

● निगमम्—निषण्डः ●

नयति गुणनिःस्पृहानमिति वा । “मा यो महः कृतः सन्तुष्टिः  
( ऋ० सं० ८, १, १०, १ )”—इति निगमः ।

(८) दुष्याः । ‘दुषीं हिसायां ( मू० प० )’ । ‘अप्युगद्विद्वं  
पत्प्रत्यये षकारलोपे दीर्घाभाष्ये निपात्यन्ते । हिसन्ति मीनादि  
दितं दुःखम् । यद्वा, दुःशब्ददुष्यान् यातेः घञर्थे कविचान्  
( ३, ३, ५८, पा २ )’—इति कः । ‘दुःस्मेन प्राज्यन्ते, दुः गृहद्वारि  
मर्हन्तीति वा दुष्यां गृहा उच्यन्ते’—इत्युपट् । “अवीरहा प्रवर्ष  
सोम दुष्यान् ( ऋ० सं० १, ६, २२, ४ )”—इति निगमः ।

(१०) स्वसराणि । ध्याख्यातमहर्नामसु ( ७५ पृ० ) । स्वे  
स्वनेन त्रियते प्राप्यते न्यैर्गृह्यतो ज्ञातिभिः त्रियते, सुपुं  
अस्यन्ते पासिन् पदार्थाः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(११) अमा । ‘अम गतिपक्षराशेषु ( मू० प० )’ । पुंलि  
सम्प्रज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )’ । गम्यन्तेऽस्मिन् मस्यन्ते  
शब्दायन्ते वा । यद्वा, निपातोऽयम् । “अमात्यम् ( ऋ० सं०  
५, २, २०, १ )”—इत्यत्र, उपटः—‘अमा गृहवचनः सहवचनो  
वा । अव्ययात् त्यप् तत्र भव इत्यर्थे । गृहे सत्याहा भवति  
अमात्यः’—इति । “सा नो अमा सो अरणे निपातु ( ऋ० सं०  
८, २, ५, ७ )”—“अमा सते वहमि भूरिचामम् ( ऋ० सं० २, ६,  
६, २ )”—“अमाजूरिच पित्रोः सचासती ( ऋ० सं० २, ६, २५,  
२ )”—इति निगमाः ॥

(१२) दमे । ‘दम उपशमने ( दि० प० )’ । घञ् । ‘नीदा-  
सोपदेशस्य ( ७, ३, ३४ )’—इति वृद्धिप्रतिषेधः शांभ्यतेऽनेन

शीतादि, दान्तःकलेशः । “वर्द्धमानं स्वेदमे (ऋ० सं० १, १, २, ३)”  
—“हस्तकर्तारं दमेदमे (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)”—इति निगमौ ॥

(१३) कृत्तिः । ‘वृत्ती छेदने (तु० उ० प०)’ क्तिन् कृदरव-  
दर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) योनिः । व्याख्यातमुदकनामसु (१३७ पृ०) । मिश्र-  
तेऽग्नेन सुषुम्, पृथग्भूयन्तेऽग्नेनानिष्टा इति परीर्वीतो वा प्राकारा-  
दिना जायेव । “जायेव योनाथरं विश्वस्मै (ऋ० सं० १, ५, १०,  
३)”— इति निगमः ॥

(१५) सदुम । सदेर्मनिन् सीदत्यस्मिन् । “सदुमेव धीराः  
सस्माथ वजुः (ऋ० सं० १, ५, ११, ५)”—इति निगमः । ‘सदुम  
शृणाम’—इति स्वन्दस्वामी ॥

“धर्म” इति केचिन् पठन्ति । वृणोतेर्मन् । त्रियते तेन  
सम्पद्यते वा गृह्णिमिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) शरणम् । शृणातेः ‘शुच् यद्गुलम् (उ० २, ७४)’—इति  
शुच् । शृणाति शीतादिवल्ग्रेणाम्, रक्षितवान् वा कलेदोभ्यः ‘शरिः  
प्राप्त्यर्थः’—इति माधयः । प्राप्यते हि तन् । “तोदस्येच  
शरण भा महस्य (ऋ० सं० २, २, १६, १)”—इति निगमः ॥

(१७) परुणम् । ‘वृञ् परणे (स्या० उ०)’ । जृवृञ्म्या-  
मृपन् (उ० २, ५)’ । धर्मवदर्थः । “भवा परुणं गृणते धिमावो  
(ऋ० सं० १, ४, २४, ४)”—इति निगमः ॥

(१८) उर्दिः । ‘उर्दं सन्दीपने (सु० प०)’ ‘अर्चिगुचिदुसुपि-  
रुर्दिभ्य इति (उ० २, १०१)’ । सन्दीप्यते शालया । “प्रतो

पञ्चानन्दपुत्रं पृथुच्छदिः (अ० सं० १, ४, ५, ५) —“सप्त  
मलिगच्छदिः (अ० सं० १, ४, ५२, १)”—इति निगमो ॥

(१६) छदिः । ‘छद् माघरणे (पु० उ०)’ । निव् । कृत्  
पदिम् । ‘छादेने दुग्गुणसर्गाण्य (६, ४, १६)’ । ‘स्मन्वर्षी  
स (६, ४, १७)’—इति तस्यः । षिन्लोपः । छादेने द्विच्छ् ।  
निगमोऽन्येषणीयः ॥

(२०) छाया । ‘छो छेदने (वि० प०)’ । माष्ठासर्मक्यो  
यः । वृत्तियदर्धः । छायाकरत्पाद्वा छाया । “यस्य छाया ४  
(अ० सं० ८, ७, ३, २)” —इति निगमः ॥

(२१) शर्म । शृणातेः शरेः धयनेर्वा मन् । धयतेर्वाहुलकाः  
सिद्धिः । धीयने द्वि तत् । अन्यत्र शरणवर्धः । “स्थाने  
न्दस्य शर्मणि (अ० सं० १, १, ८, १)” —“त्रिधातुरारमं वृ  
शुमस्यती (अ० सं० १, ३, ४, ६)” —इति निगमो ॥

(२२) अज्म । अजेः ‘अस्तिस्तुसुदुसृष्टिश्च (उ० १, १३)  
—इत्यादिना बाहुलकान् मन् । अस्तवर्धः । “येषामज्मै  
पृथिवी (अ० सं० १, ३, १३, ३)” —इति निगमः ॥

इति दुवाचिंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति (१) । विधेम (२) । सप-  
र्यति (३) । नमस्यति (४) । दुवस्यति (५) ।  
ऋभोति (६) । ऋणद्धि (७) । ऋच्छति (८) ।

सपति (६) । विवासति (१०) । इति दश परि-  
चरण कर्माणः ॥ ५ ॥

(१) इरज्यति । 'इरज् ईर्ष्यायाम्' कण्डूपादिः, गतिक  
मसु । धनेकार्पत्वात् इत्यादि यदुक्तं तस्मिन्नध्याये सर्वत्र धातुषु  
तद् योद्धव्यम् ॥

(२) विधेम । 'विध विधाने' तुदादिः । लिङ्ङुत्तमपुरुष-  
यद्ब्यचनम् । "यज्ञे विधेम तमसा हविर्मिः ( ऋ० सं० २, ७,  
२४, २ )" — "हविष्मन्तो विधेम ते ( ऋ० सं० १, ३, ८, २ )" —  
"—होतेव सदुम विधतो वितारीत् ( ऋ० सं० १, ५, १, १ )" —  
इति निगमः ।

(३) सपर्वति । 'सपर पूजायाम्' कण्डूपादिः । "दूतं देव  
सपर्वति । ( ऋ० सं० १, १, २३, २ )" — इति निगमः ॥

(४) नमस्यति । 'नमोचरिषधिप्रकः षयच् ( ३, १, १६ )' ।  
नमसः सम्प्रदायाम् । नमः करोति । "इन्द्रं नमस्यन्तुपमेभिरर्षैः

(७) मरणदि । अरण्येन भम् ॥

(८) मरुत्तनि । 'मरुत्त गरीन्द्रियमन्त्र्यमूर्तिनाम्' (मु० प०) ॥

(९) सपति । 'सप समवाये (मु० प०)' । "अविदुर्वासे विदुषः सपेम (मृ० सं० ४, ५, १८, ५)"—इति निगमः ।

(१०) विद्यासति । नैरुक्त्यातुः । 'विदुर्वासे वसेर्वि' । 'एन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति शपि आर्द्धधातुकत्वात् 'जिलोपः'—इति भट्टभास्करमिश्रः । 'हविष्मा' आधिपत (मृ० सं० १, १, २३, ३)" ।

इति दश परिवर्णकर्मणः ॥ ५ ॥

शिम्वाता (१) । शतरा (२) । शातपन्ता

(३) । शर्म (४) । स्यूमकम् (५) । शेष्वधम् (६) ।

मयः (७) । सुग्न्यम् (८) । सुदिनम् (९) ।

शूषम् (१०) । शुनम् (११) । शग्मम् (१२) ।

भेषजम् (१३) । जलापम् (१४) । स्योनम् (१५) ।

सुन्नम् (१६) । शेवम् (१७) । शिवम् (१८) ।

शम् (१९) । कम् (२०) । इति विंशतिः सुख

नामानि ॥ ६ ॥

(१) शिम्वाता । 'शिङ् निशाने (स्वा० उ०)' । 'निम्बविम्ब-  
म्वद्विम्वडिम्वस्त्रम्वसम्वादयः'—इति शिनोतेर्वप्रत्ययो भुम्  
पात्यते । अततेर्घञ् । दुःखानि तनूकुर्यत् प्रार्थ्यते ॥

(२) शतरा । शतं बहु, अनेकमिन्द्रियप्रसादादि शति  
इति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' ॥

(३) शातपन्ता । 'शो तनूकरणे (दि० प०)' निष्ठा । पततेः  
हसिमृषि पवामि (उ० ३, ८३)—बाहुलकात् तन् । शातेन  
दुःखानां तनूकरणेन पत्यते स्तूयते । त्रिष्यपि द्विषवचनस्था-  
कारः । "मित्रेव क्रता शतरा शातपन्ता (ऋ० सं० ८, ६, १,  
५)"—इति निगमः ।

(४) शर्म । व्याख्यातं गृहनामसु (३१८ पृ०) । "ता नो  
दर्शाः सुहृदाः शर्म पच्छत (ऋ० सं० ४, २ २८, ७)"—इति  
निगमः ॥—अस्य स्थाने "शिशुः"—इति केचित् पठन्ति । 'शल्  
गतौ (भू० प०)' । 'पल्लिरल्लयोर्गुक् च'—इति गुक्प्रत्ययो बाहु-  
लकादकारभ्येकारः । गम्यते पुण्यवद्धिः गच्छत्यनेन तृप्तिम्,  
पच्छति पान्त्यमनित्यत्वात् । एवमर्था गत्यर्थेषु योद्धव्याः ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) स्पूमकम् । 'श्विु तन्नुशान्ताने (दि० प०)' । अवि-  
सिविसिशुविभ्यः क्विन् (उ० १, १४१)—इति मन्प्रत्ययः ।  
'छ्वयोः श्चानुनासिके च (६, ४, १६)' यणादेशः, स्वार्थे कः ।  
स्पृतं पुण्यवति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) शीघ्रम् । शीघ्रं उपपदे वृद्धेः (गणपद्योगः क-



शेषस्य षर्द्धयित् शेषधम् । पृषोदरादित्वाद्दुमयत्र रूपसिद्धिः  
 “सशेषधमधिघाद्युन्नमस्मे ( ऋ० सं० १, ४, १८, ६ )”—इति  
 निगमः ॥

(७) मयः । ‘मिन् हिंसायाम् ( स्वा० उ० )’ । अतुः ।  
 हिनस्ति दुःखम् । “मयः कृणोपि प्रय आ च सुरये ( ऋ० सं० १,  
 २, ३३, २ )”—इति निगमः ॥

(८) सुगम्यम् । सुपूर्वात् गमेः अप्र्यादित्वात् यत्प्रत्यय  
 उपधालोपश्च । “उपा ददानु सुगम्यम् ( ऋ० सं० १, ४, ५, ३ )”  
 —“आ सुगम्याय सुगम्यम् प्राता ( ऋ० सं० ६, २, ७, ५ )”—  
 इति निगमौ ॥

(९) सुदिनम् । व्याख्यातमहर्नामसु (७५ पृ०), अत्र सुपूर्वम्  
 सुष्ठु चति दुःखम्, खण्ड्यते वा भाग्यविपर्ययेण । निगमोऽन्ये-  
 पणीयः ॥

(१०) शुभम् । व्याख्यातं फलनामसु (२३३ पृ०) । शुभ-  
 त्यनेन दुःखम्, मियाघदञ्च सुखम् । “सास्माके भिरैतीव  
 शशैः ( ऋ० सं० ४, ५, १४, ४ )”—इति निगमः ॥

(११) शुनम् । ‘शुन गतो ( तु० प० )’ । गेहे कः ( १, १,  
 १४४ )—इति पादुलकात् फः । “शुनं नः फाला विहृणु मूर्ध्नि  
 ( ऋ० सं० ३, ८, ३, ८ )”—शुनं दुधेयं मधपानमित्त्रम् ( ऋ० सं०  
 ३, २, ४, ७ )—इति निगमौ ॥

(१२) शम्भम् । शंशब्दे उपपदे गमेः गेहे कः ( १, १,  
 १४४ )—इति कः । गमहनेत्युपधालोपः ( ६, ४, ३८ ) । पृषोदरा-

त्वात् शमो मलोपः । सुगं गम्यतेऽनेन दुष्प्रज्ञादिशमनेन वा ।  
 दा, शकेः 'युजित्तिजिद्वी कुञ्ज (उ० १, १४३)'—इति पाठुल्लकात्  
 स्वप्रत्ययः, ककारस्य गकारश्च । शक्नोति तृप्ति जनयितुम् ।  
 'वास्तोष्पते शग्मया संसदाते (ऋ० सं० ५, ४, २१, ३)'—इति  
 निगमः ॥

(१३) भेषजम् (१४) जलायम् । व्याख्याते उदकनामसु  
 (१४६ पृ०) त्रिपञ्चदशसु सुखनाम । "गर्द्रं जलायमेपजम् (ऋ०  
 सं० १, ३, २६, ४)"—इति निगमः ॥ 'जलायजं सुखादोष-  
 घम्'—स्कन्दस्यामिभाष्यम् ॥

(१५) स्योनम् । 'यियु तन्नुसन्ताने (दि० प०)' । 'सिचे-  
 ऐयूद् च (उ० ३, ८)'—इति नप्रत्यये गुणः । स्यूमवदयः ।  
 स्योनमिति सुखनाम, 'स्यतेरघस्यन्त्येतन्'—इति (निद० ८, ६)  
 भाष्ये 'स्यनेः सेवतेश्च स्योनम्'—व्याख्यातं स्कन्दस्यामिना ।  
 तत्र पाठुल्लकात्प्रत्यये ऐयूद् । "देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋ०  
 सं० ८, ६, ८, ४)"—"स्योना पृथिवि भवान् (ऋ० सं १, २, ६,  
 ५)"—इति निगमौ ॥

(१६) सुप्लम् । 'रास्त्रासास्त्रासस्रसुप्लनिम्नेति भोजसूत्रम् । शोम-  
 नेव कर्मणा मीयते निमीयते, सुप्लु मीयते परिच्छिद्यते भागेनेति  
 वा । "क षः सुप्ला नव्यांसि (ऋ० सं १, ३, १५, ३)"—"सुप्लाव्यं  
 पत्तयामसि (ऋ० सं० ६, ४, ५५, १)"—इति निगमौ ॥

(१७) शेवम् । (१८) शिवम् । 'शीद् स्वप्ने (अदा० आ०)'  
 'इण्शीभ्यां घन् (उ० १, १५०)' । 'सर्वनिघृष्य (उ० १, १५१)'

—इति शीङो ह्रस्वत्वं घन्प्रत्ययो—गुणामावध निपातः  
 'शेषमिति सुखनाम (निघ० १०, १७)' इत्यादि भाष्ये। शिष्णो  
 व्युत्पादितावेतौ। तत्रार्यस्तु—शेषति हिनस्ति क्लेशं, शेषति  
 वा स्वाश्रयम्। “जने न शेष आहूर्यः सन् (ऋ० सं० १, ५, २३  
 १३, २)” —“ शिषाभिर्न सयमानामिरागात् (ऋ० सं० १, ५, २३  
 २)” —इति निगमौ ॥

(१३) शम्। निपातोऽयम्। यद्वा, शाम्यतेर्विन्। शानवि  
 क्लेशानाम्। “शं ते सन्तु प्रचेतसे (ऋ० सं० १, १, १५  
 २)” —इति निगमः ॥

(२०) कम्। अयमपि निपातनम्। “श्रियमेकं मानुषि  
 सम्मिदिशिरे (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)” —“आ वो मधू त्वाव  
 कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)” —इति निगमौ। “धद्धे कनिष्ठ  
 चरतो वितर्तर्म् (ऋ० सं० १, ७, १४, २)” —इत्यत्र 'कनिष्ठ  
 सुखनामेदमव्ययम्' —इति हरदत्तः ॥

इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

निर्णिक् (१) । वद्विः (२) । वर्षः (३) ।  
 वपुः (४) । अमतिः (५) । अप्तः (६) । प्सुः (७) ।  
 अन्नः (८) । पिष्टम् (९) । पेशः (१०) । कृश-  
 नम् (११) । प्सरः (१२) । अर्जुनम् (१३) ।

ताम्रम् (१४) । अरुप्यम् (१५) । शिल्पम् (१६) ।  
इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

(१) निर्णिक् । 'जिजिर् शौचपोषणयोः (जु० उ०)' निशब्द-  
पूर्वः क्विप् । निर्णिकं द्वि तन्, पोषयति वा प्रीतिम् । "वरुणो  
वस्त निर्णिकम् (ऋ० सं० १, २, १८, ३)"—इति निगमः ॥

(२) घञिः । घृञ् घरणे (स्या० उ०) । 'आट्टगमहनजनः  
किकिर्नो लिट् च (३, २, १७१)' द्विर्वचनम्, कित्वाद् गुणाभावात्,  
यणादेशः । तद्धि स्याध्रयमावृणोति, त्रियते वा । "विद्युद्  
भवन्ती प्रति घञि मौहत (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)" इति  
निगमः ॥

(३) घर्षः । 'वृङ् सम्भक्तौ' (ऋ० आ०) । 'वृञ्शीङ्  
भ्यांरुपस्वाङ्गयोर्बुद् च (उ० ४, १६६)'—इत्यसुन् । भज्यते हि  
तत् । वृणोतेर्वा वाहुलकादसुन् युद् च । घञिषदर्थः । "मा  
घर्षो अस्मदप गूढ पतत् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)"—इति  
निगमः ॥

(४) घपुः । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । उप्यते  
स्याध्रयः "घपुर्मिराचरतो धन्यात्त्या (ऋ० सं० १, ५, २, ३)"  
—इति निगमः ॥

(५) अमतिः ॥

(६) अप्सः । 'अप्स इति रूपनामाप्सातेः (निरु० ५, १३)'  
—इत्यादिभाष्ये स्कन्दस्यामिना अप्सशब्दो ध्युत्पादितः । तत्

अस्त्रेमाः (१) । अनेमाः (२) । अनेयः  
 (३) । अनवद्यः (४) । अनभिशास्ताः (५) ।  
 उक्थ्यः (६) । सुनीयः (७) । पाकः (८) ।  
 वामः (९) । वयुनम् (१०) । इति प्रशस्यस्य ॥८॥

(१) अस्त्रेमाः । 'अत्रियु गतिशोपणयोः (प०)' दिवादिर्नम्पूर्वः, 'मनिन् सार्यधातुभ्यः (उ० ४, १४०)'—इति मनिनि बाहुलकात् आह्रमायः, 'लोपोऽयोर्यन्त्रि (६, १, ६६)'—इति घकारलोपः, गुणः । न गच्छत्यकीर्त्तिम्, अगम्यो सत्पुरुषाणाम्, न गच्छत्यस्माद् गुणाः । "अस्त्रेमाणं तरणि घीलु जग्मम् (श्र० सं० ३, १, ३४ ३)"—इति निगमः ॥

(२) अनेमाः । नम्पूर्वाअयतेर्मनिन् । नेतुमशक्यो दुर्मागम् । निगमोऽन्वेषणीयः ।

(३) अनेयः । 'जिदि कुरुसायाम् (भू० उ०)' नम्पूर्वः, आग-मानित्यत्वान्नुम् न क्रियते, 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' "माध्य-न्दिनस्य सधनस्य वृषहन्ननेय (श्र० सं० ६, ३, १६, १)"—इति निगमः ॥

(४) अनवद्यः ।

(५) अनभिशास्ताः । 'शास्त हिंसाशाम् (अदा० प०)' । निग-मोऽन्वेषणीयः ॥

(६) उक्थ्यः । 'घच परिभाषणे (अदा० प०)' । 'पावु-क्षेपचिरिचिसिचिम्यारथक्' (उ०-२, ६)' सम्प्रसारणश्च । उक्थ-

अस्तुतिपर्यायः । उक्थमर्हति । 'उन्दसि च (५, १, ६७)'  
—इति यः । स्तुत्यर्ह इत्यर्थः । "कृतुर्मचत्युक्थ्यः (ऋ० सं०  
१, १, ३२, ५)"—गाय गायत्र मुक्थ्यम् (ऋ० सं० १, ३, १७,  
४)"—इति निगमौ ॥

(७) सुनीधः । नयतेः 'इतिकृप्तिरमिकाशिम्यः क्थन् (उ०  
२, २, ३)' । नीधा स्तुतिः । शोभना नीधा यस्य सः । हिरण्य-  
हस्तो असुरः सुनीधः (ऋ० सं० १, ३, ७, ५)"—"गर्माखेपा  
असुरः सुनीधः (ऋ० सं० १, ३, ७, १)"—इति निगमौ ॥

(८) पाकः । पातेः 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ०  
३, ४१)"—इति कन् । रक्ष्यते राजादिना गुणयत्यात् । "त पाके-  
न मनसा वश्यमन्तितः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)"—इति निगमः ।  
"अपाको विष्णुर्यशसे पुरुणि"—इति च ॥

(९) घामः । घनपण सम्मत्तौ (ऋ० ५०)' । 'इपिगुधीन्धि-  
दस्तिश्यासुसूभ्यो मक् (उ० १, १४२)"—इति घाहुलकागमकप्रत्ययः,  
नकारस्याकारश्च । सम्मजनीयो हि प्रशस्यः । "न दूढ्ये ३ अनु-  
ददासि घामम् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)"—इति निगमः ॥

(१०) घयुनम् । अजतेः 'अजियमिश्रीड्भ्यश्च (उ० ३, ५८)"—  
इत्युनप्रत्ययः, घीमावः । अस्त्रैमचदर्थः । 'घयुनं वेतेः, कान्तिर्वा  
प्रशा घा (निद० ५, १४)"—इति भाष्यम् । तत्र घाहुलकादुनन्,  
मत्पर्योयस्य लृक्, कान्तिमान् प्रशाघान् घा । "धिमान्तमग्निर्ये-  
युनञ्च वाघताम् (ऋ० सं० २, ८, २० ४)"—इति निगमः ॥

॥ इति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

केतः (१) । केतुः (२) । चेतः (३) ।  
चित्तम् (४) । क्रतुः (५) । असुः (६) । धीः (७) ।  
शचीः (८) । माया (९) । वयुनम् (१०) ।  
अभिख्या (११) । इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥६॥

(१) केतः । 'चायु पूजानिशामनयोः (मू० उ०)' । 'चायः क्त' (उ० १, ७५)—इति तप्रत्ययो धातोः कौरादेशो गुणश्च । पूज्ये । 'पुरुषोऽनुनेकेतमायम् (मू० सं० ८, ५, १, ५)'—इति निगमः ॥

(२) केतुः ।

(३) चेतः । (४) चित्तम् । 'चिती सप्रज्ञाने (मू० १०)' । 'अञ्जिष्टसिन्धुः (उ० ३, ८६)'—इति धादुलकात् क्तः । केतवदर्थः—'ऋतावानं विचेतसम् (मू० सं० ३, ५, ६, ३)'—'सन्त्याचितं चित्तेन ममृतम्' इति निगमो ॥

(५) क्रतुः । व्याख्यातं कर्मनामसु (१८३ पृ०) क्रियतेऽनप्यधर्मादिविचारः । 'अग्निर्होता कविक्रतुः (मू० सं० १, १, १, ५)'—इति निगमः ॥

(६) असुः । अस्यतेः 'ऽसुस्वृस्निह्रिष्यसिपसि (उ० १, १०)'—इति उपत्ययः । 'असुरिति प्राणनाम (निघ० ३, ८)'—इतिभाष्ये, अस्यति क्षिपत्यनर्थान्, अस्ताः क्षिताः अस्यामर्थाः इत्यर्थप्राप्यनर्थपरिहारात्मकमुभयमपि प्राप्नोति ॥ १ ॥

(७) धीः । (८) शची । व्याख्याते कर्मनामसु (१८५, १८६)

१)। निधीयते द्रव्येषु, धारयत्यर्थान् ध्यायन्तेऽनया देवताः,  
यन्ते भवगम्यन्तेऽनयार्थाः, गच्छत्यनया इष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहा-  
इ। “चिदसि मनामि धीरमि (य० घा० सं० ४, १६)”—  
शेषावसुर्धियावयम् (ऋ० सं० १, १, २, १)”—“ऋणोरक्षं न  
चीमिः (ऋ० सं० १, २, ३१, ५)”—इति निगमाः ॥

(६) माया । ‘माङ् माने (अदा० आ०) । ‘माहाससिन्वो  
ः (उ० ४, १०६)’—इति यप्रत्ययः । मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया  
दार्थाः । “मायामिरिन्द्र मायिनम् (ऋ० सं १, १, २१,  
१)”—“इमाम्नुकचितमस्य मायाम् (ऋ० सं० ४, ४, ३१, १)”  
—इति निगमी ॥

(१०) घयुनम् । व्याख्यातं प्रशस्यनामसु (३२६ पृ०) । गती  
एकीवदर्थः, क्षेपणेऽसुषत् । “विद्वाँ अने घयुनानि क्षितीनाम्  
(ऋ० सं० १, ५, १७, २)”—इति निगमः ॥

(११) अमिष्या । ‘ष्या प्रकथने (अदा० प०) । आतश्चो-  
पसर्गे (३, ३, १०६)’—इत्यङ् । प्रकर्षेण कथ्यन्तेऽनयार्थाः ।  
“अमिष्या भासा बृहता शुशुक्निः (ऋ० सं० ६, २, ६, ५)”  
—इति निगमः । भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥ ६ ॥

वट् (१) । श्रत् (२) । सत्रा (३) । अद्धा (४) ।  
इत्था (५) । ऋतम् (६) । इति षट् सत्यना-  
मानि ॥ १० ॥



• निगमम्-निगमः •

(१) षद् । (२) धद् । (३) शश । (४) मडा (५) इत्या । षडादयो निगताः । षण्मदाभसि गूर्य (अ० सं० ६, ०, ८, १) — “धदयाग्निः समिधाने (अ० सं० ८, ८, १, १) — “सत्रादावग्रया वृषि (अ० सं० १, १, १४, १) — “सत्यमदान्किरन्व्यस्तथाधान् (अ० सं० १, ४, १४, ३) — “मह्यि १ त्याधिया नरा (अ० सं० १, १, ४, १) — इति निगमाः ॥

(६) शृतम् । ध्याय्यातमुदकनामसु (१३३ पृ०) । गच्छत्यनेन सुगतिम् । ‘शृतम् अर्तेः, प्राप्यने तदिन्द्रियैः’ — इति माधवः । “अनेन मिश्रायरणौ (अ० सं० १, १, ४, २) — इति निगमः ॥ इति षद् सत्यनामानि ॥ १० ॥

चिक्यत् (१) । चाकनत् (२) ।

आचक्ष्म (३) । चष्टे (४) । विचष्टे (५) ।

विचर्पणिः (६) । विश्वचर्पणिः (७) । अवचा-

कशत् (८) । इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

(१) चिक्यत् । (२) चाकनम् । (३) आचक्ष्म । (४) चष्टे । (५) विचष्टे । इति चक्षिडो दर्शनार्थानि ध्याय्यानानि । ‘चिक्यदित्यादीनि चायत्यर्पनिगमानि’ — इति स्कन्दस्वाना भाष्यमुक्तम् । ‘कित ज्ञाने (अ० सं० ५०) । यद्भुक्तिः शतरि नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५) — इति न भवति ।

(३) भावश्च । भावपूर्वस्य चक्षिष्टो लङि मदिष्टो मसा-  
देशो व्यत्ययेन । “अतश्चक्षार्थं भदिति दितिश्च (ऋ० सं० ४, ३,  
३१, ३)”—इति निगमः ॥

(४) चष्टे । (५) विचष्टे । केषलाद्दु विपूर्वाद्य भात्मनेपद-  
प्रथमपुरुषैकयत्ने संयोगादि लोपे ष्टुत्वे च रूपम् । “तेभिश्चष्टे  
परुषो मिश्रो धर्ममा (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)”—“इतो जातो  
विश्वमिदं विचष्टे (ऋ० सं० १, ७, ६, १)”—इति निगमो ॥

(६) विश्वर्षणिः । (७) विश्वचर्षणिः । विपूर्वाद्दु विश्व-  
पूर्वाद्य ‘कृष विनेतने (भू० ष०)’—इत्यस्मात् ‘कृषेरादेश्च चः (उ०  
२, ६७)’—इति अतिप्रत्ययः, आदेः ककारस्य चकारश्च । यद्वा,  
चापतेरेव शाङ्खलकान् अनिप्रत्ययो धातोर्दृषः पभावश्च । धिविधं  
द्रष्टा विश्वर्षणिः । विश्वस्य द्रष्टा विश्वचर्षणिः । “सप्तमन्  
पिर्षि चिद्ये चिचर्षणे (ऋ० सं० १, २, ३३, १)”—स्तोमैभिर्वि-  
श्वचर्षणे (ऋ० सं० १, १, १७, ३)”—इति निगमो ॥

(८) अवचाकशान् । ‘काष्ट दीर्घो (भू० आ०)’ अवपूर्वः ।  
यद्भुकि शतरि व्यत्ययेन हलत्वम् । जनानां धेना अवचाकशाद्दु  
वृषा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)”—“उभे सोमावचाकशात् (ऋ०  
सं० ६, ८, २२, ४)”—इति निगमो ॥

इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

हिक्म् (१) । नुकम् (२) । सुकम् (३) ।  
आहिकम् (४) । आकीम् (५) । नकिः (६) ।

माकिः (७) । नकीम् (८) । आकृतम् (९) ।  
इति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ॥१२॥

(१) द्विकम् । (२) नुकम् । (३) सुकम् । (४) भादिकम् ।

(५) भाकीम् । (६) नकिः । (७) माकिः । (८) नकीम् ।

पते निपाताः । “पसुर्यसु पतिर्द्विकम् (ऋ० सं० ६, ३, ४०, ४),

—“इमा नु कम्भुवना (ऋ० सं० ८, ८, १५, १)” —“सीरधाना-

तिप्यतेलयतासुकम्” —“वृक्तं दधी-विमधुना द्वि कं गतम् (ऋ०

सं० २, ८, १, ५)” —“भाकी-सूर्यस्य रोचनान् (ऋ० सं० १, १,

२७, ३)” —“न किरिन्द्र त्पदुत्तरो (ऋ० सं० ३, ६, १६, १)” —

“माकिर्नैशान्गार्फी रिपम् (ऋ० सं० ४, ८, २०, २)” —नकीं

वृधीक इन्द्र ते (ऋ० सं० ६, ५, ३१, ४)” —इति निगमाः ॥

(९) आकृतम् । निघान्तस्य कृशशब्दस्यात्र पाठान् सङ्गो-  
यमपि निपातसमाहाररूपो निपातितः । कृशशब्दस्य विभक्ति-

प्रतिरूपकत्वात् निपातत्वमित्याहुः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति नव सर्वपदसमाम्नाय ॥ १२ ॥

इदमिव (१) । इदं यथा (२) । अग्निर्नये (३) ।

चतुरश्रिददमानात् (४) । ब्रा मणा व्रतचारिणः

(५) । वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवया (६) । जार आ

गम् (७) । मेपो भूतोऽभियन्नयः (८) ।

तद्रूपः (९) । तद्वर्णः (१०) । तद्वत् (११) ।  
तथा (१२) । इत्युपमाः ॥ १३ ॥

इदमिवादीनि भाष्यकारेणैव व्याख्यातानि ( निरु० ३, १३—  
३८) ॥ १३ ॥

अर्चति (१) । गायति (२) । रेभति (३) ।  
स्तोभति (४) । गूर्द्धयति (५) । गृणाति (६) ।  
जरते (७) । ह्वयते (८) । नदति (९) । पृच्छति  
(१०) । रिहति (११) । धमति (१२) कृपायति  
(१३) कृपणयति (१४) । पनस्यति (१५) पना-  
यते (१६) । बल्गूयति (१७) मन्दते (१८) ।  
भन्दते (१९) । छन्दति (२०) छदयते (२१) ।  
शशमानः (२२) । रञ्जयति (२३) । रजयति (२४) ।  
शंसति (२५) । स्तोति (२६) । यौति (२७) ।  
रोति (२८) । नौति (२९) । भनति (३०) ।  
पणायति (३१) । पणते (३२) । सपति (३३) ।  
पपृक्षाः (३४) । महयति (३५) वाजयति (३६) ।

पूजयति (३७) । मन्यते (३८) । मदति (३९)  
 रसति (४०) । स्वरति (४१) । वेनति (४२)  
 मन्द्रयते (४३) । जल्पति (४४) । इति चतु-  
 श्रत्वारिंशद्वर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

(१) भर्त्सति । 'भर्त्स पूजायाम् (भू० प०)' । "मर्त्सन्त्यर्-  
 मर्त्सिणः (ऋ० सं० १, १, १६, १)"—इति निगमः ॥

(२) गायति । 'गै गै शब्दे (भू० प०)' । "गायन्ति त्वा  
 गायत्रिणः । (ऋ० सं० १, १, १६ १)"—इति निगमः ॥

(३) रेभति । (४) स्तोमति । 'रिभृ शब्दे (भू० आ०)  
 'प्लुभ स्तोमे (भू० आ०)' । धात्मनेपदिनी व्यत्ययेन परस्मैपदम्  
 "रेभन्तो वै देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गे लोकमायन् (ऋ०, प्रा० ६, ५  
 ६)"—"सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् (ऋ० सं० ७, ४, ७, १)"  
 —"परिष्टोभत विशतिः (ऋ० सं० १, ५, ३०, ४)"—इति  
 निगमाः ॥

(५) गूर्दयति । नैरुक्तधातुः । "तंगूर्दया स्वर्णरम् (ऋ० सं०  
 ६, १, २६, १)"—इति निगमः ॥

(६) गृणाति । 'गृ शब्दे' क्यादिः स्वादिश्च । "कण्वतमो  
 नाम गृणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमः ॥

(७) जरते । नैरुक्तधातुः "पुरुणीधे जरते सूनृतावान् (ऋ०  
 सं० १, ४, २५, ७)"—इति निगमः ॥

(८) हयते । 'हेम् स्पर्दायाम् (भू० उ०)' । "वाहिष्ठो पां-  
हयानाम् (ऋ० सं० ६, २, २६, १)"—इति निगमः । 'दद्याः  
स्तोमाः हयते र्चतिकर्मत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(९) नदति । 'णद् अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)' । "नदस्य मा  
रुपतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमः ॥

(१०) पृच्छति । 'प्रच्छ क्षीप्तायाम् तुदादिः । 'ग्रहिय्या  
(६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥

(११) रिहति । 'रिह कथ्यनादी'—इति क्षीरस्वामी ।  
तुदादिः । "शिशुं न विप्रा मतिर्भी रिहन्ति (ऋ० सं० ८, ७, ७,  
१)"—इति निगमः । अत्र भाष्ये तु "समानवृत्तित्वप्रदर्शनपरं  
लिहन्ति पर्यायवचनम्"—इति । "विप्रा रिहन्ति धीतिभिः  
(ऋ० सं० १, २, ६, ४)"—इत्यत्र 'रिहति धमतीत्यर्चतिकर्मसु  
षाठात्'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१२) धमति । गतिकर्मसु व्याख्यातः ( २५८ पृ० ) ॥

(१३) कृपायति । (१४) कृपण्यति । (१५) पनस्यति ।  
नैरुक्थातवः । "सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् (ऋ० सं० ८, ३,  
५, ३)"—इत्यत्र कृपणन्त स्तुवन्ति—इति भट्टभास्करमिश्रः ।  
"त्वेपं पनस्युमर्किणम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ५)"—इति निगमः ।  
'पनस्यति र्चतिकर्मा, स्तुत्यमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१६) पनायते । 'पण व्यवहारे स्तुतो च'—'पन च (भू०  
आ०)' । गुणूपचिच्छिपणिपनिभ्य आयः (३, १, २८)' । "अर्माशूनां  
महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)"—इति निगमः ॥

(१७) घण्टयति । 'घण्टु पूजाधुर्ययोः' कण्ठ्यादिः । 'घण्टयति घण्टते पूर्वभाजम् (ऋ० सं० ३, ७, २७, २)'—इति निगमः ॥

(१८) मन्दते । 'मदि स्तुतिमोदमदसप्रकान्तिगतियु (भू० आत्मनेपदी । "प्र घो महे मन्दमानायान्धसः (ऋ० सं० ६, १)"—इति निगमः ॥

(१९) भन्दते । 'भदि कल्याणे सुखे च' आत्मनेपदी "पुरुप्रियो भन्दते धाममिः कविः (ऋ० सं० २, ८, २०, ४)"—इति निगमः ॥

(२०) छन्दति । 'छदि संवरणे' चुरादिः । बहुलप्रत्ययानि सम्भ्रञ्जाच्छन्दसोः (उ० २, २१)'—इति लुक् । "वृषाच्छन्दुर्भषणि ह्यतो वृषा (ऋ० सं० १, ४, २६, ४)"—इति निगमः ॥

(२१) छदयते । 'छद अपवारणे' चुरादिः । 'सम्भ्रञ्जपूर्वो विधिरनित्यः (प० श्लो० ६३)'—इति वृद्ध्यभावः । 'अदन्तोद्दृष्ट्य' इति भट्टभास्करमिश्रः ॥

(२२) शशमानः । 'शशमानः शंसमानः ( निघ० ६, ८ )'—इति भाष्ये 'शंसु स्तुतायित्यस्य शंशन्नित्ययगम्यते'—इति रुन्दस्यार्थः । शंसेर्लटि पृषोदरादित्वाटूपसिद्धिः । यद्वा, 'शञ्जुतगर्तो (भू० प०)' । 'ताच्छील्ययवोचनशक्तिषु चान्यां (३, २, १२१)' । "यो पां यशोः शशमानोद्द वारानि (ऋ० सं० २, २, २१, २)"—इति निगमः ॥

(२३) रञ्जयति । (२४) जगयति । 'रञ्ज शणे (भू० उ०)' 'जगृ वयोहारो ( दि० प० )' हेतुमत्तो जिच् ॥

(२५) शंसति । 'शंसु स्तुतो (भू० प०)' । "मा चिदन्यद्वि  
 ंसत ( ऋ० सं० ५, ७, १०, १ )" —इति निगमः ॥

(२६) स्तौति । 'ष्टु स्तुतो' अदादिः । 'उतो वृद्धिर्लुकि  
 हलि ( ७, ३, ८६ )' । "इदमित् स्तोतारं वृषण सचासुतः"—  
 इति निगमः ॥

(२७) यौति । (२८) रोति । (२९) नौति । 'यु मिधणे'  
 'र शब्दे' 'नु स्तुतो' अदादयः । "ह्यवदोक्षापप्रधानेभिर्यैः ( ऋ०  
 सं० ३, ८, ८, १ )" —इति निगमः । "शुभ्रैरभि प्रणोनुमः  
 ( ऋ० सं० १, ५, २६, १ )" —इति निगमः ॥

(३०) भनति । नैरुक्तधातुः ।

(३१) पणायति । (३२) पणते । 'पण व्यचहारं स्तुतो  
 च ( भू० आ० )' । 'गुपूधूप ( ३, १, २८ )' —इत्यादिना आयः,  
 छान्दसत्वात् आयप्रत्यये विकल्पिते पणते इति रूपम् ।  
 "देवो नयन् सविता सुपाणिः ( ऋ० सं० ३, २, १३, १ )" —  
 इति निगमः । 'पाणि पणायतेः पूजाकर्मणः ( २, २६ )' —इति  
 निरुक्तम् ॥

(३३) सपति । 'पप समवाये ( भू० प० )' । "मत्सरासः  
 प्रमुपः साकमीरते ( ऋ० सं० ७, २, २२, २ )" । प्रमुपः  
 सपनेरर्चतिकर्मणः । "वि दे चृतन्तपृता सपन्तः ( ऋ० सं० १,  
 ५, ११, ४ )" —इति निगमो ॥

(३४) पृषाः । पृञ्चतिर्नैरुक्तधातुः । पृचेः सनि 'हल्न्ताश्च  
 ( १, २, १० )' —इत्यत्र हल्प्रहणस्य जातिवाचकत्वात् 'भनिदिताम्



(६, ४, २४) —इति मन्त्रोपः गुणाभावश्च । सनन्ताहोदि  
(३, ४, ७), सिपि (३, १, ३४), आडागमे (३, ४, ६४)  
'इतश्चलोपः (३, ४, ६७) । "वायो तप प्रपृश्चनी (ऋ० सं०  
१, १, ३, ३)" —इत्यत्र 'पृश्चाः, महयति,—इत्यर्चतिकर्मसु  
पाठात् पृश्चतिः स्तुत्यर्थोऽपि' —इति स्कन्दस्वामी ॥

(३५) महयति । 'मह पूजायाम्' चुरादिरदन्तः । "त्वंनु  
मेवं महया स्वर्चिदम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)" —इति निगमः ॥

(३६) वाजयति । वज्रेणिच् । "वाजयामः शतक्रतो (ऋ०  
सं० १, १, ८, ४)" —इति निगमः ॥

(३७) पूजयति । 'पूज पूजायाम्' चुरादिः ॥

(३८) मन्यते । 'मन क्षान्ते' दिधादिः । "शमा ऽउ वां  
भूमयो मन्यमानाः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)" —इति निगमः ॥

(३९) मदति । 'मदी हर्षश्लेषणयोः (दि० प०) ।  
"धुमन्तो याभिर्मदेम (ऋ० सं० १, २, ३०, ३)" —"इन्द्रं गोभिर्मदता  
षस्वो ऽअर्णवम् (ऋ० सं० १, ४, ६, १)" —इति निगमौ ।  
'मदति रसतात्यर्चतिकर्मसु पाठात्' —इति स्कन्दस्वामिमाष्यम् ॥

(४०) रसति । 'रस शब्दे (भू० प०) ।

(४१) स्वरति । 'स्वृ शब्दोपतापयोः (भू० प०) । "स्वरे-  
णाद्रिं स्वयोश्च नवावैः (ऋ० सं० १, ५, १, ४)" —"ऋषिस्वरं चरति  
यासु नाम ते (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)" —इति निगमौ । "स्वरेणा-  
द्रिम्" —इत्यत्र 'स्वरति वेनतीत्यर्चतिकर्मसुपाठात्' —इति, "ऋषि-  
स्वरम्" —इत्यत्र 'स्वरतिरर्चतिकर्मा' —इति च स्कन्दस्वामी ॥

(४२) वेनति । (४३) मन्द्रयते । नैरुक्धात् । “अनर्वाणं  
वृष्यं मन्द्रजिह्वम् ( ऋ० सं० २, ५, १२, १ )”—इति निगमः ।  
'मन्द्रयतिर्चर्तिकर्मा स्तुत्यवाचकम्'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(४४) जल्पति । 'जल्प व्यक्तायां वाचि ( भू० प० )' ॥

इति चतुश्चत्वारिंशदचर्तिकर्माणः ॥ १४ ॥

विप्रः (१) । विग्रः (२) । गृत्सः (३) ।  
धोरः (४) । वेनः (५) । वेधाः (६) । कण्वः (७) ।  
शमुः (८) । नवेदाः (९) । कविः (१०) ।  
मनीषिः (११) । मन्धाता (१२) । विधाता (१३) ।  
विपः (१४) । मनश्चित् (१५) । विपश्चित् (१६) ।  
विपन्यवः (१७) । आकेनिपः (१८) । उशिजः (१९) ।  
कीस्तासः (२०) । अद्धातयः (२१) । मतयः (२२) ।  
मतुथाः (२३) । वाघतः (२४) । इति चतुर्विं-  
शतिर्मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

(१) विप्रः । 'टु षप षीजसन्ताने (भू० प०)' । 'विप क्षेपे'—  
इति क्षीरस्वामी । 'ऋज्जेन्द्राप्रयज्ञविप्र (उ० १, २७)'—इत्यादिना  
रजस्रन्धये इत्वं गुणाभापञ्च निपात्यते । उप्यतेऽस्मिन्नतिशयेन  
मेधा । क्षिपत्यनया पार्य वा । यद्वा, 'विप्'—इति सद्व्याम-

नामसु व्याख्यातम् (२१० पृ०), साम्यास्तीति रो मत्वर्थीयः, पूर्ण-  
दरादिन्वान् जशन्वामायः । पाङ्मयी हि मेधा । यद्वा, 'प्र-  
पूरणे (अदा० प०)' विपूर्वः । 'आतोऽनुपसर्गे (३, २, ३)'—इति  
कः । 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)' । विशेषेण पूर्ववि-  
विद्यार्थिनामपेक्षाः । "गृणन्ति विप्र तै धियः (ऋ० सं० १, १,  
२६, २)"—इति निगमः ॥

(२) विप्रः । विपूर्वात् गृणानेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,  
१०१)'—इति डः । विविधं गृणात्यर्थान् । "परै हि विप्रमस्तुम्  
(ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमः ॥

(३) गृत्सः । 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (दि० प०)' ऋचिरपि-  
रुदिवृद्धिशगद्भ्यः किन्—इति सप्रत्ययः । अभिकाङ्क्ष्यते  
सर्वैः । यद्वा, गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक्प्रत्ययो  
ह्रस्वत्वं तुगागमश्च । स्तुत्यो लोकस्य, स्तोता वा देवानाम् ।  
गृत्सस्य धीरा स्तवसो विधो मदे (ऋ० सं० ७, ७, ११, ५)"—तमो  
गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च (य० घा० सं० १६, २५)"—इति  
निगमो ॥

(४) धीरः । दधातेः सुसूधीगृधिभ्यः क्त् (उ० २, २३)"—  
इति क्त् प्रत्ययः, 'घुमास्वागापा (६, ४, ६६)"—इतीत्यम् । घते  
श्रुतमर्थम्, ददाति वा विद्याः शिष्येभ्यः । यद्वा, धीः प्रज्ञा कर्म  
वा, रो मत्वर्थीयः । 'धियमीरयति'—इति क्षीरस्वामी । तत्र  
धीराद् उपपदे 'कर्मण्यण् (३, २, १)' । "समार्थारः पाकमप्रा-  
चिवेश (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः ॥

(५) घेतः । अजतेः 'धापृषस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—  
नप्रत्ययः, घांभायः । गच्छति सत्कारं लोके, अयगच्छ-  
न्, अयगच्छत्यस्मादर्यंसंशयान्, गच्छन्त्येनं विद्यार्थिनः,  
त्यनर्थान् पारं वा । यद्वा, घेतनेः कान्तिकर्मणो गतिकर्मणो  
तकर्मणो वा 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८), । "गिरिं न  
अधिरोह तेजसा (ऋ० सं० १, ४, २१, २)'—इति निगमः ॥

(६) वेधाः । दधातेर्विपूर्वान् 'विधाओ वेध च (उ० ४,  
१)'—इत्यमुन् वेधादेशश्च । विदधाति कात्यादिः । "मोषथा  
कपनेष वेधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)"—"सोमो न  
प्रदत्त प्रजातः (ऋ० सं० १, ५, ६, ५)"—"वा पृच्छोविश्य-  
वावैशुवेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)"—इति निगमाः ॥

(७) कण्यः । 'कण शब्दे (भू० प०)' 'कण निर्मालने (चु०  
प०)' वा । 'अशुप्रुपिलटिकणिलटिविशिभ्यः कन् (उ० १,  
१४६)' । कणति स्तोत्रलक्षणं शब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा,  
निर्मालयति परान् वा स्वतेजसा । "कण्वा अभि प्रगायत (ऋ०  
सं० १, ३, १२, १)"—"कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ०  
सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमौ ॥

(८) ऋभुः । 'ऋभुश्चा इत्यत्र व्याख्यातम् (३०६ पृ०)' ।  
"ऋभुर्ऋभुभिरभि घः स्याम (ऋ० सं० ५, ४, १५, २)" इति  
निगमः ॥

(९) नवेदाः । "ए पां भूत नवेदा मतानाम् (ऋ० सं० २, ३,  
२६, ३)"—इत्यत्र नवेदेति न वेत्तीत्यस्मिन्नर्थे घर्त्तते । कुत

णतम्? निपातनाम्, घैयाकरणा 'नन्नाण्णपात्रवेदा (६, ७१)'—इति 'निपातयन्ति'—इति स्कन्दस्वामी । तत्र द्विः पूर्वाद् द्विः विदेः कर्त्तव्यं सुनि एकस्य नभो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावः निपात्यत इति भाषः । "त्रिधिशो अद्या भवर्न नवेदसा (श्रु० सं० १, ३, ४, १)"—इति निगमः ॥

(१०) कविः । 'कविः क्रान्तदर्शनो मयति कः ( निघ० १२, १३ )'—इति भाष्ये 'क्रामतेः कवनेर्वा कर्मण इति रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी । क्रामतेः कवतेश्च सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )—इतीन्प्रत्ययः क्रामनेर्मका षत्वं रेफलोपश्च बाहुलकात् । क्रान्तमस्यास्तीति मत्पर्योः लुक् । कविः क्रान्तदर्शनः । 'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युग ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इत्युच्यते । "कवी नो मित्रावरु (श्रु० सं० १, १, ४, ३)"—इति निगमः ॥

(११) मनीषिणः । 'मनु अवयोधने ( दि० आ० ) 'कृतभ्यामीपन् ( उ० ४, २६ )'—इति बाहुलकादीपन् । मनीष प्रज्ञाऽस्यास्ति व्रीह्यादित्यादिनिः । यद्वा, मनस ईया स्तुतिः प्रज्ञा वा मनीषा । पृषोदरादित्वाद्भूपसिद्धिः । पूर्ववदीपन् । "घृतपृष्ठं मनोपिणः (श्रु० सं० १, १, २४, ५)"—इति निगमः ॥

(१२) मन्धाता । मन्यतेर्लुङ्, दधातेस्तृच् । मानस्य ज्ञानस्य विधातयिता, पृषोदरादिः (६, ३, १०६) । "मन्धातासि द्रविणोदा श्रुता वा (श्रु० सं० ७, ५, ३०, २)"—इति निगमः ॥

(१३) विधाता । विपूर्वाङ् दधानेऽङ् । घेघःशब्दवदर्थः ।  
निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१४) विपः । 'विप श्ये ( चु० प० )' । इगुपधलक्षणः  
कः ( ३, १, ३५ ) । विप्रवदर्थः । "अस्तृणाद् घईणा विपो  
( ऋ० सं० ६, ४, ४३, १ )"—इति निगमः ॥

(१५) मनश्चिन् । मनःशब्दोपपदान् 'चिती सप्रप्राने ( भू० प० )' ।  
त्यसार्दीणादिकः चिप् । मनसा चेतयते । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१६) विपश्चिन् । विपो वाचञ्चेतयते 'तन्पुरुषे कृति  
बहुल्म् ( ६, ३, १४ )'—इत्यलुक् । 'विपश्यञ्चेतयते'—इति  
सोऽस्यार्मी । पृषोदरादित्वात् पश्यन्तरूपम् । "धर्मकृते विपश्चिते  
पनम्ये ( ऋ० सं० ६, ७, १, १ )"—इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्  
ऋ० सं० १, १, ७, ४ )"—इति निगमो ॥

(१७) विपन्यवः । विपनेः 'कत्युच् क्षिपेञ् ( उ० ३, ४८ )'  
—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कत्यु च्प्रत्ययः ।  
यदा, विविधं पननं स्तुतिः 'मृगव्यादयञ् ( उ० १, ३६ )'—इति  
हुप्रत्ययः । "विपन्यवो विप्रासो वाजसातये ( ऋ० सं० ६, ६,  
१०, ६ )"—इति निगमः ॥

(१८) आकेनिपः । आङ्शब्दे, केशब्दे, निशब्दे चोपपदे  
विपूर्वाङ् पततेः 'अन्येष्वपि दृश्यते ( ३, २, १०१ )'—इति डः ।  
'तन्पुरुषे कृति बहुल्म् ( ६, ३, १४ )' । के आत्मनि पतन्ति  
अध्यात्मज्ञाने पतन्त इत्यर्थः । "अप्यसौ यथा केनिपानामिनो वृधे  
( ऋ० सं० ७, ८, २६, ४ )"—इति निगमः ॥

(१६) उशिजः । 'षश कान्तो ( अदा० प० )' 'घशे ऋषि ( उ० २, ६८ )'—इति इजिप्रत्ययः । प्रहिज्या ( ६, १, १६ )—इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कामयते शास्त्राण्यन्यसिन् व्यस्यत्वात् वा । "कशोचन्तं य औशिजः ( ऋ० सं० १, १, ३४, १ )"—इति निगमः ॥

(२०) कीस्तासः । कीर्तयतेः पचाद्यचि ( ३, १, १३४ ) घञि वा । कीर्तयन्ति प्रशस्तानर्थान् । "कीस्तासो अमिद्यकः ( ऋ० सं० २, १, १३, २ )"—इति निगमः ॥

(२१) अद्दातयः । अद्देति सत्यनाम । अततेरतयः । सत्यं प्राप्नोति, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, सत्यं जानाति वा । "तद्दत्तयऽइद्दिदुः ( ऋ० सं० ८, ३, २३, १ )"—इति निगमः ॥

(२२) मतयः । मन्यतेः क्तिन् । शायन्तेऽस्मादर्थाः । यद्वा, मतिरस्यास्ति मत्वर्थीयस्य लुक् । "अद्रोधयाचं मतिभिः शविष्णु ( ऋ० सं० ४, ६, १३, २ )"—"त्वामिन्द्र मतिभिः सुतम्"—इति निगमो ।

(२३) मनुथाः । 'गूथप्रोथपृष्ठादयः'—इति मनेस्थकि नकारस्य तुभायो निपात्यते । "तुथोऽसि विश्ववेदाः ( य० वा० सं० ५, ३१ )" । 'विभजत्यः ब्रह्म वै तुथः ( श० वा० ४, ३, ४, १५ )'—इति श्रुतिः—इत्युषटः । मतं ज्ञानं तुथो मनुष्यैः । तेन सन्तः पृषोदरादित्वेन मनुथाः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२४) घायतः । घहेः 'संघचुम्पद्देहत् ( उ० २, ८६ )'—प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, हकारस्य घकारश्च निपात्यते ।

इति ग्रन्थार्थान् । “विष्ट्वा शमी” तरणित्येन वाद्यतः ( ऋ० १, ७, ३०, ४ )—इति निगमः ॥

इति चतुर्विंशतिर्मेधाविन इति मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभः (१) । जरिता (२) । कारुः (३) ।  
३ः (४) । स्तामुः (५) । कीरिः (६) । गौः (७) ।  
रिः (८) । नादः (९) । छन्दः (१०) । स्तुप् (११) ।  
ः (१२) । कृपण्युः (१३) । इति त्रयोदश-  
ः । तृनामानि ॥ १६ ॥

(१) रेभः । रेभतिर्न्वैतिकर्मा ( ३३६ पृ० ) । अच् ।  
ति । निगमोऽन्वैपर्ण्यः ॥

(२) जरिता । जग्नेर्घ्नैतिकर्मणः ( ३३६ पृ० ) । ‘त्वाम् ।  
जरितारः ( ऋ० सं० १, १, ३, २ )’—इति निगमः ॥

(३) कारुः । करोतेः ‘ह्रस्वापाजि ( उ० १, १ )’—इत्युण् ।  
।। “विदुष्ये तस्य कारुषः ( ऋ० सं० १, १, २१, ६ )”—  
ः निगमः ॥

(४) नदः । नदति स्तुतिकर्मा ( ३३७ पृ० ) । अच् ।  
इम्य मा कथत काम भागन् ( ऋ० सं० २, ४, २२, ४ )—इति  
ः निगमः ॥

(५) स्तामुः । ‘यम एम अयेकल्ये ( मू० प० )’ । ‘छन्द  
णः ( उ० १, २ )’—इति वाङ्मल्लकादुण् । स्तोत्रकर्मणि “तामु”



—इति केनिग् पडलि । 'तमु काद्दशायाम् ( दि० प० )' पूर्वा  
यादुल्फांदृण् । कांशलि । स्नांतुम् । उमयोगेय निगमोऽन्वे-  
पणीयः ॥

(६) कीर्तिः । 'के गे वे शब्दे ( मू० प० )' । 'कायः की-इति  
इमप्ययः । आकारलोपः । स्तोत्रलक्षणं शब्दमागच्छति ।  
'इत् सर्वधातुम्यः ( उ० ४, ११४ )' "कीरेधिन्मन्त्रं मनसा वतीति  
सम् ( ऋ० मं० १, २, ३४, ३ )" —इति निगमः ॥

(७) गौः । व्याख्यानं पृथिवीनामसु ( २७ पृ० ) । गीवने  
सूयन्तेनेन देवताः । "यो अद्यानां गयां गोपतिर्वशी ( ऋ० मं०  
१, ७, १२, ४ )" —इति निगमः । 'गोपतिः स्तोत्रपतिः'—इति  
स्कन्दस्वामी ॥

(८) सूरिः । 'सू प्रेरणे ( तु० प० )' । 'सुडः किः ( उ० ४  
ई४ )'—इति सुवतेः किर्मवति । प्रकर्षेण ईर्यति स्तोत्रम् ।  
"सदा पश्यन्ति सूरयः ( ऋ० सं० १, २, ७, ५ )" —इति  
निगमः ॥

(९) नादः नदतेर्घञ् । भवत्यस्मात् स्तुतिः । निगमोऽन्वे-  
पणीयः ॥

(१०) छन्दः । छन्दतिरर्चतिकर्मा ( ३३८ पृ० ) । असुन् ।  
'छद आच्छादने ( चु० प० )' । 'छदेश्'—इत्यसुन् । आच्छा-  
दयति स्तोत्रैः । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(११) स्तुप् । स्तोमतिरर्चतिकर्मा ( ३३६ पृ० ) । क्विप् ।  
निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(७) सपनम् । पुम् भभिगये (भा० उ०) । सुपुण्ड्रयो  
 पुञ् (उ० २, ७०) । भभिपुण्ड्रेऽस्मिन् सतोमः । “उप नः सपना  
 गहि (ऋ० सं० १, १, ७, २)” —इति निगमः ॥

(८) होत्रा । व्याख्यातं षाद्नामनु (१०५ पृ०) । वीपनेऽ-  
 स्मिन् हविः । “होत्रापिदः स्तोमतष्टासो भक्तेः (ऋ० सं० ७, ६,  
 १८ ४)” —इति निगमः ॥

(९) इष्टिः । यजेन्विषां किन् । यजनेर्षभवदर्थः, इष्यते हि  
 उः । इष्टिश्चो हविर्यज्ञे भागुदात्तः यज्ञमात्रे मोदात्तः—इति  
 गणवः । “यथात्ऽऽश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)” —इति  
 निगमः ॥

(१०) देवताता । ‘दिवुक्तीडादौ (दि० प०) । दीयन्ति  
 न्युपन्यत्र देवताः । देव एव देवता । ‘सर्वदेवात्तात्तिल् (४,  
 ४, १४३) सप्तम्या आकारः (७, १, ३६) । “त्रिर्देवतातात्रिद  
 ज्ञानं धियाः (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)” —“था देवताता हविषा  
 विद्यासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)” —इति निगमौ ॥

(११) मखः । ‘मह पूजायाम् (भू० प०) । ‘महेः ख च’ खप्र  
 त्ययो हलोपश्च । महन्त्यत्र देवताः । यद्वा, ‘मख गती’ घः ।  
 चैनवदर्थः । “मखःसहन्त्यर्चति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)” “विचक्ति  
 षङ्गिः स्वपस्य ते मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)” —इति निगमौ ॥

(१२) विष्णुः । ‘विप्ल्द व्याप्ती (जु० उ०) । ‘विपेः कि  
 च (उ० ३, ३७)’ —इति न्युप्रत्ययः । विशेषेणाप्नोति स्वर्गम् ।  
 “जूरसि धृतमानसाज्जुष्टी विष्णवे तस्यास्ते” —इति निगमः ॥

(३) अध्वरः । अध्वरतेर्वधकर्मणः 'पुंसि सञ्ज्ञायां ध (४, ११८)' । नञ्पूर्वः इरा हिंसा, तदभावो यत्र । अत्र शिष्टाः स्मरन्ति—'ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिण स्तथा यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नु घन्त्युच्छ्रितां गतिम्'—इति । तस्मादुप यत्र' यत्रे हिंसा स्वर्जित्यामेतद्यज्ञीयवचनाद्दिंसा प्रतीयते । अन्यत्र विस्तरेणोपपादितः । अथवा षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः । अविद्यमानोऽध्वरो यस्य सोऽध्वरः, रक्षोभिरहिंसितः । "राजन्मध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमः ॥

(४) मेधः । व्याख्यातं धननामसु (२५२ पृ०) । गच्छन्त्यत्र देवता हविर्गृहीतुं, दक्षिणार्थं वा सदस्यात्, हिनस्त्यनेन परं वा । 'कर्त्ता यज्ञो द्रव्याणामृतसामर्ध्याद्भविष्य सारभूतात्'—इति माधवः । "मेधंजुपन्त बह्वयः (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—मेधेषु प्रथमं देवयन्तीः (ऋ० सं० १, ५, २५, ३)"—इति निगमौ

(५) विदधः । 'विद् ज्ञाने (अदा० प०)' विद् विचारणे (६ः आ०) 'विद्दुल्द लामे (तु० उ०)' 'विद् सत्तायाम् (दि० आ०)' । 'रुद्विविदिभ्यां डित् (उ० ३, १११)'—इति अथप्रत्ययः । ज्ञाने हि यज्ञः, लभने हि दक्षिणादिरथ विचार्यते हि विदुभिः, भाषयन्त्यनेन कलम् । "अथा जिमी विदधमायदाथः (म० सं० ८, ३, २०, २)"—इति निगमः ॥

(६) नायः । 'नृ मये' क्पादिः । 'अहलोर्ण्यत् (३, १, १२५)' । नयति स्वर्गं कर्त्तारम्, नीयतेऽत्रमनुष्ठानेन वा । निगमोऽप्येवर्त्तीयः ॥

(७) सपनम् । पुञ् अभिपद्ये (स्वा० उ०) । सुयुक्त्वृभ्यो  
ञ् (उ० २, ७०) । अभिपूयतेऽस्मिन् स्तोमः । “उप नः सपना  
दि (ऋ० सं १, १, ७, २)”—इति निगमः ॥

(८) होत्रा । व्याख्यातं घाङ्नामसु (१०५ पृ०) । दीयतेऽ-  
स्मिन् हविः । “होत्राविदः स्तोमतृष्टासो अकैः (ऋ० सं० ७, ६,  
१८, ४)”—इति निगमः ॥

(९) इष्टिः । यजेरियेवां फिन् । यजनेर्षज्ञवदर्थः, इष्यते हि  
ऋः । ‘इष्टिशब्दो हविर्यज्ञे आशुदात्तः यज्ञमात्रे नोदात्तः—इति  
गणवः । “यधातऽऽश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)”—इति  
निगमः ॥

(१०) देवताता । ‘दिवुक्तीडादी (दि० प०) । दीव्यन्ति  
लुचन्यत्र देवताः । देव एव देवता । ‘सर्वदेवात्तातिल् (४,  
३, १४३) सप्तम्या आकारः (७, १, ३६) । “त्रिर्देवतातात्रिह  
गातृन् धियाः (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)”—“आ देवताता हविया  
वियासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)”—इति निगमौ ॥

(११) मखः । ‘मह पूजायाम् (भू० प०) । ‘महेः ख च’ खप्र  
त्ययो हलोपञ्च । महन्त्यत्र देवताः । यद्वा, ‘मख गती’ घः ।  
वेनवदर्थः । “मखःसहखदर्चति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)” “विघक्ति  
पङ्क्तिः स्वपस्य ते मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)”—इति निगमौ ॥

(१२) विष्णुः । ‘विप्ल व्याती (जु० उ०) । ‘विपेः कि  
घ (उ० ३, ३७)’—इति नुप्रथयः । विशेषेणाप्नोति स्वर्गम् ।  
“जूरसि धृतमानसाजुष्टी विष्णवे सस्यास्ते”—इति निगमः ॥

(२३) इन्दुः । 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)' । 'उन्दे रिन्वादे (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः । क्लिद्यते सूयतेऽस्मिन् सोमः निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) प्रजापतिः । प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च भपत्यनञ्जनु (१६१ पृ०) ऐश्वर्य्यं कर्मनामसु (२६६ पृ०) च व्याख्याता । प्रजापतिवृष्ट्यादिहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) घर्मः । 'घृ क्षरणर्दीप्तयोः (भू० प०)' । मप्रत्ययः । क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽप्राणय इति घा । "घर्मस्वेदेभिर्द्रविषं ध्वानद् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)"—सत्यः कर्णपितृभिर्यमणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमा ॥ इति पञ्चदश यमनामानि ॥ १७ ॥

भारताः (१) । कुरवः (२) । वाघतः (३) । वृक्तवर्हिपः (४) । यतस्तुचः (५) । मरुतः (६) । सवाधः (७) । देवयवः (८) । इत्यष्टावृत्तिवद् नामानि ॥ १८ ॥

(१) भारताः । 'भृशु भारणे (भू० उ०)' । 'भृशुशिशिर्षि परंध्यमितभितमिह्मिभ्योऽनल् (उ० ३, १०७)' । 'यमनादेव मरु, मरुतातीनि' इत्यन्वेषणी । यिमर्षेयांतम् । 'पुण्यसो' इति नामिः । "ममन्विष्टो भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)" इति निगमः ॥

(२) कुरचः । 'कृ विशेपणे (नु० प०)' । 'हृप्रोदय ( उ० १, १४ )'—इति कुप्रत्ययः । विशिपत्यहानि कर्माणि । यद्वा, हृतेतेर्बाहुलकादुत्थम् । कुर्वन्ति कर्माणि । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) घाघतः । घ्याख्यातं मेधाविनामसु ( ३४६ पृ० ) । षदन्ति ह्यपीपि । "उप ग्रहार्णि घाघतः ( ऋ० सं० १, १, ५, २ )" —इति निगमः ॥

(४) वृक्तवर्हिपः । 'वृजी वर्जने ( रु० प० )' । अथ छेद-  
नार्थः । निष्ठा, 'श्वीदितो निष्ठायाम् ( ७, २, १४ )'— इतीद्-  
प्रतिषेधः । वर्हिःशब्दो व्याख्यातो उदकनामसु ( १४० पृ० ) ।  
वृक्तं वर्हिष्यैः । "नासत्यो वृक्तवर्हिपः ( ऋ० सं० १, १, ५, ३ )" —  
इति निगमः ॥

(५) यत्स्युचः । 'यसु उपरमे ( भू० प० )' निष्ठा, स्यु गतौ  
( भू० प० ) । 'स्युषः कः—चिक् च ( उ० २, ५७-५८ )'—इति  
चिक्प्रत्ययः, इकारककारावित्सम्भ्रंशको । उच्यताः स्युषो जुहाया  
यैः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) मरुतः । व्याख्यातं हिरण्यनामसु ( ४२ पृ० ) ।  
'बृहदिन्द्राय गायत्र मरुतः ( ऋ० सं० ६, ६, १२, १ )'—  
'आर्चेशत्र मरुतः सस्मिशात्री ( ऋ० सं० १, ४, १४, ५ )'—  
इति निगमौ ॥

(७) सवाधः । 'वाधु लोडने ( भू० व्या० )' क्विप् । वाधा  
सह वर्त्तते इति सवाधः । राक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणं रक्षोवाधनात् ।  
'तं सवाधो यत्स्युचः ( ऋ० सं० ३, १, २६, १ )'—इति निगमः ॥

(२३) इन्द्रः । 'उन्दी ऋदने (६० प०)' । 'उन्दी ति  
(३० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः । किलघने मूयनेऽस्मिन् सं  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) प्रजापतिः । प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च अपत्यतः  
( १६१ पृ० ) पेश्वर्यं कर्मनामसु ( २६६ पृ० ) च व्याख्यातं  
प्रजापतिवृष्ट्यादिहेतुत्वान् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) घर्मः । 'घृ क्षरणदीप्तयोः (भू० प०)' । मन्वा-  
क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽप्रागनय इति या । "घर्मस्वेदेनि  
द्रविषं ध्वानद् (ऋ० सं० ८, २, ६६, १)"—सत्यैः कर्म-  
पितृभिर्घर्मणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमो ॥  
इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भारताः (१) । कुरवः (२) । वाघतः (३)  
वृक्तवर्हिपः (४) । यतस्रुचः (५) । मस्तः (६)  
सवाधः (७) । देवयवः (८) । इत्यष्टावृत्ति  
नामानि ॥ १८ ॥

(१) भारताः । 'भृञ् भरणे (भू० उ०)' । 'भृमृदृशियति  
पर्वच्यमितभिर्नमिहर्मिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)' । 'यज्ञदारी-  
नून्, सम्भरतीति' स्कन्दस्वामी । विभर्त्तैर्वातच् । 'पुष्यन्ते'  
दक्षिणामिः । "अमन्धिष्टां भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)"  
इति निगमः ॥

(२) कुरचः । 'कृ विश्लेषणे (तु० प०)' । 'कृप्रोरुच्य ( उ० १, ३ )'—इति कुप्रत्ययः । विश्लिषत्यहानि कर्माणि । यद्वा, ऐतेर्बाहुलकादुत्थम् । कुर्वन्ति कर्माणि । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(३) घाघतः । व्याख्यातं मेधाविनामसु ( ३४६ पृ० ) । हन्ति हवींषि । "उप ग्रहार्णि घाघतः ( ऋ० सं० १, १, ५, २ )" —इति निगमः ॥

(४) वृक्तवर्हिषः । 'वृजी वर्जने ( रु० प० )' । अत्र छेद-  
गर्थः । निष्ठा, 'श्वीदितो निष्ठायाम् ( ७, २, १४ )'— इतीद्-  
प्रतिषेधः । वर्हिःशब्दो व्याख्यातो उदकनामसु ( १४० पृ० ) ।  
वृक्तं वर्हिषैः । "नासत्यो वृक्तवर्हिषः ( ऋ० सं० १, १, ५, ३ )" —  
इति निगमः ॥

(५) यत्स्युचः । 'यसु उपरमे ( भू० प० )' निष्ठा, स्यु गतौ  
( भू० प० ) । 'स्युवः कः—चिक् च ( उ० २, ५७-५८ )'—इति  
चिक्प्रत्ययः, इकारककारावित्सम्प्रज्ञकी । उच्यताः स्युषो जुहाया  
यैः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(६) मरुतः । व्याख्यातं हिरण्यनामसु ( ४२ पृ० ) ।  
'बृहदिन्द्राय गायत मरुतः ( ऋ० सं० ६, ६, १२, १ )'—  
'आर्चेशत्र मरुतः सस्मिन्नाजी ( ऋ० सं० १, ४, १४, ५ )'—  
इति निगमौ ॥

(७) सवाधः । 'वाधु लोडने ( भू० आ० )' किर । वाधा  
सह वर्तते इति सवाधः । राक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणं रक्षोवाधनात् ।  
'तं सवाधो यत्स्युचः ( ऋ० सं० ३, १, २६, १ )'—इति निगमः ॥



(८) देपययः । देपयय्प्रोपदान् यानेः 'मृगव्यदय  
( ३० १, ३६ )'—इति कुम्भत्ययान्तो निपात्यने । देवञ्च यानि  
मनसा हविःप्रदानसमये । निगमोऽग्यैश्वरीयः ॥

इत्यष्टावृत्तिपदानामानि ॥ १८ ॥

ईमहे (१) । यामि (२) । मन्महे (३) । दृद्धि  
(४) । शग्धि (५) । पूर्द्धि (६) । मिमिद्धि (७) ।  
मिमीहि (८) । रिद्धि (९) । रिरिहि (१०) ।  
पीपरत् (११) । यन्तारः (१२) । यग्धि  
(१३) । इपुध्यति (१४) । मदेमहि (१५) ।  
मनामहे (१६) । मायते (१७) । इति सप्तदश  
याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

(१) ईमहे । 'ई गतो' दियादिः । 'चहुलं छन्दसि ( ३, ४,  
७३ )'—इति शपो लुक् । "इतो वा सासि मीमहे ( ऋ० सं०  
१, १, १२, ५ )"—इति निगमः ॥

(२) यामि । 'या प्रापणे' अदादिः । "तत्त्वा यामि श्रद्धया  
चन्दमानः ( ऋ० सं० १, २, १५, १ )"—इति निगमः ॥

(३) मन्महे । 'मनु अवबोधने' तनादिरात्मनेपदी । लोपधा-  
स्यान्यतरस्याम्बोः ( ६, ४, १०७ )—इति उपत्ययस्य लोपः । 'ध्वं

हि ते अमन्महि (ऋ० सं० १, २, ३१, ६)"—इति निगमः । 'ईमहे,  
यामि, मन्महे, इति याच्ञाकर्मसु पाठात्"—इति स्वन्दस्यामी ॥

(४) दद्धि । 'दद् दाने' भूयादिः । व्यत्ययेन शपः श्लुः ।  
'हुक्लन्वो हेधिः (६, ४, १०१)' । भाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(५) शग्धि । 'शक् शक्ती' स्वादिः । पूर्ववत् श्लुः । 'भला-  
ज्जशंसि (८, ४, ५३)' ॥

(६) पूद्दि । 'पृ पालनपूरणयोः' कृयादिः प्वादिश्च । व्यत्य-  
येन शपः, 'यहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति लुक् । धुष्टणु-  
पृष्टवृम्यश्छन्दसि (६, ४, १०२)"—इति विभावः । "शग्धि  
पूद्दि शयंसि च (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—रायस्पूद्दि  
स्ववायोस्ति (ऋ० सं० १, ३, १०, २)"—इति निगमौ ॥  
"शाक्ती भव यजमानस्य चोदिता (ऋ० सं० १, ४, १०, ३)"  
—इत्यत्र, "शग्धि पूद्दि (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—इत्यत्र च  
'शग्धिपूद्दीति याच्ञाकर्मसु पाठात् शक्तिपृणाती याच्ञाकर्माणी—  
इति स्वन्दस्यामिभाष्ये उक्तम् ॥

(७) मिमिद्दि । 'मिह सेचने (भू० प०)' । 'यहुलं छन्दसि  
(२, ४, ७६)'—शपः श्लुः, छान्दसत्वात् ढलोपाभावश्च ॥

(८) मिर्माहि । 'माद् माने' जुहोत्यादिः । व्यत्ययेन  
हिः । 'भृत्रामित् (७, ४, ७५)' । 'ई हल्यघोः (६, ४, ११३)' ।  
"यत् सीं पण्डि घृहती विमिन्वन् (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—  
इत्यत्र 'मिमोहि इति याच्ञाकर्मसु पठ्यते, तस्येदं रूपम्, विधिषं  
याचन्"—इति हर्दत्तभाष्ये दृष्टम् ॥

(९) रिदिह्दि । 'रिह कथने' तौदादिकः । पूर्वप् लु  
दलोपाभावश्च ॥

(१०) रिरीहि । 'रीङ् गर्तो' । व्यत्ययेन परस्मैपदं, ही ए  
श्लुः । "प्रजावती रिन्द्रागोष्ठे रिरीहि (ऋ० सं० ८, ८, २३)"  
—इति निगमः ॥ 'सङ्गायेत्यर्थमवोचत्' भट्टभास्करमिश्रः ॥

(११) पीपरत् । पृणोतेर्णिचि, लुङि, उपघाहसत्ये, हित्ये,  
सन्वद्धभावादित्ये, 'दीर्घो लघोः (७, ४, ६४)' 'ऋतश्च (७, ४, ६२)'  
'यदुलं छन्दस्यमाङ्गयोगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यङ्भाषः ॥

(१२) यन्तारः । 'यमु उपरमे (भू० प०)' । तुच् । जश् । "दि  
न्दायः क्षयति थयन्ता (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)"—इति निगमः ॥

(१३) यन्धि । 'यमु उपरमे (भू० प०)' । पूर्ववच्छपोलुङ्,  
हेः 'घा छन्दसि (३, ४, ८८)'—इति हेरपित्ये, 'अङितश्च (६, ४,  
१०३)'—इति धीमावो मकारलोपाभावश्च । "उठ नो यन्धि  
जीयसे (ऋ० सं० ६, ५, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१४) इपुध्यति । 'इपु धरणे' कण्डूपादिः । "विश्वो एप  
इपुध्यति (ऋ० सं० ४, ३, ४, १)"—इत्यत्र 'इपुध्यतिर्पाञ्चमा-  
कर्मणः'—इत्युपटः ॥

(१५) मदेमहि । 'मदी हर्षम्लपनयोः' स्वरितेन्, लिङ् ॥

(१६) मनामहे । 'द्या मग्नामं' षात्ययेनात्मनेपदम्, पाप्मा-  
ध्माध्मात्मा (७, ३, ७८)—इत्यादिगुणेन मनादेशः । "स्वगतो  
मनामहे (ऋ० सं० १, २, २१, ३)"—इति निगमः ॥

(१७) मायमे । मैत्राधातुः ॥

इति शतदश वाचुमाकर्माणः ॥ १४ ॥

दाति (१) । दाशति (२) । दासति (३) ।  
रति (४) । रासति (५) । पृणक्षि (६) । पृणाति  
७) । शिक्षति (८) । तुञ्जति (९) । मंहते (१०)  
इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

(१) दाति । 'दाप् लघने' अदादिः, ददातेषां 'बहुलं  
न्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक् । "दाति प्रियाणि  
चेदसु ( ऋ० सं० ३, ५, ८, ३ )" —इति निगमः ॥

(२) दाशति । 'दाश्ट दाने' स्वस्तिन् । "धनं यस्ते  
ददाशमर्त्यः ( ऋ० सं० १, ३, ८, ४ )" —इति निगमः ॥

(३) दासति । 'दासृ दाने' स्वस्तिन् ॥

(४) रति । 'रा दाने' अदादिः । "तस्य मे रास्व तस्य ते  
मक्षणाय"—इति निगमः ॥

(५) रासति । 'रासृ शब्दे' ष्यस्येन परस्मैपदम् ।  
सनो रासच्छुद्धधन्द्रामाः ( ऋ० सं० ४, ८, ६, ३ )" —इति  
निगमः ॥

(६) पृणक्षि । 'पृन्वा रागपञ्चैः' रुधादिः । "पृणक्षि स्नातलि  
क्रतुम् ( ऋ० नं० ८, ७, २८, ४ )" —इति निगमः ॥

(७) पृणाति । 'पृ पाळनपूरणयोः' ऋयादिः स्वादिश्च ।  
"यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति ( ऋ० नं० २, १, १०, ५ )" —  
इति निगमः ॥

(८) शिक्षति । शचेः 'सनि मीमा (७, ४, ५७)'—इति ।  
 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७, ४, ५८)' संयोगादिलोपः (८, २, २१)  
 "यस्तु भ्यंदाशाद् यो घा ते शिक्षात् (ऋ० सं० १, ५, १२, ३)"—इति  
 निगमः । 'शिक्षतिर्दानकर्मा पठितः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(९) तुञ्जति । 'तुञि हिंसायाम् पालने च' । "तुञ्जे तुञ्जे  
 य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"—इति निगमः ॥

(१०) मंहते । 'वृहि महि वृद्धौ' आत्मनेपदी । स्तोत्रम्भो  
 मंहते मघम् (ऋ० सं० १, १, २१, ३)"—इति निगमः ॥

इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

परिस्रव (१) । पवस्व (२) । अभ्यर्ष (३)  
 आशिपः (४) । इति चत्वारोऽध्येपणा-  
 कर्माणः ॥ २१ ॥

(१) परिस्रव । 'स्रु गती (भू० प०)' परिपूर्वः । लोम्-  
 ध्यमैक्यचनम् । "न्द्रायेन्द्रो परिस्रव (ऋ० सं० ६, ६, १४,  
 ३)"—इति निगमः ॥

(२) पवस्व । 'पूम् पवने (भू० उ०)' । "पवस्व सोम  
 मन्दपत्र (ऋ० सं० ७, २, १६, १)"—इति निगमः ॥

(३) अभ्यर्ष । 'श्राय गती' मुदादिः । 'छन्दस्युभयथा  
 ३, ४, ११७)"—इति शास्त्रार्थधानुकल्पे क्लिप्तवामापाद् गुणः ।  
 'अभ्यर्षे स्वायुधा"—इति निगमः ॥

(४) भाषिणः । अश्रोतेल्लट् । 'सिब्यहुलं लेटि (३, १, ३४)'

ए, 'लेटोऽडाटो (३, ४, ६४)' ॥

इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २ ॥

स्वपिति (१) । सस्ति (२) । इति द्वौ स्वपि-  
तिकर्माणौ ॥ २२ ॥

(१) स्वपिति । 'त्रि प्यप शयने' अदादिः । तिपि 'यदा-  
दिभ्यः सार्वधातुके (७, २, ७६)'—र्त्नाद् । "यो दीक्षितः  
स्वपिति"—इति निगमः ॥

(२) सस्ति । 'यस षष्ठी' अदादिः । "सन्तु मात सन्तु  
पिता ( षा० सं० ५, ४, २२, ५ )"—इति निगमः ॥

इति द्वे स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः (१) । फातुः (२) । कर्त्तः (३) । वत्रः  
(४) । फाटः (५) । ग्यातः (६) । अवतः (७) ।  
क्रियिः (८) । सूदः (९) । उत्सः (१०) । ऋदय-  
दात् (११) । फागेनगत् (१२) । कुशयः (१३) ।  
केयटः (१४) । इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

(१) कूपः । 'पुराशोपपदान् विचनेः अन्येष्वपि इरणे  
१, २, १०१)'—इति इ, 'अन्येष्वपि इरणे (५, १, ११०)'—

इति दीर्घः । कुत्सितं पानमत्र, कृच्छसाध्यत्वाच्छ्रौक-  
सम्भवाद्वा । यद्वा, 'कुप क्रोधे' दिवादिः । इगुपधलक्षणः क,  
पृपोदरादित्यात् दीर्घः । कुप्यन्त्यस्मै मनुष्याः दुरादानजलः  
त्यात् । यद्वा, कचतेर्गतिकर्मणः, 'कुयुस्याञ्च ( उ० ३, २५ )—  
इति पप्रत्ययः, किच्चादीर्घश्च । गम्यते जलार्थिभिः । 'विट्  
कूपेऽवहितः ( ऋ० सं० १, ७, २३, २ )'—इति निगमः ॥

(२) कालुः । 'कै गै शब्दे ( भू० प० )' । सितनिगमि-  
सिसच्यविधाञ्कुशिभ्यस्तुन् ( उ० १, ६७ )—इति षाडुलका-  
त्तुन् । शब्दयते बहुलत्वादिना । यद्वा, कशब्दे उपपदे भलोः  
'छन्दसीणः ( उ० १, २ )'—इति षाडुलकादुण् । कमुदक-  
स्मिन् भक्ष्यते अधिगम्यते । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) कर्त्तः । करोतेर्षा द्विसार्धात् । 'दृसिभ्यमिष्यामि  
दमिन्द्रूपूर्भिभ्यस्तन् ( उ० ३, ८३ )'—इति षाडुलकात्तन् ।  
क्रियते उन्पाद्यते पुरुषैः, द्विस्यन्त्यत्र चौराः पधिकारीनर्षणः,  
कस्य श्रुतः प्राप्तिरत्रेति धा । "कर्त्तमन्यस्य विसमादाय इत्यन्ति"  
—इति निगमः ॥

(४) कयः । 'वृम् सम्भक्तौ ( स्या० उ० )' । 'घप्रथे कषिषा-  
मम् ( ३, ३, ५८ धा० २ )'—इति कः । 'कृभ्रादीनां के द्वे भण्ट  
( ३, ३, ५८ धा० ३ ) । सम्भक्त्यने जलार्थिभिः । "यर्षा भनन्ता  
भयसा परीष्ट ( ऋ० सं० ५, ७, ८, २ )"—इति निगमः ॥

(५) कटः । 'कटे वनांपरणयोः ( भू० प० )' घम् । भावि-  
यने जलार्थिभिः । यद्वा, 'भट पट गतो ( भू० प० )' घप् ।

“काटे नियाल्वह ऋषिरह दूतये ( ऋ० सं० १, ७, २४, ६ )”

—इति निगमः ॥

(६) खातः । ‘खनु अचदारणे ( भू० उ० )’ । निष्ठा ।  
निगमोऽन्येषणीयः ॥

(७) अघतः । अघपूर्वाद्दत्तनेः पचाद्यच्चि ( ३, १, १३४ )  
शकन्ध्यादित्वात् पररूपम् ( ६, १, ६४ पा० ) । अघातति  
सन्वमानोऽधोगच्छति “द्वोणाद्वाचमवतमश्मन्वम् ( ऋ० सं० ८,  
५, १६, १ )” — “आवृतासोऽवतासो न कर्तुंमिः ( ऋ० सं० १,  
४, २०, ३ )” — इति निगमी ॥

(८) क्विचिः । करोतेः कृणोतेर्वा ‘कृषिषुष्विच्छविस्थयिक्कि-  
कीद्विचि ( उ० ४, ५६ )’ — इतीन्द्रप्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यने ।  
कर्षणदर्शः । “आय इन्द्रं क्विचि यथा ( ऋ० सं० १, २, २८, १ )”  
— इति निगमः ॥

(९) मूदः । ‘मूद क्षरणे हिंसायाश्च ( भू० भा० )’ । क्षर-  
त्यस्मान् जलं, हिंसायां कर्षणदर्शः । ‘शोभनोदकः मुग्धरोद-  
को वा मूदः’ — इति ह्रस्वसमिधः । ‘उदकस्रोदः सम्भ्रायात्  
( ६, ३, ५७ )’ । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१०) उत्सः । उत्पूर्वात् सत्तः सदेः सन्देर्वा इप्रत्ययः  
सन्देयलोपो वादुल्फान् । [उन्देर्वा ‘उन्देर्नलोपश्च’ — इति  
सप्रत्ययः । उद्गच्छत्यस्मान् जलम्, सन्देने भार्गविक्रियने  
जलेन । “उत्सं न कश्चिन्नपानमशितम् ( ऋ० सं० ७,  
२२, ५ )” — इति निगमः ॥



(११) शृश्यदात् । 'श्रीयी गतो (तु० प०)' । मप्रपद्-  
यश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययो मूर्द्धन्यस्य शादेशो  
गुणाभावश्च निपात्यते । शृष्या मृगाः । शृष्यान् घटि ।  
'धातोऽनुपसग कः (३, २, ३)' । पञ्चम्येकवचनम् । कृपो हि  
दुर्महजलत्वात् शृष्यान् खण्डयति, खण्डितत्वञ्च जलादानेच्छा  
न करोति । "युधं घन्दनमृश्यदादुद् पयुयुधं (श्र० सं० ७, ८  
१६, ३)"—इति निगमः ॥

(१२) कारोतरात् । करणं कारः । करोतेर्वञ् । कारेण  
खननक्रियया उत्तरः अधिकः प्रदेशान्तरादुत्कृतो घा । यद्वा,  
उत्खातमुदकं यस्य सः कारोतरः कृतोदको घा । पृगेद-  
रादित्वात् कारोतरः । पञ्चम्येकवचनम् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१३) कुत्रायः । कौ शोते । 'अधिकरणे शोतेः (३, ५, १५)'  
—इत्यच्प्रत्ययः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१४) केपटः । 'केवृ सेयने (भू० भा०)' । 'शकादिभ्योऽट्  
(उ० ४, ७६)'—इत्यट्प्रत्ययः । सेयने जलार्थिभिः । "माकी सं  
शादि केपटे (श्र० सं० ४, ८, २०, २)"—इति निगमः ॥

इति घतुर्वंश कृपनामानि ॥ २३ ॥

तृपुः (१) । तका (२) । रिभ्या (३) । रिपुः (४)  
का (५) । रिहायाः (६) । तायुः (७) ।  
करः (८) । यनर्गुः (९) । दुरधित् (१०) ।

सुपीवान् (११) । मलिम्लुचः (१२) ।  
अघशांसः (१३) । वृकः (१४) । इति चतुर्दशैव  
स्तेननामानि ॥ २४ ॥

(१) तुपुः । 'तुप प्रीणने ( दि० प० )' । 'इंयेः किञ्च ( उ० १, १३ )'—इति बाहुलकादुप्रत्ययः किञ्च । परद्रव्यापहारात् तुप्यति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) तका । तकतिर्गतिकर्मा, 'तक सहने ( भू० प० )' । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )'—इति घनिप् । गच्छति मोपणार्थम्, मोपणेन वा सहते अभिभवति । "तका न भूर्णिवना सिपकि ( ऋ० सं० १, ५, १०, १ )" —इति निगमः ॥

(३) रिभ्वाः । 'रभ रामस्ये ( भू० भा० )' । पूर्वघट्टनिप् । पृयोदरादित्यात् इकारो गुणाभायश्च । रभते मोपणविद्यां वेगेन करोति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) रिपुः । 'रिफ कथनयुद्धनिन्दाहिसादानेषु ( तु० प० )' । 'इंयेः किञ्च ( उ० १, १३ )'—इति बाहुलकादुप्रत्ययः । "रिपति" केचित् पठन्ति । तत्र बाहुलकादेव फकारस्य पकारः । रिफति, मोपणार्थं युद्धते दिनस्ति वा निव्यते च सप्तपुर्यैः । "मा नः स रिपुरीशत ( ऋ० सं० १, ३, ११, १ )" —इति निगमः ॥

(५) रिक्ता । 'रिचिर् वियोजने ( उ० उ० )' । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )'—इति कनिप् । चकारस्य ककारे

व्यत्ययेन । वियोजयत्यर्थैर्यन्तः, वियुज्यते वा प्राणेः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) रिहायाः । 'रिह कत्यनादौ'—इति क्षीरस्वामी । 'परस्त्रेकृष्णविहायस्'—इत्यादिनासुनि आयुडागमो गुणाभावश्च निपात्यते । रिपुवदर्यः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) तायुः । 'तायु सन्तानपालनयोः (भू० आ०) । 'छन्दसीणः ( उ० १, २ )'—इति यादुलकाद् गुणः । पालने यस्मात् सर्वम् । यद्वा, तसेरुपक्षपार्थात् पूर्वपदुणि यादुलकान् सकारस्य यकारः । 'उपक्षीणोऽसाविह लोके आयुषा, यदा तदा राजामारिष्यमाणत्वात्, परलोकेऽपि भ्रमणधर्मकत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी । "अपत्ये तायवो यथा (ऋ० सं० १, ४, ७, २)"—उत स्मैर्न वल्लमधिनं तायुम् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमो ॥

(८) तस्करः । तन्करोतीति विगृह्य दिवाविभानिशाग्रभा ( ३, २, २१ )—इत्यादिना टप्रत्ययः । 'करोति यत् पापकम्'—इति नैरुक्ताः । तच्छब्देन प्रकरणसामान्यादर्धप्राधान्याच्च पापकर्मनिर्देशमभिप्रेतमित्याह—'यत् पापकमिति नैरुक्ताः'—इति । धियाकरणास्तु शब्दपरत्वात् सामान्येऽप्याहुः 'तद्वृहल्योः करपन्थोर्धोरदेवतयोः सुद् सलोपश्च ( ६, १, १५७ ग० मू० )'—इति । तनोनेर्वा स्यात् सन्तानकर्मति सम्मतम् । तथान्ननकर्मत्वं दर्शयति—'दिवा पणि मोषणेन, रात्री च्छेदनेन'—इति स्कन्दस्वामी । तनोनेः क्विपि मयोपे

तुकि चत्वंम् । यद्वा, 'स्यजियजितनिभ्यो द्वित् ( उ० १, १२१ )'  
—इति भदिप्रत्यये तत् । कर्मशब्दस्य मकारलोपः । पृषो-  
दरादित्वात् रूपम् । "तनूत्यजे थ तस्करा घनर्गु ( ऋ० सं०  
७, ५, ३२, ६ )" — "तस्काराणां पतये नमः ( य० षा० सं० १६,  
२१ )" — इति निगमौ ॥

(६) घनर्गुः । घनशब्दोपपदात् गमेः 'भृगव्यादपश्च ( उ० १,  
३६ )' — इति डुप्रत्ययो रुडागमश्च निपात्यते । तस्कारो हि  
मोषणार्थं सदा घनं गच्छति । निगमोऽन्वेपर्णीयः ॥

(१०) हुरश्चित् । 'हृच्छां कौटिल्ये ( भू० प० )' । क्विप् ।  
'राहोपः ( ६, ४, २१ )' — इति घकारलोपः । 'चिती सभ्रज्ञाने  
( भू० प० )' । क्विप् । हुरः कौटिल्यानि चेतयते । यद्वा, हरतेः  
'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )' — इति विचि गुणः, पृषो-  
दरादित्वात् अकारस्योकारः । हुरः अर्थानामाहर्तृन्, चेतयतेः  
चिनोतेर्था क्विप् । हुरः हतानर्थान् सञ्चिनोति । अपिशब्दाद्  
अ कर्मणि विच् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् ( ६, ३, १४ )'  
— इत्यलुक् । "अपप्रोधन्तः सनुतर्हुरश्चितः ( ऋ० सं० ७, ४,  
२४, ५ )" — इति निगमः ॥

(११) मुषीवान् । 'मुष स्तेये ( क्वा० प० )' । अच् । 'कृदि-  
कारादक्लिः ( ४, १, ४५ षा० )' — इति ङीप् । मुषी मोषणम-  
स्यास्ति । 'छन्दसीवनिषी ( ५, २, १२२ षा० २ )' — इति षनिप् ।  
'मुषीवाणं हुरश्चितम् ( ऋ० सं० १, ३, २४, ३ )' — इति निगमः । अत्र  
'परोक्षहर्ता धौरो मुषीवान्, प्रत्यक्षहर्ता हुरश्चित्' — इति माधवः ॥

(१२) मन्त्रिलुचः । मन्त्रमध्यासि । 'उयोन्त्रातविधा-  
 शृङ्गिणोर्जंमिन्नृजंमन्त्रगोमिन्मन्त्रिमन्त्रीमसाः (५, ३, ११४)  
 —इति मन्त्रिणो निपात्यते । म्नुय स्नेयकरणे ( मू० प० ) ।  
 'रगुपधर्गाफीकरः कः (३, १, १३५)' । मन्त्रिमध्यासो म्नुयञ्च  
 मन्त्रिलुचः । पृगोदरादित्येन मन्त्रोपः । निगमोऽन्येर्णानि ।

(१३) भघशांसः । भाद्रपूर्यान् दन्तेः 'मन्येथ्यपि इदन्ते  
 (३, २, १०१)'—इति इः । पृगोदरादित्यान् भाडो-इस्वत्वं  
 दकारस्य घत्पञ्च । शांसतेः पद्याद्यच् । माहन्ता, यथस्यभावन,  
 भाशांसमानश्च । "अघशांसस्य फस्यच्चिन् ( ऋ० सं० १, ३, २४  
 ४ )" —इति निगमः ॥

(१४) धृकः । व्याख्यातमृत्विङ्नामसु (३५३ पृ०) । धारको  
 मार्गस्य । "यो नः पूषन्नघो धृकः ( ऋ० सं० १, ३, २४, २ )"  
 —इति निगमः ॥

इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम् (१) । सस्वः (२) । सनुतः (३) ।

हिरूक् (४) । प्रतीच्यम् (५) । अपीच्यम् (६) ।

इति षट्निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

(१) निण्यम् । निर्शाब्दपूर्वात् नयतेः 'अप्प्याद्यश्च ( उ०  
 ३, १०८ )'—इति यत्प्रत्ययष्टिलोपो रेफलोपश्च निपात्यते ।  
 निर्णीतं षट्निर्णीतम्, निर्गतमन्तर्हितं वा । "वृत्रस्य निण्यं वि-

चल्त्यापः ( ऋ० सं० १, २, ३७, ५ )—“निष्पः सन्न द्वो मनसा  
चरामि ( ऋ० सं० २, ३, २१, २ )”—इति निगमौ ॥

(२) सस्वः । सम्पूर्वात् स्वरतेर्गतिकर्मणो विचि रपरगुणः ।  
समोऽन्तलोपः । सम्यगन्तर्गतं विनिर्गतं वा । “सस्वर्ह यन्म-  
स्यो गोतमो वः ( ऋ० सं० १, ६, १४, ५ )”—“यत् सस्वर्ता  
जिहीष्विरे यदाविः ( ऋ० सं० ५, ४, २८, ५ )”—इति निगमौ ॥

(३) सनुतः । (४) हिरक् । स्वरदिः । “सनुतर्देहि तं  
स्तः ( ऋ० सं० ६, ६, ३६, ३ )”—“य इं इदर्शो हिरुगिन्नु  
सस्मात् ( ऋ० सं० २, ३, २०, २ )”—इति निगमौ ॥

(५) प्रतीच्यम् । (६) अपीच्यम् । अपीच्यमपगतमपचितम्  
( निर० ४, २५ )—इत्यादिभाष्ये ‘प्रत्यपचितं स्थितम्’ इति  
स्कन्दस्वामी । प्रतिपूर्वात् अपमात्रपूर्वाद्य चिनोतेः अङ्ग्यादि-  
स्वात् यप्रत्ययष्टिलोपादि च निपात्यते । प्रतीच्यस्य निगमोऽ-  
न्वेरणीयः ॥ “नाम त्वष्टुःपीच्यम् ( ऋ० सं० १, ६, ७, ५ )”  
—“( य उस्त्राणामपीच्याः ( ऋ० सं० ६, ३, २६, ५ )”—  
इति निगमौ ॥ ‘य उस्त्राणामपीच्या’—इत्यत्र ‘अपिपूर्वादञ्चनेः  
‘अत्विगित्वादिना (३, २, ५६)’ किन्प्रत्ययः, सतो ‘भवे छन्दसि  
च (४, ४, ११०)’—इति यत्, ‘अचः (६, ४, १३८)’—इत्यकार-  
लोपः’ ‘चौ (६, ३, १३८)’—इति पूर्वपदस्य दीर्घः । ‘अपीच्योऽ-  
प्रकारः’—इति भट्टमाम्करमिथः ॥

इति षट् निर्णोतान्तर्हितनामानि ॥ २५ ॥

आके (१) । पराके (२) । पराचैः (३) ।  
आरे (४) । परावतः (५) । इति पञ्च दूरना-  
मानि ॥ २६ ॥

(१) आके । (२) पराके । आङ्पूर्वान् परापूर्वाद्यं एते  
'विनाकादयश्च ( उ० ४, १५ )'—इति आङ्प्रत्ययो घातुलोपश्च  
निपात्यते । यद्वा, आङ्पूर्वान् परापूर्वाद्यं किरतेः 'अन्येष्वपि  
(३, २, १०१)'—इति डः । आकीर्णं पराकीर्णं च तद् विशिष्ट-  
मिध भवति आके निगमोऽन्येष्वर्णायः ॥ "क्षयन्तमस्य रजसः  
पराके ( ऋ० सं० ५, ६, २५, ५ )"—इति निगमः ॥

(३) पराचैः । नीचैरिति घट्प्रत्ययं पराचैः—इति भट्ट-  
भास्करमिश्रः । निगमोऽन्येष्वर्णायः ॥

(४) आरे । अव्ययम् । "न हि त्वदारे निमिषश्च मेशोः  
( ऋ० सं० २, ७, १०, १ )"—इति निगमः ॥

(५) परावतः । ईर्यतेर्बहुतेर्गतिकर्मणो वा संसाधनेऽर्थे  
घर्त्तमानात् प्रोपसर्गात् परोपसर्गाद्वा 'उपसर्गाच्छन्दसि घात्वर्थे  
(५, १, ११८)'—इति वृत्तिः । पृषोदरादित्वात् प्रशब्दस्य  
परामाद्यः । प्रकर्षेण ईरति विशिष्टं परागतमिध वा तद् भवति ।  
"परावतं परमां गन्तवा उ ( ऋ० सं० ८, ५, ३, ४ )"—  
परावतः ( ऋ० सं० ३, ६, २१, १ )"—इति निगमो ॥

इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् (१) । प्रदिवः (२) । प्रवयाः (३) ।

सनेमि (४) । पूर्व्यम् (५) । अह्नाय (६) । इति

षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

(१) प्रत्नम् । 'नञ्च पुराणे प्रत्न (५, ४, २५ पा० २)'—  
इति नप्रत्ययः । "तम् प्रत्नाया पूर्व्या विश्वधेमया ( ऋ० सं०  
४, २, २३, १ )" —इति निगमः ॥

(२) प्रदिवः । "यदीमनु प्रदिवः ( ऋ० सं० २, २, ८, ३ )" —  
इत्यत्र पुल्लिङ्गद्विवचनान्तेन, "क्षत्रं राजाना प्रदिवः ( ऋ० सं०  
३, २, २३, ५ )" —इत्यत्र, षष्ठ्येकवचनान्तेन, "इन्द्राय सोमाः  
प्रदिवः ( ऋ० सं० ३, २, १६, २ )" —इत्यत्र प्रथमावहुवचनान्तेन  
च प्रदिव इत्येव सामानाधिकरण्यदर्शनात् सकारान्तमेतद्व्यय-  
मित्याहुः । इन्द्रार्थत्वेनानादिकालप्रवृत्ता इत्यभाषयत् । तेन  
प्रगतानि दिनान्यस्य पूषेदरादिस्थाश्रकारस्य षकारः इत्यादि  
व्युत्पत्तिः । निगमेषु षचनव्यत्ययश्चाश्रयणीयः ॥

(३) प्रवयाः । प्रगतं षयो यस्य । षयः कालमात्रमत्र ।  
निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) सनेमि । अव्ययम् । "सनेम्यस्मद्युयधत्तमीवाः ( ऋ० सं० ५,  
४, ५, ७ )" — "सनेमि सस्यं स्वपस्यमानः ( ऋ० सं० १, ५, २, ४ )" —  
"सनेम्यन्व मरुतो जुनन्ति ( ऋ० सं० २, ४, ८, ३ )" —इति निगमः ॥

(५) पूर्व्यम् । 'पूर्वं पूरणे ( भू० प० )' । षचाद्यच् (३, १,  
१३४) । षयःप्रवृत्तिं पूरयतीति, पूर्वस्मिन् काले षयं पूर्व्यम्



‘भवे छन्दसि (४, ४, ११०)’—इति यत् । यद्वा, पूर्वः इति  
 मिनर्यो ष (४, ४, १३३)’—इति षः । “पूर्वदोषस्य क  
 (अ० सं० १, २, २०, ५)”—“यः स्तोत्रेभिर्वावृत्रे पूर्वमे  
 (अ० सं० ३, २, ११, ३)”—इति निगमो ॥

(६) अन्हाय । अत्र्ययम् । निगमोऽन्वेष्टनीयः ॥

इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

नवम् (१) । नूलम् (२) । नूतनम् (३) ।  
 नव्यम् (४) । इदा (५) । इदानीम् (६) । इति पठेव  
 नवनामानि ॥ २८ ॥

(१) नवम् । यद्वा, ‘णु स्तुतो (अ० सं० ५०)’ । ‘ऋदोष्  
 (३, ३, ५७)’ । नूयते स्तूयते, अचिरकृतत्वेन रमणीयत्वा-  
 दिति । “नवेन पूर्वं दयमानास्य”—इति निगमः ॥

(२) नूलम् । नौतेरेव । ‘रात्रासात्रा (३० ३, १३)-  
 इत्यादिना नप्रत्ययो दीर्घश्च निपात्यते । “नूजाऽऽदि  
 ते घयमूती (अ० सं० ६, २, २, २)”—इति निगमः ॥

(३) नूतनम् । नवस्य नू—आदेशः ‘घतनतनथस्त्राश्च प्रत्यया  
 प्रकल्याः (५, ४, २५ घा० १)’—इति तनप्रत्ययः । “इणो  
 नूतनैस्त (अ० सं० १, १, १, २)”—इति निगमः ॥

(४) नव्यम् । नवमेव नव्यम् । ‘शास्त्रादिभ्यो यत्  
 (५, ३, १०३)’—इति स्वार्थे यत् । यद्वा, नौतेः ‘अनो  
 यत् (३, १, ६७)’—‘घान्तोयि प्रत्यये (६, १, ७६)’ ।

“द्विती स्तोम जनयामि नयम् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)”  
—इति निगमः ॥

(५) इदा । ‘तयोर्दाहिलौ च छन्दसि (५, ३, २०)’—इति  
दशमंदात् सप्तम्यन्तात् दाप्रत्ययः । “इदा द्वि व उपस्तुतिम्  
(ऋ० सं० ६, २, ३३, १)”—इति निगमः ॥

(६) इदानीम् । ‘दानीञ्च (५, ३, १८)’—इति तस्मादेव  
दानीप्रत्ययः । “इदानीमहऽउपधाव्यो नृभिः (ऋ० सं० ३,  
८, ५, १)”—इति निगमः ॥

इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे (१) । अभीके (२) । दध्रम् (३) ।  
अर्भकम् (४) । तिरः (५) । सतः (६) । त्वः (७) ।  
नेमः (८) । ऋक्षाः (९) । स्तृभिः (१०) । वस्त्रीभिः  
(११) । उपजिह्विका (१२) । उर्दरम् (१३) ।  
कुदरम् (१४) । रम्भः (१५) । पिनाकम् (१६) ।  
मेना (१७) । ग्नाः (१८) । शेषः (१९) । वैतसः  
(२०) । अया (२१) । एना (२२) । सिपक्तु (२३) ।  
सचते (२४) । भ्यसते (२५) । रेजते (२६) । इति  
षड्विंशतिर्द्विंश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥



- (१) स्वधे । व्याख्यातमग्रनामसु (१४५ पृ० । २२५ पृ०) । स्वैनात्मना भूतशर्मं धारयतः, स्वं धनं धीयते अनयोरिति वा । चावापृथिवीनामसु सर्वत्र द्विवचनान्तत्वम् । तथाच "आहु वृषाते मिथुनानि नाम (अ० सं० ३, ३, २४, २)" — इत्यत्र, स्कन्दस्वामी—'मिथुनानि द्विवचनसंगुक्तानि नामानि स्वधे पुलघी'—इत्यादीनि स्तोत्रम्भ्यः'—इति ॥

(२) पुराणी । पुराणि धीयन्तेऽनयोः । 'कर्मण्यधिकरणे च (३, ४, ६३)'—इति क्रात्ययः । पृषोदरादित्वात्प्रकार उप-  
जनः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) धिपणे । व्याख्यातं वाङ्नामसु (१०८ पृ०) । स्वं रक्षितुं प्रगल्भे समर्थे, धारयिष्यौ वा देयमनुष्यादीन्, शक्यते स्मृयते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) रोदसी । 'इतीदमस्ति स्त्रीलिङ्गद्विवचनान्तम्, चावापृथिव्योर्वर्तमानं चास्ति नपुंसकद्विवचनान्तम्, अस्ति चाव्ययम् । तत्र निगमानां साधारण्यात् तेषां त्रयाणामपि साधारणोऽयं पाठः'—इत्याहुः । 'प्रस्तरथ्यापि विमुग्धात्, "रोदस्यौ रोदसी च ते"—इत्यत्र आद्य ईकन्तो द्विवि भुवि च वर्तते, अन्त्यः सान्तः'—इति क्षीरस्वामी । तत्र ह्येत्सुन, पृषोदरादित्वात् प्रकारस्य दकारः, स्त्रीलिङ्गे तु 'उगितश्च (४, १, ६,)'—इति ङीप्, 'चा छन्दसि (६, १, १०६)'—इतिपूर्व-  
सवर्णः । आभ्यां हि विविधं रूढानि सर्वभूतानि । "नमो दिव्ये बृहते रोदसीभ्याम् (अ० सं० २, १, २६, ६)" — "होतारं

सत्ययज्ञ रोदस्योः (ऋ० सं० ३, ४, २०, १) — इमे विद्वि  
 रोदसी अपारै (ऋ० सं० ३, २, १, ५) — इति निगमाः  
 “विपितस्तुका रोदसी नृमृणाः (ऋ० सं० २, ४, ४, ५) — इत्यर्वा  
 अन्तोदात्तो रोदसीशब्दो र्द्वपत्नीयचनः” — इति माधवः ।

(५) क्षोणी । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३१५०) । “अयः क्षोणी  
 सचते माहिना धाम् (ऋ० सं० २, ४, २३, ५) — इति निगमः ।

(६) अम्मसी । व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०) । बहु-  
 लकादत्रापि नुम् । यद्वा, अम्म उदकमनयोःस्ति, मत्स्यो-  
 यस्य लुक् । एकत्रावशिष्टमपरत्रावशिष्यमाणमादित्यमण्डल-  
 स्थम् । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(७) नमसी । ‘णह यन्धने (दि० उ०)’ । ‘नहेदिषि म-  
 (उ० ४, २०)’ — इति असुन् । साहचर्यात् उभे भेदि नम-  
 शब्देनोच्यते । सम्यध्यते पुण्यध्विः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(८) रजसी । ‘रज्ज रागे (भू० उ०)’ । ‘भूरङ्गिभ्यां क्ति  
 (उ० ४, २११)’ — इत्यसुन् । ‘रजकरजनरजसीति धा नलोपः,  
 रजके स्वगुणे भूतानां ‘रजोरजतेर्गासिकर्मणः’ — इति माधवः ।  
 गम्यते पुण्यध्विः । निगमोऽन्येषणीयः ॥

(९) सदसी । सदरेसुन् । सीदन्त्यनयोर्द्वयमनुष्यादयः ।  
 निगमोऽन्येषणीयः ॥

(१०) साप्ती । सदरेष मन्त्रिः । “पुराण्योः साप्तीः  
 क्त्वात् (ऋ० सं० ३, ३, २८, २) — इति निगमः । माधव  
 इत्यम् ॥

(११) घृतघर्ती । 'उदकघर्त्यौ । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(१२) बहुले । 'बंहिष्टः'—इति महन्नामसु व्याख्यातम्

(१२ पृ०) बहुमिः पदार्थैस्तदुपत्यौ । "उर्वो पृथ्वी बहुले दूरे-  
न्ते (ऋ० सं० २, ५, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१३) गर्भरि । (१४) गम्भीरि । व्याख्याते घाङ्नामसु  
(१६ पृ०) । गम्भते सत्पुरुषैः, प्रतितिष्ठन्त्यनयोर्दधंमनुष्या-  
दयः । निगमाधन्वेपणीयो ॥

(१५) ओण्यौ । 'ओणृ अपनयने (भू० प०)' । 'इन् सर्व-  
घातुभ्यः (उ० ४, ११४)' । 'कृदिकारादक्षिणः (४, १, ४५  
घा०)'—इति ङीप् । अपनयतः स्वाश्रितानां क्लेशान् ।  
यद्वा, अवतेर्लुटि, छान्दसत्यात् सम्प्रसारणो गुणश्च, टिन्घात्  
ङीप् । "अमि त्वं देवं सधितारमोण्योः (य० घा० सं० ४,  
२५)"—इति निगमः ॥

(१६) चम्यौ । 'चमु अङ्ने (भू० प०)' । 'कृन्चिमित्त-  
निधनिसर्जिस्वर्जिभ्य ऊः (उ० १, ७८)'—इति ऊप्रत्ययः ।  
चमन्त्यनयोः । "उत्तानयोश्चम्योश्चोन्निरगतः (ऋ० सं० २,  
१३, २०, ३)"—इति निगमः ।

(१७) पार्श्वौ । 'स्पृश संस्पर्शने (तु० प०)' । 'स्पृशे श्वष्-  
शुनौ पृ च (उ० ५, २७)'—इति श्वष्प्रत्ययो घातोः पूनाधश्च ।  
जिष्वाद्गृद्धिः ध्यत्ययेन पुङ्क्तिता । "पार्श्वे"—इति पाठान्तरम् ।  
संस्पृशतो ध्याप्नुतः सर्षान् पदार्थान् । निगमोऽन्वेपणीयः ॥

(१८) मही । एतदार्थानि चत्वारि पृथिर्धानामसु व्याख्यातानि

(३२ पृ०) । मंहृत्यौ पूजनीये वा । - “वेपेते मियसा म  
(अ० सं० १, ५, ३१, १)”—इति निगमः ॥

(१६) उर्वो । विस्तीर्णो, आच्छादयिष्यौ वा स्वर्गापस्थितलोकस्य । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) पृथ्वी । प्रथिता विस्तारिता । ब्रह्मणा सृष्टिकाले । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२१) अदिती । देवमनुष्यादिसकल्पपञ्चधारणेऽप्यने इत्यर्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२२) अही । मेघनामसु गोनामसु च व्याख्यातम् (८७ पृ० । २४५ पृ०) । गम्यते प्राणिभिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२३) दूरेअन्ते । दुःशब्दोपपदात् पठेः ‘दुरीणो लोप (३० २, १८)’—इति रफ्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च । ‘रोरि (३, १४)’—इति रेफलोपः, लोपे पूर्वस्य दीर्घः (६, ३, ११०) ‘अन्तो अतनेः (निर० ४, २५)’—इति भाष्यम् । तत्र शतुन् फात्तन् मकारश्चान्तादेशः । ‘दु, खेन गम्यते दूरमतोऽह्लादेर्मध्याष सततगतौ भवति, न कदाचिदादौ मध्ये ‘घास्ति’—इति स्कन्-स्वामी । दूरे अन्तमयसान्गतिर्ययोः । ‘तन्पुरुषे कृति षट्पृम् (६, ३, १४)’—इत्यलुक् । “समान्या पियुने दूरेअन्ते (अ० सं० ३, ३, २५, २)”—इति निगमः ॥

(२४) अपारे । ‘पार तीर कर्मसमाप्तौ’ सुहोत्यादिरदन्तः । यम् । समाप्तिरिति वा समाप्यतेऽनेनेति वा पारः । ‘अपारे दूरेपारे (निर० ६, १)’—इति भाष्ये । ‘शविद्यमानं पारमन्

ययोः ते धपारे । दूरत्वेन परामथं दर्शयति पुराणद्वय्या धा  
लोकपर्यन्तताम्—इति स्कन्दस्वामी । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

अध्यायपरिसमाप्तिसूत्रकद्विर्बचनमिति सिद्धम् ॥

इति देशराजयश्वविरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति नैघण्टुकं नामाद्यं काण्डं समाप्तम् ॥

—००—

### ( नैघण्टुक-टीका-परिशिष्टम् )

स्वरादीनीति पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य ( ५१ पृ०, ३३५ पृ०,  
३७१ पृ० ), निगमदेवताकाण्डयोश्च निर्वचनं भाष्यस्कन्दस्वा  
मिभ्यां प्रदर्शितं तदत्र क्रमेण लिख्यते । तत्र, निगमध्याकथानां  
यदत्राननुसंहितं, तन् तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

(१) स्यः । सुपूर्वादेश्चैरीत्यतेर्षा 'अन्येभ्योऽपि इश्य  
(३, २, ७५)—इति चिन्वि इशिप्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वा  
कसत्त्वंपि भवति । ईत्यतेरिकारस्याकारो षट्पथेन, गुण  
'स्वरादिनिपातमव्ययम् (१, १, ३०)' सुपो लुक् (२, ४, ७  
रेफस्य विसर्जनीयः (८, ३, १५) । शोभनमर्णं गमनं सुक  
हिताय धा यस्य, शोभनं धा प्रेरणं तमसा यस्य, सुष्टु,



• निष्ठा-निष्ठा •

हस्तो रश्मिभिः समात्तात्तुम्, मासं वा ज्योतिषां तद्वर्षादीनां, मासा सुष्ठु हस्तः प्राप्त इति वा, स्वरादित्यः चौघ । - सु सुष्ठु शोभनमरणमभ्यांशक्रीवां पुण्यपद्विरर्पणे, सुष्ठु वा पुण्यपद्विरर्पणे इति म्युतो रसैः म्युतो माभ्यायौलिवा, स्वयमेव वा दीप्त्म् । "भूर्भुवः म्युः ( ष० वा० सं ३, ३७ )"—इति द्विष उदाहरणम् । "प भिनो भर्कभयानो भर्षाश्च स्वरं चं ज्योतिः ( ऋ० सं० ३, ५ १०, ३ )"—इत्यादित्यस्य ॥

(२) पृथ्विः । प्रपूर्णादभोतेः सूर्यानेयां 'पृणिपृथ्विपाणि-पृणिभूर्णि ( उ० ४, ५२ )'—इति निष्प्रत्ययः, प्राशेः सूर्येण प्ररामायो निपात्यते । प्राशुन एनं शुक्रो वर्णः संस्पृष्टा रसान् । एतत्र्याख्यानमन्यत् पूर्वेण । संस्पृष्टा मासं ज्योतिषामस्पृष्टो भासेति वा पृथ्विरादित्यः । चौस्तु संस्पृष्टा ज्योतिर्मिः पुण्यः इद्विध 'सुष्ठुतां वा पतानि ज्योतीन्वि यप्रक्षयाणि ( ऋ० सं० १, ४, ७, २, मा० भा० )'—इति ध्रुतेः । "पृथ्वेः पुत्रा उप-मासो रश्मिष्टाः ( ब्रह्० सं० ४, ३, २३, ५ )"—इति निगमो द्विषः । "अयं वेनश्चो दयत्पृथ्विगर्माः ( ऋ० सं० ८, ७, ७, १ )"—इत्यादित्यस्य ॥

(३) नाकः । नयतेः 'पिनाकादयश्च ( उ० ४, १५ )'—इत्या-प्रत्ययदिलोपश्च निपात्यते । नेता रसानाम्, नेता मासा-तमीयानाम्, ज्योतिषां प्रणायकश्चादित्यः । चौस्तु, कर्मिष्ठि-प्रनाम, न कम् भकम् असुखम्, न अकं चं स नाकः । पाघपाघवेदा ( ई, ३, ७५ )—इत्यादिना नमः प्रकृतिभाक् ।

“न वा अमुं लोकं जामुने किञ्च नाकम् ( निर० २, १४ )”—  
इति प्राद्वर्णम् । अत्यन्तसुखमित्यर्थः । “नाकस्य पृष्ठे  
अधितिष्ठति ध्रितः ( ऋ० सं० २, १, १०, ५ )”—इति  
दिवः । तत्र अधि नाके अस्मिन् ( ऋ० सं० ८, ७, १८, २ )  
—इति निगम आदित्यस्य ॥

(४) गौः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु ( २७ पृ० ) । गमिर-  
वान्तर्णोत्प्यर्थः । गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः,  
गच्छति वान्तरिक्षे इति गौरादित्यः । यत् पृथिव्या उपरि  
दूरं गता, यद्वास्यां ज्योतीष्वपि गच्छन्तीति गौः घौः । “गवा-  
मभि गोपतिरेक इन्द्र ( ऋ० सं० ५, ६, २३, ६ )”—इति  
दिवः । “उ तादः परसे गवि ( ऋ० सं० ४, ८, २२, ३ )”—  
इत्यादित्यस्य ॥

(५) विष्टप् । ‘ष्टभि प्रतिबन्धे ( ऋ० सं० ५० )’ । विपू-  
र्षात् क्विपि भकारस्य पकारो व्यत्ययेन । विष्टभिभराविशते-  
ऽर्थे घर्त्तते । यद्वा, विशेरैव बाहुलकाद्रूपसिद्धिः । पृथिर्षातो  
रसानादातुमाविष्टोऽभिनिधिष्ट इत्यर्थः । एवमेव भासं ज्योतिषां  
भासा घाविष्टो व्यातः आदित्यः । घौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्य-  
कृद्भिश्च । “उद्यद्ब्रह्मस्य विष्टपम् ( ऋ० सं० ६, ५, ६, १ )”—  
इत्याद्युदाहरणम् ॥

(६) नभः । नयतेरसुनि गुणे ‘नयः’ इति स्थिते बाहुल-  
कात् पकारस्य भकारः । नाकशब्देन समानोऽर्थः । अथवा  
भासनशब्दस्य ह्रस्वत्वं, सकारलोपः, नकारभकारयोर्ध्वं, स्थान

विपर्ययः, सान्त्वयञ्च । सर्वत्र सूत्रप्राप्त्यनूक्तौ पृषोदादित्वात्  
द्रष्टव्यम् । यद्वा, न भाति 'नमः' । असुनि भातेऽल्लोपश्च ।  
एतेन धौर्ब्याख्याता । "उयोतिष्मति प्रतिमुञ्च ते नमः"—"सर्व-  
ज्ञानोत्तमसा ( ऋ० सं० ७, ३, १४, ५, )"—इत्युदाहरणम् ॥

इति पट् साधारणानि दिवश्चादित्यस्य ॥ १; ४ ॥

इदमाद्युपमानामानि । भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना  
विस्तरेण व्याख्यातानि ( निघ० ३, १३—१८ ) । निपातः  
स्यात् शब्दनिर्वचनस्यापक्तव्यत्वात् उदाहरणमात्रमत्र  
श्र्यते ।—

(१) इदमिव । (२) इदं यथा । अत्र इदंशब्द उपमा  
शब्दसन्निधानाय प्रयुक्तः । इवाद्यश्च निपाताः । पराध्वस्यं  
पमानत्यस्य धर्मस्य प्रतिपादनार्थाः । "इन्द्र इयेह ध्रुवस्तिः  
( ऋ० सं० ८, ८, ३१, २ )"—"यथा घातो यथा घनम् ( ऋ० सं०  
४, ४, २० ४ )" ॥

(३) अग्निर्न वे । अत्र नशब्द उपमानार्थः । "अग्निर्न वे  
साजसा रुक्मयशसः ( ऋ० सं० ८, ३, १२, २ )" ॥

(४) "यतुरधिददमानात्" ( ऋ० सं० १, ३, २३, ४ ) ।  
अत्र चिच्छब्दः ॥

(५) "प्राक्षणा प्रतनारिणः ( ऋ० सं० ५, ७, ३, १ )" ।  
उपमाप्रतिपादनेनादिलोपाल्लुभोपमः ॥

(६) “वृक्षस्य नु ते पुच्छत षयाः ( ऋ० सं० ४, ६, १०, ३ )” । अत्र नू शब्दः ॥

(७) जार आ भगम् । उदीरय पितरा जार आ भगम् ( ऋ० सं० ७, ६, १०, १ )” । अत्र आकारः ॥

(८) “मेयो भूतो ३ मि यन्नयः ( ऋ० सं० ५, ७, २४, ५ )” । अत्र भूतशब्देनोपमोच्यते ॥

(९) तद्रूपः । (१०) तद्दर्णः । रूपशब्देन धर्णशब्देन चोपमोच्यते । रूपदेन समासादुपमा प्रतीयते ॥

(११) तद्दन् । पूर्ववत्तच्छब्दस्यार्थः । “प्रियमेधवद्वि ( ऋ० सं० १, ३, ३१, ३ )” । तेन तुल्यं क्रियाच्चेदु घतिः ( १, ११५ ) ॥

(१२) तथा । तत्रज्ञथा पूर्वथा विश्वधेमा ( ऋ० सं० ३, २३, १ )” । प्रहपूर्वविश्वेमात् धात् छन्दसि ( ५, ३, ११ )—इति इवार्थेऽयं धात् विहितः ॥

इति द्वादशोपमानामानि ॥ ३, १३ ॥

“तथा”—इत्यस्यानन्तरं “सिद्धः”—इति केषुचित् कं दृश्यते, सत्र पठनीयम्, अथ लुप्तोपमानि ( निरु० ३, १८ ) इत्यादिभाष्यस्य तु “द्राक्षणा अतवारिणः (५)”—इति मुक्तस्य लुप्तोपमस्य प्रपञ्चत्वात् ॥

(१) प्रपित्वे । (२) अमोके । इत्यासन्नस्य । प्रपूर्वादा निर्णयार्थं प्राक्शब्दस्य प्रपित्वभाषः । यद्वा, ‘इत्यनाद्वोऽन्येभ्यं दृश्यन्ते’—एतीत्यनप्रत्यये धातुलकादाप्प्रोतेराकारलोपः । पित

भाष्यप्रार्थः । प्राणदेशकान्तयो प्राणिः प्रणिव्ये इति ॥ अमिर्क-  
 द्वाग्नेः 'भनीकादगाभ (३० ४, २०)'—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपः  
 निगम्यते । अग्नौ भागत्रे इत्यर्थः । सोपसर्गो मन्त्रशब्दो  
 यथाप्यापिति पठितो ॥ "भाणिव्ये नः प्रणिव्ये द्य मन्त्रदि  
 (ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"भर्माके निदु लोकान् (ऋ० सं०  
 ८, ७०१, १)"—इत्यपि निगमो ॥

(३) दधम् । (४) भर्मकम् । इत्यन्यस्य । इवमि-  
 द्भ्रान्तेयं धर्मकणः 'भ्कारयितञि (३० २, १२)'—इत्यादि  
 रप्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः । सुह-  
 सुच्छेद्म् अल्पन्पात् ॥ हर्णेः 'भर्मकञ् पृथुकपाका घयसि  
 —इति कप्रत्यये, हकारस्य भकारे गुणे रपरत्ये अकारे लोप-  
 जने च भर्मकमिति निपात्यते । अयहतमूनपरिमाण इत्यर्थः ॥  
 "मा मे दद्याणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो  
 महद्भ्यो नमो भर्मकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)" ॥

(५) तिरः । (६) सतः । इति प्रातस्य । अप्रातस्येत्यपरः  
 पाठः । तस्तेरसुनि यादुलकादकारस्येकारः । तीर्णं प्रात-  
 मागतम् ॥ सत्तेरसुनि रेफस्य घकारः । सतः संसृतम् ॥  
 अप्रातस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम् ॥ "तिर-  
 ध्विर्द्वया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेषामिन्द्वत्सत  
 यति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, १, १)" ॥

(७) त्वः । (८) नेमः । इत्यर्द्धस्य । अर्द्धशब्दोऽत्र सम्य-  
 विभागवचनः, अर्द्धं हस्ते इति नपुंसकनिर्देशान् । त्वः अय-

गतः अपेत्यः समुदायात्, गतः पृथग्भूतः । ततोतेरुपधायाः पूर्व उकारः, यणादेशः, - नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्द-सामी । ततोतेः- 'सर्वनिघृश्वरिष्वलष्व (उ० १, १५१)' इति पदप्रत्ययष्टिलोपो निपात्यते ॥

नेमशाब्दोऽङ्गनामसु ध्याख्यातः (२२५ पृ०) । सर्वादिरयम् । समुदायादवनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः ॥ "पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)" — "प्र नेमस्मिन् दृढरो सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)" ॥

(६) ऋक्षाः । (१०) स्तुभिः । इति नक्षत्राणाम् । ऋष गतौ (नु० प०) । ऋषेः 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)' — इति किङ्किप्रत्ययः । ऋषिरत्र उदर्षपिशिष्टः । उद्गतानि ऊर्ध्वमीरितानोप प्रकाशन्ते ॥ 'स्तून् आच्छादने (क्या० उ०)' । कर्मण्योणादिकः क्विप्, यादृलकान्तुम् न भवति । सीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि । तस्य पाठो यथादृष्टम् ॥ "अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा (ऋ० सं० १, २, १४, ५)" — "पश्यन्तो यामिव स्तुभिः (ऋ० सं० १, ५, ६, ३)" ॥

(११) यघोभिः । (१२) उपजिह्वका । इति सीमिकानाम् । यघशाब्दो हसनामसु ध्याख्यातः (३०४ पृ०) । 'जाते-रखोपिषयात् (४, १, ६३)' इति डीप् । जातिशब्दधार-खीपुंसपोर्ङ् षो लोके खीलिङ्गो प्रसिद्ध इति स पठितः ॥ यसनि हि ते मृदमुपजिह्वकाः । 'शीष्यइजिहा (उ० १, १५२)' — इति

भासघार्यः । प्रकृष्टदेशकालयोः प्राप्तिः प्रपित्वे इति ॥ अमिष्व  
दञ्चतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)—इतीकन्प्रत्ययो घातुलोप  
निपात्यते । अम्यक्ते भासश्चे इत्यर्थः । सोपसर्गोः सप्तम्यन्ते  
यथादृष्टाविति पठितौ ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे त्व मासि  
(ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अमीके चिदु लोकं (ऋ० सं०  
८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ ॥

(३) दञ्चम् । (४) अर्मकम् । इत्यल्पस्य । दञ्चमिति  
दम्नोतेर्बधकर्मणः 'स्फायितञ्चि (उ० २, -१२)'—इत्यादिना  
रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः । सु  
सुच्छेदम् अल्पत्वात् ॥ हरतेः 'अर्मकञ्च पृथुकपाका षर्वा  
—इति कप्रत्यये, हकारस्य भकारे गुणे रपरत्ये अकारे नो  
जने च अर्मकमिति निपात्यते । अथहतमूनपरिमाणे इत्यर्थः ।  
"मा मे दञ्चाणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"मनौ  
महद्दुम्यो नमो अर्मकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)" ॥

(५) तिरः । (६) सतः । इति प्रातस्य । अप्रातस्येत्यपठ  
पाठः । तरतेरसुनि घातुलकादकारस्येकारः । तीर्णे प्रात-  
मागतम् ॥ सत्तेरसुनि रेफस्य षकारः । सतः संसृतम् ॥  
अप्रातस्येति पाठे पराजितं तरणं तरणं च द्रष्टव्यम् ॥ "तिर-  
श्चिर्दय्या परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेषामिन्द्रसत  
एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, १, १)" ॥

(७) त्वः । (८) नेमः । इत्यर्द्धस्य । अर्द्धशर्षोऽत्र सत्य-  
पिमागपचनः, अर्द्धं हरते इति ननुसकनिर्देशान् । त्वः भा-

गतः अपेत्य समुदायान् गतः पृथग्भूतः । ततोतेरुपधायाः  
पूर्वं उकारः, यणादेशः, नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्द-  
स्वामी । ततोतेः 'सर्वनिघृष्यरिष्यलष्य (उ० १, १५१)'  
इति घनप्रत्ययद्विलोपो निपात्यते ॥

नेमशब्दोऽस्वनामसु व्याख्यातः (२२५ पृ०) । सर्धादिर्यम् ।  
समुदायादयनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः ॥ "पीयति त्वो अनुत्थो  
गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)" — "प्र नेमस्मिन् ददृशे  
सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)" ॥

(६) ऋक्षाः । (१०) स्तृभिः । इति नक्षत्राणाम् । ऋप  
गतौ (नु० प०) । ऋषेः 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)'—  
इति कित्प्रत्ययः । ऋषिश्च उर्ध्वविशिष्टः । उद्गतानि  
उर्ध्वमीप्तिानोच प्रकाशन्ते ॥ 'स्तृभ् आच्छादने (ऋ०  
उ०)' । कर्मण्यौणादिकः क्तिप्, बाहुलकात्तुग् न भवति ।  
तीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि । तस्य  
पाठो यथादृष्टम् ॥ "अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा (ऋ०  
सं० १, २, १४, ५)" — "पश्यन्तो यामिव स्तृभिः (ऋ० सं० ३,  
५, ६, ३)" ॥

(११) पञ्चोभिः । (१२) उपजिह्वका । इति सीमिका-  
नाम् । षष्ठशब्दो ह्रस्वनामसु व्याख्यातः (३०४ पृ०) । 'जाते  
रत्राविष्यान् (४, १, ६३)' इति ङीप् । जातिशब्दध्याय  
स्त्रीपुंसयोर्द्वौ लोके स्त्रीलिङ्गौ प्रसिद्ध इति स पठितः ॥ षसन्ति  
हि ते मृशमुपजिह्वकाः । 'शेषयद्भिहा (उ० १, १५२)'—इति



जिघत्तेर्जिघत्तेर्घा घप्रत्ययान्तं निपात्यते जिहा, सञ्ज्ञायं  
 कन् (५, ३, ८७) 'प्रत्ययस्यात् (७, ३, ४४)'—इतीत्वम् ।  
 उपजिघन्ति काष्ठम्, उपरक्षणाद्धोदकस्य उपजिहिका ॥ "पद-  
 र्युपजिहिका यद्वधो अतिसर्पति (ऋ० सं० ६, ७, १२, ६)"  
 घघ्रशब्दस्यायमेव निगमः ॥ "घघ्रीभिः पुत्रमप्रुषो अदानम्  
 (ऋ० सं० ३, ६, २, ४)"—इति खीलिङ्गस्य ॥

(१३) ऊर्दरम् । (१४) रुदरम् । इत्याद्यपनस्य । ऊर्दरं—  
 उत्पूर्वात् 'दृ, विदारणे (क्या० प०)'—इत्यस्मात् 'ईर गतं  
 (अदा० आ०)'—इत्यस्माद्वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)' घप्रि च  
 ऊर्दरमुदीरं वा सदूर्दरम् । ऊर्द्वर्चञ्च तदीर्णञ्च मध्यत, ऊर्द्व्य-  
 मीर्णं गतं वा दीर्णमिति ह्वादित्वाभिष्टानत्वम् (८, २, ४४) ॥  
 रुदरम्, गृहनामसु व्याख्यातम् (३१४ पृ०) । रुदरम् ।  
 "तमूर्दरं न पृणता यवेन (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"—  
 "समिद्धो अज्जन् रुदरं मतीनाम् (य० घा० सं० २६, १)" ॥

(१५) रम्मः । (१६) पिनाकम् । इति दण्डस्य । 'रम  
 रामस्ये (भू० आ०)' अत्रालभने घर्त्तते । 'कर्मणि घप्रः ।  
 'रमेरश्वलितोः (७, १, ६३)'—इति गुम् । आरभन्ते भाष्य-  
 यते ह्ययष्टमाय दण्डः । "आ तथा रम्मन्त जिघयः (ऋ० सं०  
 ६, ३, ४५, ५)" ॥ पिनाकः—'पिप सञ्चूर्णने (६० प०) ।  
 'पिनाकादयश्च (३० ४, १५)'—इति भाष्यप्रत्ययः, दकारस्य  
 नकारो गुणामाद्यश्च निपात्यते । प्रतिपिनेष्टि हिमस्यत्वेन  
 दण्डाकारं घनुरुच्यते, तच्च रुद्धितो महादेवीयमेव

सामान्येन । "अवततधन्वा - पिनाकावसः कृत्तिवासाः (य०  
वा० सं० ३, ६१)" ॥

(१७) मैना । (१८) ग्नाः । इति स्त्रीणाम् । उभावपि  
शर्दा व्याख्याती वाङ्मामसु (६६ पृ० । १०७ पृ०) । नामयन्ति हि  
ताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूपयितव्याश्चेति स्मर-  
णम् । गच्छन्त्येना अपत्यार्थिनः । "अमैनांश्चिज्जनिवतश्च-  
कर्ष (मृ० सं० ४, १, २६, २)" — "ग्नास्त्वाहन्तं तपसोऽत-  
स्यत (ता० शा०)" ॥

(१९) शेषः । (२०) घैतसः । इति सुप्रजननस्य । शेषः—  
सपनेरमुनि बाहुलकान् सशब्दस्य शेषाथः । स्पृशत्यनेन  
स्त्रीन्द्रियम् । तद्धेतुश्च पिशिशानन्दलक्षणं स्त्रीसुखं स्पर्श-  
शब्देनोच्यते । स्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रक शेषमित्युदाहरणेऽका-  
रान्त्येन दर्शनात् कारणे यप्रन्त इति केचित्, सफारलोपो  
पा तत्र द्रष्टव्यः । यद्यपि 'वृद्शीभ्यां रूपम्बाहुयोः पुद् च  
(३० ४, १६६)'—इति शोडः असुनागमेन कथञ्चिच्छेपः  
सिध्यति तथापि तत्रार्थान्निवृत्त्यात् "मुक्कयोद्दधान् तपः"  
— "मुक्कयोर्मिद्विवा सपः"—"मा नो मपेय निवपि"—  
इत्यादौ सपशब्देन मदन्यामिधानादर्थान्निवृत्त्याच्च सशब्दस्य  
शेषाथेन कथञ्चिच्छिषोर्दुं सुत्तमिति सपनेरित्युक्तम् । तथा-  
नोक्तम्—'अर्धो नित्यः परार्धेन न संस्कारमादिषेत'—इति ॥  
विनृपान् 'तानु उपशये (दि० प०)'—इत्यङ्मान् पचाद्यनि  
(१, १, १३४) विततः । वितत एव घैतसः । प्रजादिभ्या-

दण् । विशेषेण तस्यति क्षीणीभवति प्राक् सममोगकालत्  
 यद्वा, विमक्षिकमितिवत् विशब्दः प्रतिषेधार्थीयः । न तस्य  
 अक्षीणम् सेकसामर्थ्यस्यानुपक्षीणरवात् । “यस्यामुन्तः प्र  
 राम शेषम् ( ऋ० सं० ८, ३, २७, २ )” — “त्रिः स मह  
 ध्वयो घैतसेन ( ऋ० सं० ८, ५, १, ५ )” ॥

(२१) अया । (२२) एना । इत्युपदेशस्य । प्रत्यक्षामि-  
 धानमिहोपदेशोऽभिमतः । सामान्येन चैते त्रिष्वपि लिङ्गेषु ।  
 अनयेति पदस्य नशब्दलोपेन अया । “अया ते अने समिषा  
 विधेम ( ऋ० सं० ३, ४, २५, ५ )” — इति स्त्रिया समिषा  
 सामानाधिकरण्यात् ॥ एना “द्वितीयादौस्वेनः ( २, ४, ३४ )”  
 — इति इदमेतदोरन्वादेशविषये एनादेशः तृतीयैकपद-  
 स्याकारः । “एना घो अग्निधमसा ( ऋ० सं० ५, २, २१,  
 १ )” — इति नपुंसकस्य मनसो सामानाधिकरण्यात् । “एना  
 पत्या सन्ध १ संसृजस्व ( ऋ० सं० ८, ३, २५, २ )” — इति पुंशः  
 पत्युः सामानाधिकरण्यात् ॥

(२३) सिपक्तुः । (२४) सचते । इति । सिपक्तिपति कर्तु-  
 रभिधानम् । तस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्याद्वा भाह् सेपमान-  
 स्येति । यैयाकरणसिद्धान्तप्रसिद्धवर्धमेयमधोचन्, परमार्थतन्तु  
 धात्वर्थप्रतिपादनपरतयैवाख्यातपदोपादानमर्थाभिगमत्वश्च । मत-  
 धेतदुक्तं भवति । सिपक्तु सचत इति सेपार्थो धातु इति ।  
 तथादिः — “भायप्रधानमाख्यातम्” — इति द्वि स्वसिद्धान्त ।  
 सिपक्तुः सचते । ‘पय समपाये’ भूपादिः स्वरितेण, प्र

सेवार्यः । सिपक्विति लोटि तिपि शप् । तस्य 'यद्गुलं छन्दसि  
(१, ४, ७६)'—इति ऋः । 'अर्त्तिपिपत्त्योश्च' । 'यद्गुलं छन्दसि  
(१, ४, ७८)'—इत्यभ्यासस्येत्वम् । "स नः सिपक्तु यस्तुर  
(ऋ० सं० १, १, ३४, २)"—"सचस्वा नः स्वस्तये (ऋ० सं०  
१, १, २, ४)"—इति तु यथानिगममुदाहरणम् ॥

(२५) भ्यसते । (२६) रैजते । इति । भयधेपनयो-  
र्धातुः भ्यसते इति । रैजते इति नैहक्तो धातुः । उभाषप्पु-  
भयोरर्थयोः । "यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं०  
२, ६, ७, १)"—"रैजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः (ऋ० सं० ५,  
१, ८, ४)"—इति ॥

इति पद्चिंशतिर्द्विंशानामानि ॥ ३, २६ ॥

(इति नैघण्टुकटीकापरिशिष्टं समाप्तम्)



अथ नैगमं नाम द्वितीयं काण्डं व्याख्यायते—

जहा (१) । निधा (२) । शिताम (३) ।  
मेहना (४) । दमूनाः (५) । मूयः (६) ।  
इपिरेण (७) । कुरुतन (८) । जठरे (९) ।  
तितउ (१०) । शिप्रे (११) । मध्या (१२) ।  
मन्दू (१३) । ईर्मान्तासः (१४) । कायमानः (१५) ।  
लोधम् (१६) । शीरम् (१७) । विद्रधे (१८) ।  
द्रुपदे (१९) । तुग्बनि (२०) । नंसन्ते (२१) ।  
नसन्त (२२) । आहनसः (२३) । अट्टमसत् (२४) ।  
इप्मिणः (२५) । वाहः (२६) । परितक्म्या (२७) ।  
सुविते (२८) । दयते (२९) । नूचित् (३०) ।  
नूच (३१) । दावने (३२) । अकृपारस्य (३३) ।

शेतीते (३४) । सुतुकः (३५) । सुप्रायणाः (३६) ।  
 श्रंप्रायुवः (३७) । च्यवनः (३८) । रजः (३९) ।  
 हरः (४०) । जुहुरे (४१) । व्यन्तः (४२) ।  
 क्राणाः (४३) । वाशी (४४) । विपुणः (४५) ।  
 जामिः (४६) । पिता (४७) । शंयोः (४८) ।  
 अदितिः (४९) । एरिरे (५०) । जसुरिः (५१) ।  
 जरते (५२) । मन्दिने (५३) । गौः (५४) ।  
 गातुः (५५) । दंसय (५६) । तूताव (५७) ।  
 चयसे (५८) । वियुते (५९) । षट्धक् (६०) ।  
 अस्याः (६१) । अस्य (६२) । इति द्विपष्टिः  
 पदानि ॥ १ ॥

(१) जहा । हनेर्लिङ्गुत्तमैकवचने जलि, द्वियचने, भभ्या-  
 स्वरर्षे, कुरषामायो नकारान्तोपश्लान्दसत्पान् । जघान्तिवर्षः ।  
 “जहा को भभ्यदांते ( ऋ० सं० ६, ३, ४६, २ )” ॥

(२) निघा । निपूर्वाद्धघानेः भावभ्योपसर्गे ( ३, १, १३६ )  
 —इति कः । निर्धापने ब्वाप्यने मृत्पक्षिप्रदजाय । निघा  
 पारासमुहः । “समुध्यम्भत्रिधयेव घटान् ( ऋ० सं० ८, ३,  
 ४, ६ )” ॥

(३) शिताम । श्रितशब्दस्य रेफलोपोऽतो दीर्घत्वं मरुद्-  
धोपजनः । अङ्गे श्रितत्वाद् दोः शिताम । सितशब्दस्य वा-  
सकारस्य शकारः, अन्यत् पूर्वचत् । योनिः शिताम । योनि-  
गुन्दम् । चिचितः । चिचिर्धं सितो बद्धो भवति पुरीषोत्सर्गै-  
लायां विकसति सङ्कोचः । “पार्श्वतः धोणितः शितामः  
( य० धा० सं० २१, ४३ )” ॥

(४) मेहना । मंहतेर्दानिकर्मणो ल्युट्, बाहुलकादकारस्यै-  
कारो नकारलोपश्च । सुपां सुलुगित्यादिना सोराकारदेशः ।  
मंहनीयं धनादि । छन्दोगानां ‘मंहना’—इत्येवं रूपं पाठः ।  
प्रसङ्गेन च वेदान्तरार्धात्तस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण इत्य-  
( निरु० ४, ४ ) । “यदिन्द्र चित्र मेहना ( ऋ० सं० ४, २-  
१०, १ )” ॥

(५) दमुनाः । ‘दम उपशमे दाने वा’ । दान्ते पुरीषे वा,  
दमे यज्ञगृहे वा मनो यस्य स दमुनाः । दन्तमशब्दस्य नलोपः ।  
दमदान्तशब्दयोर्दभावः, मनःशब्दे मकारात्परस्याकारस्य ऊकार-  
देशः । दमशब्दो व्याख्यातो गृहनामसु ( ३१६ पृ० ) । ददातेत्युटि  
दानं, दमेर्निष्ठायां मतुपि दन्तमः । ‘दमेरुनसिः ( उ० ४, २२८ )’  
—इति वैयाकरणाः । “तुष्टो दमुना भतिधिदुरीणे ( ऋ० सं०  
३, ८, १८, ५ )” ॥

(६) मूरः । ‘मुप स्तेये ( ऋ० प० )’ । क्विप्चिचिदि  
( ३, २, १०८ पा० )—इत्यत्र ‘म्राक् प्रत्ययनिर्देशादिशक्तिः  
मा०’—इति क्विर् दीर्घश्च । जस् । मूरिकाः । सुगुणमणि

मुष्णन्ति हरन्ति । “मूत्रो न शिखा व्यदन्ति माध्यः ( ऋ० सं० १, ७, २१, ३ )” ॥

(७) इपिरेण । ‘इषु इच्छायाम् ( तु० प० )’ । इपिमदि-  
मुदि ( उ० १, ५१ )—इत्यादिना किरच्प्रत्ययः । यद्वा, ईप-  
यतेर्गतिकर्मणः ईपेर्देशनार्थस्य वा धातुलकात् किरच् इपभावश्च ।  
मनो विशेषणमेतत् । “इपिरेण ते मनसा सुतस्य ( ऋ० सं० ६,  
४, १२, २ )” ॥

(८) कुरुतन । करोतेर्लोऽण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तशब्दस्य  
‘तप्तनप्तनधनाश्च ( ७, १, ४५ )’—इति छान्दसस्तनादेशः । तत्र  
तशब्द एवार्थवान् नशब्दस्तूपजनोऽनर्थकः । कुरुतनेत्यस्य  
प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—‘कर्त्तनहन्तनयातनेत्यनर्थका उप-  
जना भवन्ति ( निरु० ४, ७ )’—इति । अत्र बहुवचनमन्ये-  
ऽप्येवंरूपा उपजनाः सन्तीति प्रतिपादनार्थम् । ‘क्तो यक्’  
‘धाञ्जसेरमुक्’—इत्येवमाद्यः । “रिप्रेण तपसा कुरुतन”  
—“अध्वर्यवः कर्त्तना श्रुष्टिमस्मै ( ऋ० सं० २, ६, १४, ३ )”  
—“तपिष्टेन हन्मना हन्तना तम् ( ऋ० सं० ५, ४, ३०, २ )”—  
१ “प्रयातन सर्षी रच्छा सखायः ( ऋ० सं० २, ३, २६, ३ )”—  
“हृत्पाय शत्रून् विभजस्य वेदः ( ऋ० सं० ८, ३, १६, २ )”—  
“भ्रातृणासः पितरः सोम्यासः ( ऋ० सं० ५, १, २०, ५ )” ॥

(९) जठरम् । जग्धशब्दोपपदात् धृडो दधातेर्वा ‘हृत्ता-  
दयश्च ( उ० ५, ४२ )’—इति भरतप्रत्ययो जग्धशब्दस्य जमापो  
घकारस्य ठकारश्च निपात्यते । जग्धं भक्षितमश्रमस्मिन्



धियते तिष्ठति, धीयते प्रक्षिप्यते इत्यर्थः । “मासिञ्चलं उ  
मध्यऊर्मिम् ( ऋ० सं० ३, ३, ११, १ )” ॥

(१०) तितड । तनोतेस्तुदेश्च निष्ठायां ; मनुपि उपधा  
इत्वं दकारलोपो घकारस्य सम्प्रसारणं तलोपश्च । तिल्ला  
तुन्नं वा । तिल्लाशब्दात् तिः, तुन्नशब्दात् उकात्कारणै  
मत्पर्ये बहुवोहिः । तनेन मध्येन, तुन्नेश्छन्दैः, तिल्लाशब्द  
तैस्तद्धत् । तनोतेः कान्ताद्वतिर्घैयाकरणाः । ततं तितड ।  
“सक्तुमिघ तितडना पुनन्तः ( ऋ० सं० ८, २, २३, २ )” ॥

(११) शिमे । ‘सृष्टृ गतो ( भू० प० )’ । ‘स्फारितक्षि  
ञ्चिशकिक्षपिसृष्टितृपि ( उ० २, १२ )’—इति रक्, षादुलकात्  
सृशाब्दस्य शिभावः । मन्नं गन्धनं प्रति सृप्ते भयतः । “विप्लव  
शिमे विसृजस्य घेने ( ऋ० सं० १, ७, १३, ४ )” ॥

(१२) मध्या । मध्यशब्दात् सप्तम्येकपचनस्य ‘सुपां सुलुक्  
( ७, १, ३६ )’—इत्यादिना भाकारः । मध्ये इत्यर्थः । “मत्ता  
कसोर्वितनं मंजभा ( ऋ० सं० १, ८, ७, ४ )” ॥

(१६) मन्तु । मन्वेस्नुप्त्यर्थात् ‘भृशुशीतृचरि ( उ० १, ७ )’—  
इत्यादिना षादुलकादुप्रत्ययः । मदेर्षा उप्रत्ययो तुम् वा ।  
प्रथमादिपर्यगनम् । मूर्तायैकपचनस्य वा ‘सुपां सुलुक् ( ३, १,  
३६ )’—इत्यादिना पुर्यगपणाः । मदिष्णू मदिष्णुता वा ।  
“मन्तु गमनापचंसा ( ऋ० सं० १, १, १२, २ )” ॥

(१४) ईमांजागः । ‘ईर प्रेण्णे ( घृ० प० )’ । ‘भ्रतिस्सुगु  
सृष्टि ( उ० १, १३७ )’—इति मन्प्रत्ययः । मन्तुशब्दो व्याख्यातः

(२४० १६ ख० ६) । आदित्याश्वा उच्यन्ते । ते च सप्त । तेषां ये  
अन्तान् इत्ते, इत्तिः प्रेरिता विरहा इत्यर्थः । अथवा अश्वस्य  
अन्तो अघनं सर्वेषामर्मः पृथुरित्यर्थः । “ई मांन्तासः सिलिक-  
मध्यमामः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)” ॥

(१५) कायमानः । ‘चापृ पूजानिशामनयोः’ भूयादिः, स्वरि-  
तेत् । चायमानः । चकारस्य ककारः । यदुवा, फमेर्णिङ्,  
स्ततो लटः शानच् । कामयमान इत्यस्य मकारलोपः । “कायमानो  
चना त्वम् (ऋ० सं० ३, १, ५, २)” ॥

(१६) लोधम् । ‘लुम् धाष्ट्ये’ कः । लुब्धशब्दस्य बलोप  
उकारस्योत्पञ्च । लुब्धमित्यर्थः । “लोभं नयन्ति पशुमन्यमानाः  
(ऋ० सं० ३, ३, २३, ३)” ॥

(१७) शीरम् । शिङः ‘स्कापितश्चिवश्चिशकि (उ० २, १२)’—  
इत्यादिना बाहुलकाद्क् । अश्रोतेर्वा पूर्वघटक् धातोः शीमावश्च  
अयमग्निरुच्यते । अनुशायिनमाशिनं वा । अनुगम्यन्ते भूतानि  
जङ्गमानि जाडरात्मना, स्वाचराणि च सूक्ष्मेण अनमिष्यत्तशक्या  
त्मना यः शीते व्यवतिष्ठते, अश्रोति वा । एवंशीलः । “शी-  
पायकशोचिपम् (ऋ० सं० ३, १, ६, ३)” ॥

(१८) विद्रधे । विपूर्वात् ‘डमी मये’ इत्यस्मात् अनेक  
र्थत्वेन हिंसार्थात् कः । विद्रध्या इति स्थिते ऋकारस्य रादे  
बकारलोपश्च । यदुघचनस्य स्थाने एकघचनम् । चिति  
हिंसितेषु कुपितेषु इत्यर्थः । “कर्मानकेषु विद्रधे (ऋ०  
३, ६, ३०, ७)” ॥

(११) द्रपदे । दुराणां द्रुमशर्णावः । द्रुममयेषु पदेषु पाठु  
कास्थेषु इत्यर्थः । घञनञस्तयवः पूर्ववत् । “नवे द्रादे ममं  
(ऋ० सं० ३, ६, ३०, ७)” ॥

(२०) तुग्यनि । तूर्णशब्दोपादान् गमैः ‘अग्येभ्योऽपि  
दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति घनिपि तूर्णशब्दस्य तुमावो गनेष्टि-  
लोपश्च । लुटर्तात्यर्थः । तद्विषयानायावगाहनाय वा क्षिप्रम-  
गच्छन्ते । सामर्थ्यवचनम् । “सुधास्त्वा अधि तुग्यनि (ऋ०  
सं० ६, १, ३५, ७)” ॥

(२१) नंसन्ते । नमेर्मकारात् परः सुगागमः, व्यत्ययेना-  
त्मनेपदम् । नमन्ति इत्यर्थः । “शुचिन्नंसन्ते मस्तः पुनर्तः  
(ऋ० सं० ५, २, ८, ५)” ॥

(२२) नसन्त । ‘नस कौटिल्ये’ भूवादिरात्मनेपदी, अत्रा-  
प्रोतिर्नमतेर्वाच्ये वर्तते । ‘छन्दसि लुङ्लङ्लिट् (३, ४, ६)’—  
इति वर्तमाने लङ् । ‘यहुलं छन्दस्यमाह्योगेऽपि (६, ४, ७५)’—  
इत्यङ्भावः । प्राप्नुवन्ति नमन्ति वा । “धृतस्य धाराः समिधो  
नसन्त (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)” ॥

(२३) आहनसः । आहन्तेरस्तुन्, मत्वर्थीयस्य लुक् । ‘सूत्रे  
इदमाहत्तम्’ ‘ब्राह्मणे इदमाहत्तम्’—इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आहन्ति-  
वचनार्थः । आहनवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः । “ये ते मदा  
आहनसो विहायसः (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)” ॥

(२४) अघसत् । ‘अदेर्मन्’—इति मनिन् । अघते इत्यम-  
न् । तसिन् सीदन्ति सनोति वा तत् । ‘अघ्न्युपपदे सरेः

सनीतेर्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (२, २, ७५)'—'किप् च (३, २, ७६)'—इति क्विपि रूपम् । सनीतेर्नकारलोपे ह्रस्वत्ये पिति तुक् ।  
 "अस्यत्र ससतो बोधयन्ती (ऋ० सं० २, १, ७, ४)" ॥

(२५) इष्मिणः । 'इषेरिच्छार्थात् (तु० प०)' 'इषियुधीन्धि (उ० १, १४२)'—इति मक्प्रत्ययः । इषतेरिपतेर्वा बाहुलकात् मकि धातोर्ऱिप्भावः । इच्छा, गमनं, दर्शनं वा इष्म । 'अत इनिञ्चौ (५, २, ११५)' । यद्वा, उणादिको मिन्रप्रत्ययः । ण्यितारो हविषां स्तुतीनाञ्च गन्तारः, द्रष्टारो वा सर्वार्थानाम् । "ते वा शीमन्त इष्मिणो अमीरवः (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)" ॥

(२६) घाहः । वहतेः 'बहध्व'—इति ञिदसुन् । देवताः प्रत्यूद्यमानत्वात् घाहः स्तुतिः । अथवा, यदेतन् कृपसमीपे तदुदकस्योद्भूतस्य स्थानमावाह इति लोके प्रसिद्धं, तत्सदृशत्वात् सोमरसस्यपूर्णमधिपचणं चर्मं घाह इत्युच्यते । "इन्द्राय घाहः कृण्वाय जुष्टम् (ऋ० सं० ३, ३, १६, ३)" ॥

(२७) परितकम्या । परिपूर्वात् तक्तेर्गतिकर्मणो मनिन् । परितः सर्वतो गच्छति, सर्वस्मिन् देशे रात्रिरस्ति । अथवा तक्मोष्णं तत् परित उभयत एनां परिगृह्यते घर्तते इति । तदुक्तम् । 'तक्मेत्युष्णाम, तक् इति मत इति तेन परितकम सति यकारोपजनेन परितकम्या' । "कस्मै हितिः का परितकम्यासीत् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)" ॥

(२८) सुचिते । सुपूर्वादिभ्यः कप्रत्ययः । 'पुङ् प्राणिभ्यो मोचने'—इत्यस्माद्वा के छान्दसत्यादिङ्गामः, उचङ् च । सतमे

कथयन्तम् । शोभनं गम्यते यत्र स्वर्गादींस्तत्, प्रमूले प्रजाप-  
या । “सुषिते मायाः ( य० पा० सं० ५, ५ )” ॥

(२६) दयते । ‘दय दानगतिरक्षगर्हिसादानेषु ( मू० आ० )

अनेकार्थत्वात् विभागदहनगमनेष्वपि घर्त्सने । “महोष्मनाति-  
ष्यमानः ( ऋ० सं० २, १, १६, २ )”—इति दाने । “नयेन पूर्वं

दयमानाः स्याम ( निरु० ४, १७ )”—इति रक्षणे । “य एक-  
इद्विदयने ( ऋ० सं० १, ६, ६, २ )”—इति दाने विभागे वा ।

“दुर्वचंभूमो दयते घनानि ( ऋ० सं० ४, ५, ८, ५ )”—इति  
दहने । “विद्वदसुर्दयमानो वि शत्रून् ( ऋ० सं० ३, २, १५, १ )”

—इति हिंसायाम् । “मां पायसो दोग दयमानो भवुवुधन्  
( निरु० ४, १७ )”—इति गतिकर्मा ॥

(३०) नूचित् । (३१) नूच । अनयोः पदद्वययोः । “अथा-  
चिन्नूचित्तदपो नदीनाम् ( ऋ० सं० ४, ७, २, ३ )”—“नूच पुण-

च सदनं रयीणाम् ( ऋ० सं० १, ७, ४, २ )” ॥

(३२) दावने । ददातेः ‘आतो मनिन्कनिव्वनिपध ( ३,  
२, ७४ )’—इति व्यत्ययेन कर्मणि घनिप् । ततः पष्ठपर्यं द्विती-

यार्थे वा चतुर्थी ( २, ६, ६२ वा० ), अहोपाभावश्चान्दसः ( ६,  
४, १३४ ) । देवस्य देवं वेत्यर्थः ॥

(३३) अकूपारस्य । ‘पृ पालनपूरणयोः ( जु० प० ) । घम् ।  
पारः पालनं पूरणं वा । अकुत्सितं पालनं पूरणं वा यस्य-तद-  
कूपारं सत् कोदीर्घत्वेनाकूपारम् । तस्य दावने इति सम्बन्धः ।  
“अकूपारस्य दावने ( ऋ० सं० ४, २, ६०, २ )”—आदित्य-

संमुद्रावप्यंकृपारो । पूर्ववत् । कच्छपोऽप्यकृपारः । कृपशब्दे  
कर्मण्युपपदे अर्त्तः कर्मण्यण् । न कृपारः अकृपारः । कच्छपो  
हि सति सम्भवे हेद् गच्छति न कृपमन्वोदकत्वात् । श्रयाणां  
निगमाः पर्येष्याः ॥

(३४) शिशीति । 'शो तनूकरणे' द्विधादिः परस्मैपदी ।  
व्यत्ययेन शपः स्त्री शोकारस्येत्वमात्मनेपदञ्च । श्यतीत्यर्थः ।  
'शिशीति शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे ( ऋ० सं० ३, ८, १५, ३ )' ॥

(३५) सुतुकः । सुपूर्वात्तकतेर्गतिकर्मणः 'गेहे कः ( ३, १,  
१४४ )'—इति बाहुलकात् कप्रत्ययोऽकारस्योकारश्च । सुपू-  
र्वाद्वा तुच्छश्र्दस्याकार उपजनः चकारस्य जकारस्य वा ककार-  
भावश्च । सुगमनः सुप्रजा वा । "अग्निः सुतुकः सुतुकेमिरश्वैः  
( ऋ० सं० ७, ५, ३१, ७ )" ॥

(३६) सुप्रायणाः । सुप्रपूर्वोदयतेर्लुट् । 'उपसर्गस्यापतो  
( ८, २, १६ )'—इति लत्याभावश्छान्दसः । सुप्रगमना इत्यर्थः ।  
"सप्रायणा अस्मिन् यमे विध्रयन्तामृतावृषः ( य० घा० मं  
२८, ५ )"

(३७) अप्रायुषः । प्रभा-इत्युपसर्गद्वयपूर्वान् 'यु मिथ्र  
( अदा० प० )'—इत्यस्मान् 'गेहे कः ( ३, १, १४४ )'—इ  
बाहुलकान् कप्रत्ययः, उपहि कृते अन्त्यम्याकारस्य लोपे  
जसि रूपम् । 'सुपां सुलुक् ( ७, ३, ३६ )'—इति जसः क  
सुः । न प्रायुषोऽप्रायुषः । अग्रगतमनस्काः न प्रमायन्त इ  
"अप्रायुषो रक्षितारो दिवे दिवे ( ऋ० सं० १, ६, १५, १ )"

(३८) व्यपानः । अन्नगोत्रिण्यर्थान् व्यपनेः 'युञ् वुञ्च' (उ० २, ७४)—इति युञि पूर्वत्र षादुल्लकार्दीर्घः । देवत्र प्रति स्तोमानां व्यापयिता गमयिता स्तोत्रेत्यर्थः । रुदित्वा-दिप्रसङ्गनिवृत्तिः । "युञ् व्यपानं सनयं यथारथम् (ऋ० सं० ७, ८, १५, ४)" । व्यपनस्य तु "व्यपनो मार्गवः शार्पांतां मानयमभिषिञ्चेत् (वे० प्रा० ८, ४, ७)"—"अप्रधानवन् व्यवनवन् भृगुवन्"—इत्यादिर्निगमः प्रसिद्धः ॥

(३९) रजः । व्याख्यातं चावापृथिवीनामसु (३५३ पृ०) ॥

(४०) हरः । ज्वलन्नामसु (१७६ पृ०) व्याख्यातम् । रजस्तु ज्योतिरुदकलोकवाचकम् । अनुरञ्जयति होतन् सर्वं स्वेन स्वेन व्यापारेण सर्वप्राणिनः । "या ते अग्ने रजश्या (य० घा० सं० ५, ८)"—"भुवो यशस्य रजसश्च नेता (ऋ० सं० ७, ६, ४, ६)"—"त्वया इहानि सुकतो रजांसि (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)"—"त्रिरात्रेण रजसला शुचिर्मवति"—"विघत्ते रजसी वेद्यामिः (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)"—इति क्रमेण निगमाः ॥ हरो ज्योतिरुदकलोकवाचकम् । ज्योतिरिति तमसम्, उदकं बहत् हरति सर्वं लोकेषु, हियन्ते सर्वा एव कालेन मृत्युनाश्रियन्ते । "प्रत्याग्ने हरमा हरः शृणीहि (ऋ० सं० ८, ४, ६, ५)"—इति ज्योतिषाम् । उदकलोक-विनिगमो पर्येष्यो ॥

(४१) जुहुरे । जुहोतेः 'छन्दसि लुङ्लिट्' (३, ४, ६) इति लिट्, 'इर्योरे (६, ४, ७६)'—इति रे, जुहति । यद्वा,

यथाप्राप्तो लिट् जुद्धिरे इतद्यन्तः । “जुद्धरे वि चितयन्तः ( प्र० सं० ४, १, ११, २ )” ॥

(४२) व्यन्तः । व्यन्त इत्येपोऽनेककर्मा ( निरु० ४, १६ ) । व्यन्त इत्यत्र य एष घातुः स द्यतिघदनेकार्थ इत्यर्थः । ‘धी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु ( अदा० प० )’ । अनेकार्थत्वात् पश्यत्यर्थोऽपि ॥

(४३) क्राणाः । करोतेर्लटः शानचि विकरणव्यत्ययेन लुक् । “गोमिः क्राणा भनूपत ( निरु० ४, १६ )” ॥

(४४) घाशी । व्याख्यातं घाङ्नामसु ( ६७ पृ० ) । यद्वा, घासी- शब्दश्छेदनद्रव्यविशेषवचनः, तस्य सकारस्य शकारेण व्युत्पत्तिः ।

“घासोमिस्तक्षताश्मन्मयीमिः ( प्र० सं० ८, ५, १६, ४ )” ॥

(४५) विपुणः । विपमशब्दस्य अकारस्योकारो मकारस्य णकारश्च । विपमः । “सशर्द्धदयो विपुणस्य जन्तोः ( प्र० सं० ५, ३, ३, ५ )” ॥

(४६) जामिः । व्याख्यातमङ्गुलीनामसु ( २१२ पृ० ) । अतिरेकपालिशसमानजार्तीयानां पाचको जामिशब्दः । अतिरेकः पुनरुचमुच्यते, पुनर्जायमानत्वात् । “जामि षा पतयन्ते क्रियते ( पे० प्रा० ३, ५, ३ )” । पालिशो मूर्धः । स मि कस्मैचित् पुरुषापालम् । अत्र निगमः पर्येष्यः । समानजार्तीयं भगिनीलक्षणोऽर्थः । समानाभ्यां मातापितृभ्यां जातत्वात् जाशब्देनैवामिधानुं शक्यमिति मिशब्द उपजनः । “यत्र जामि कृण्वन्न जामि ( प्र० सं० ७, ६, ७, ५ )” ॥



(४७) पिता । 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षृत्वहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृ-  
पितृदुहितृ (उ० २, ८८)'—इत्यादिनां । पातेः । केवलकात्  
प्यन्ताद्वा तृच्प्रत्ययान्तो निपात्यते । पतिशब्दत्वेन च नामार्थो  
व्याख्यातः (३०१ पृ०) । "द्यौर्मै पिता जनिता नामिरत्र  
(ऋ० सं० २, ३, २०, ३)" ॥

(४८) शंयोः । शाम्यतेः क्तिप् शम् । 'यु पृथग्भावे' इत्य-  
स्माद्बु विच् । अन्ये षद्वयमिति चर्णयन्ति । 'शमनं रोगार्था  
यावनं च भयानाम्' । "अथानः शंयोररपो दघात (ऋ० सं०  
७, ६, १७, ४)" । प्रसङ्गेन धृतिसारूप्यात् भाष्ये 'अप्यापि  
शंयुर्वाहंस्पत्यः (निघ० ४, २१)'—इत्युक्तम् ॥

(४९) अदितिः । पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (३३ पृ०) ।  
पेतिहासिकानां मते देवमाता, नैद्यकानां मते अदीनादिगुणः  
अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः । "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ० सं०  
१, ६, १६, ५)" ॥

(५०) एरिरे । प्रोपसर्गाद्यृषयाद्पूर्वात् 'ईर गतो (सु०  
५०)'—इत्यम्माहिति ऋष्येरे च । प्रेरित्यन्त इत्यर्थः । "यमे-  
रिरे भृगवो विश्ववेदसम् (ऋ० सं० २, २, १२, ४)" ॥

(५१) जसुरिः । 'जसु ताडने (सु० ५०)' । 'जसिताहोद  
न्ति (उ० २, ६६)'—इति उरिप्रत्ययः । यथा, भस्वनेर्वाहुः  
यथादुतिप्रत्यये तुडागमश्च धातोः । ताडितो यजमुक्तो हत-  
गधान्तो जसुरिः । "नीथापमानं जसुरि नं श्येनम् (ऋ० सं०  
७, ११, ५)" ॥

(५२) जस्ते । नैकधातुः । यद्वा, 'गृ स्तुतो (क्या० प०)'—इत्यस्य गकारस्य जकार इति स्कन्दस्यामी । "इन्धान प्तं जस्ते स्वाधीः (ऋ० सं० ७, ८, २८, १)" ॥

(५३) मन्दिने । मन्दतेः स्तुतिकर्मणो घञि मन्दः स्तुतिः । छान्दसत्यादत् इनिष्ठौ नैप्यते द्वि एकाक्षरात्, सतो जाते, सप्तम्याञ्च । "प्र मन्दिने पितुमदर्चता घञः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)" ॥

(५४) गौः । व्याख्यातं रश्मिनामसु (५२ पृ०) । "अत्रा-  
हगोरमन्वत (ऋ० सं० १, १, ७, ५)" ॥

(५५) गातुः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३६ पृ०) । अत्र  
भावे तुन् गमनमित्यर्थः । "गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये  
( निरु० ४, २१ )" ॥

(५६) दंसयः । दंस इति कर्मनामसु व्याख्यातम् (१७० पृ०) ।  
अत्र तु 'अच इः ( उ० ४, १३४ )' जस् । दंसयः कर्माणि  
दंसयन्त्येनानि । "कुत्साय मन्मन्त्रह्यध्व दंसयः (ऋ० सं० ८, ७,  
२६, १)" ॥

(५७) तृताय । तवतेर्बृद्धिकर्मणो लिटि णलि 'तुजादीनां  
दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)' । "स तृताय नैनमश्रोत्यंहतिः  
(ऋ० सं० १, ६, ३०, २)" ॥

(५८) चयसे । 'चय गतो' भूवादिरात्मनेपदी । अत्र  
चातयतेर्नाशनार्थस्यार्थे घञ्ते । यद्वा, चातयतेरेव विकृतं रूपम् ।  
"बृहस्पते चयमे इत् पियास्म् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)" ॥

(५६) वियुते । यौतिरैव पृथग्भाषार्थो विपूर्वः । “समान्वा  
वियुते दूरे अन्ते ( ऋ० सं० ३, ३, २५, २ )” ॥

(६०) ऋधक् । अज्ययमिद् पृथग्भावस्य पाचकम् । “यदिद्  
दिधि पायै यद्दधक् ( ऋ० सं० ४, ७, १२, ५ )” । अघाप्युभोत्वर्थे  
दृश्यते, तदा ‘ऋधु पृद्धौ ( स्वा० प० )’ अस्मान् ‘ग्रयः क्त्वि  
( उ० १, १३० )’—इति षाहुलकादजिप्रत्ययः क्त्वि । ऋधुवन  
ऋद्धं कुर्यन् । “ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः ( य० वा० सं०  
८, २० )” ॥

(६१) अस्याः । (६२) अस्य । शब्दान्तरेणानादिष्टस्य सत्रिधि-  
विशिष्टपदार्थलक्षणस्याभिधेयस्योच्चारणं प्रथमादेशः आदिष्टमस्य  
तस्योच्चारणमन्वादेशः । तत्र प्रथमादेशविषयत्वाद्बुदात्तं पदद्वयं  
तीव्यार्थतरमतिस्फुटप्रयोजनम्, अन्यानादिष्टस्वार्थत्वान् । अन्वादे-  
शविषयतामस्यादनुदात्तं पदद्वयमल्पीयोऽर्थतरमतिशयेनास्फुटप्र-  
योजनम्, अन्यादिष्टस्वार्थत्वात् । “अस्याः ऊः पु ण उप  
सातये भुवः ( ऋ० सं० २, २, २, ४ )”—“दीर्घायुरस्या  
यः पतिः ( ऋ० सं० ८, ३, २७, ४ )” ॥ “अस्य वामस्य  
पलितस्य होतुः”—“तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य ( ऋ० सं० २,  
३, १४, १ )” ॥

इति द्विपष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सल्लिम् (१) । वाहिष्ठः (२) । दूतः (३) ।

वावशानः (४) । वार्यम् (५) । अन्धः (६) ।

असश्चन्ती (७) । वनुष्यति (८) । तरुष्यति (९) ।  
 भन्दनाः (१०) । आहनः (११) । नदः (१२) ।  
 सोमो अक्षाः (१३) । श्वात्रम् (१४) । ऊतिः (१५) ।  
 हासमाने (१६) । पड्भिः (१७) । ससम् (१८) ।  
 द्विता (१९) । ब्राः (२०) । वराहः (२१) ।  
 स्वसराणि (२२) । शय्याः (२३) । अर्कः (२४) ।  
 पविः (२५) । वक्षः (२६) । धन्व (२७) ।  
 सिनम् (२८) । इन्था (२९) । सत्रा (३०) ।  
 चित् (३१) । आ (३२) । द्युन्नम् (३३) ।  
 पवित्रम् (३४) । तोदः (३५) । स्वञ्चाः (३६) ।  
 शिपिविष्टः (३७) । विष्णुः (३८) । आघृणिः (३९) ।  
 पृथुञ्जयाः (४०) । अथर्युम् (४१) । काणुका (४२)  
 अधिगुः (४३) । आङ्गूषः (४४) । आपान्त-  
 मन्युः (४५) । इमशा (४६) । उर्वशी (४७) ।  
 वयुनम् (४८) । वाजपस्त्यम् (४९) । वाजग-  
 न्ध्यम् (५०) । गध्यम् (५१) । गधिता (५२) ।

कौरयाणः (५३) । तौरयाणः (५४) । अह-  
 याणः (५५) । हरयाणः (५६) । आरितः (५७) ।  
 घन्दी (५८) । निष्पपी (५९) । तूर्णाशम् (६०) ।  
 क्षुम्पम् (६१) । निचुम्पुणः (६२) । पदिम् (६३) ।  
 पादुः (६४) । शुकः (६५) । जोषवाकम् (६६) ।  
 कृत्तिः (६७) । श्वघ्नो (६८) । समस्य (६९) ।  
 कुटस्य (७०) । चर्पणिः (७१) । शम्भ्रः (७२) ।  
 केपयः (७३) । तूतुमाकृपे (७४) । अंसत्रम्  
 (७५) । काकुदम् (७६) । वीरिटे (७७) ।  
 अच्छ (७८) । परि (७९) । ईम् (८०) । सीम्  
 (८१) । एनम् (८२) । एनाम् (८३) । सृणिः  
 (८४) । इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥ २ ॥

(१) सञ्जिम् । 'ष्णा वेष्टने (अदा० प०)' । 'ष्णा शौचे (मदा०  
 प०)' । 'आट्टगमहनजनः किकिनी लिङ् च (३, २, १७१)' इति  
 किरप्रत्ययः । लिङ् वद्वावाद् द्विवचनादिः । 'आतो लोप इति च  
 (६, ४, ६४)' । अववेष्टयिताभिरन्तःप्रविष्टाभिः शोषितो वा मधः  
 सञ्जिः । 'सञ्जिमविन्दघरणे नदीनाम् (सू० सं० ८, ७, २७, ७)' ।

(२) वाहिष्ठः । घोदृशब्दान्-‘तुश्छन्दसि ( ५, ३, ५६ )’—  
 र्ताष्टनि ‘तुरिष्ठमेयःसु ( ६, ४, १५४ )’—इति तृचो लोपः ।  
 वाहिष्ठ इति उपधादीर्घश्छान्दसः । अतिशयेन घोदा वाहिष्ठः ।  
 “वाहिष्ठोवां हवानाम् ( ऋ० सं० ६, २, २६, १ )” ॥

(३) दूतः ।

(४) वाचशानः । ‘वश कान्तौ ( अदा० प० )’ ‘वाच्य शब्दे  
 (दि० धा०)’ । ‘लिटः कानञ् वा (३, २, १०६)’ । द्विर्वचनादिः ।  
 ‘तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)’ । ‘न वशः (६, १, २०)’  
 —इति यञि लिटि सम्प्रसारणनिषेधाद् विन्प्रत्यये कानञ्यपि  
 न भवति, वाच्यनेरुपधाह्रस्वत्वञ्च व्यत्ययेनैव । यद्भुकि शानञि  
 रूपमिति धीनिपासः । “समस्त्वमूरुणीर्वाचशानः ( ऋ० सं० ७,  
 ५, ३३, ५ )” ॥

(५) वार्यम् । ‘वृम् वरणे ( स्वा० उ० )’ । पतिस्तुशास्वृह-  
 छुपः क्वप् ( ३, १, १०६ )—इति क्वपि प्राप्ते ‘वृत्यत्युटो  
 यद्गुल्म ( ३, ३, ११३ )’—इति ष्यन् । ‘क्वप्विर्धो वृ-प्रहणे वृजो  
 महणमिष्यने न वृहः’—इति वैयाकरणः । अथवाऽऽवश्यकार्यं  
 पत्रप्रत्ययो द्रष्टव्यः । ‘वार्यं वर्णायम्, अतिशयेन वरं धेष्टु वा ।  
 तद् वार्यं वर्णामहे ( ऋ० सं० ६, २, २३, ३ )” ॥

(६) मन्धः । ध्याप्यात्मप्रनामगु ( २१६ पृ० ) । “माम-  
 त्रेभिः सिञ्चता मयमन्धः ( ऋ० सं० २, ६, १३, १ )” ॥  
 तमोऽवधुष्यप्यन्धः । अत्र ध्यापतिर्नैप्रपूर्वः मयिद्यमानं ध्यातं  
 दर्शनमस्मिन् भालोक्तमावान् । अधुहोति अकारान्तमिदम्

“पश्यदक्षण्यान्न पित्रे तदग्घः ( ऋ० सं० ३, ३, १७, १ )—इति  
अशुद्धीनस्य ॥

(७) असधन्ती । सधतिर्गतिकर्मा, अत्र सधतिरसनेवार्थं  
पसते । शतरि ङोपा नप्रसमासः । परस्परेण सम्मितिर्ग्री-  
भवन्त्या । अवक्षिपन्त्या धाधिने धा धावापृथिव्या उच्येते ।  
“असधन्ती भूरिधारे पयस्वती ( ऋ० सं० ५, १, १४, २ ) ॥

(८) घनुष्यति । ध्याख्यातं कुष्यतिनामसु ( ३४७ पृ० ) । अत्र  
तु हन्त्यर्थः । “घनुयाम घनुष्यतः ( ऋ० सं० २, १, २१, १ ) ॥

(९) तरुष्यति । नैरुक्तधातुर्गत्यर्थः । ‘मृत्युं तरति’ इह-  
इत्यामुत्तरन्ति । विनाशयन्ति व्यपोहन्तीति हन्त्यर्थे हत्ते-  
प्रयोगदर्शनात् तरत्तेरुकारपकारावुपजनावित्याहुः । “इन्द्रोऽ-  
युजो तरुषेम वृत्रम् ( ऋ० सं० ५, ४, १५, २ ) ॥

(१०) भन्दनाः । भदन्तेः स्तुतिकर्मणः ‘युच्-वंहुल्म् ( ३०  
२, ७४ )’—इति युच् टाप् शस् । भन्दना स्तुतिरित्यर्थः ।  
“समन्दना उदियसि प्रजावतीः ( ऋ० सं० ७, ३, २०, १ ) ॥

(११) आहनः । आहन्तेरसुनि आहन्ति आहनाः सम्युद्धौ  
आहनः असहाचचनादाहन्तुः । “अन्येन मदाहनो याहि त्वम् ( ऋ०  
सं० ७, ६, ७, ३ ) ॥

(१२) नदः । ध्याख्यातं स्तोत्रनामसु ( ३४७ पृ० ) । “नदस्य  
मा रुधतः काम आगन् ( ऋ० सं० २, ४, २२, ४ ) ॥

(१३) सोमो अक्षाः । अक्षोतेर्लुङि सिचि उदितो धा ( ७, २,  
१६ )—इति भनिद् पक्षे आडागमे च आष्टेति, इदपक्षे आशिष्टेति

प्राते व्यत्ययेन तस्य स्थाने सिपि यस्य कादेशे आकार इत्थविसर्जनीयो । क्षियतेर्षा अक्षौपमिति प्राते व्यत्ययेन घर्त्तमाने इद्, तिपः स्थाने सिप्, च्लेरद्, धातोऽिलोपः, दीर्घश्च, इत्थविसर्जनीयो । क्षियतीत्यर्थः । “अनूपे गोमान् गोमिरक्षाः ( ऋ० सं० ७, ५, १३, ४ )” ॥ ‘क्षर सञ्चलने ( भू० प० )’ अक्षारीदिति प्राते तिपि सिचि वृद्धौ बहुलञ्छन्दसीतीडभावे इत्थ लोपे संयोगान्तस्य लोपे रात्सस्येति सलोपे रैफस्य विसर्जनीयः आडागमः क्षरतीत्यर्थः । “सोमोदग्धाभिरक्षाः ( ऋ० सं० ७, ५, १३, ४ )” । ‘सर्वे क्षियतिनिगमाः’—इति शाकपूजिर्निवाह उक्तः ॥

(१४) भ्रात्रम् । व्याख्यातं धननामसु ( २३८ पृ० ) । इह क्षिप्रनाम । “भ्रात्रमग्निरकृणोञ्जातवेदाः ( ऋ० सं० ८, ४, १०, ४ )” ॥

(१५) ऊतिः । अचतेः ‘ऊतियूनिजूतिसातिहेति ( ३, ३, ६७ )’—किञ्चुदात्तो निपात्यते । ज्वरत्यरेत्यृद् । अथाचनं रक्षणं तर्पणं वा । “आ स्था र्यं यद्योतये ( ऋ० सं० ६, ५, १, १ )” ॥

(१६) हासमाने । हासतिः स्पर्द्धायां हर्षणे वा घर्त्तते । स्पर्द्धमानो परस्परं हृष्यन्तो वा । “अग्ने इय विपिते हासमाने ( ऋ० सं० ३, २, १२, १ )” ॥

(१७) पद्भिः । पिपतेः स्पाशयतेर्षा वन्धनार्थात् स्पृशतेर्षा ‘सर्त्तरटिः ( उ० १, १३३ )’—इति पाहुलकादटिप्रत्ययो धातूनां पकारभाषश्च । पानैः सोमस्य । यद्वा, स्पाशनेर्वन्धनेः स्पर्शनेः



स्तुतिलक्षणैर्गुणानाम् । “वप्रकः पद्मिष्यसर्पदिन्द्रम् ( ऋ० सं० ८, ५, १५, ६ )” ॥

(१८) ससम् । ‘सस स्वप्ने ( मदा० प० )’ । पचायन् ( ३, १, १३४ ) । स्वर्षीतीति ससम्, माध्यमिकं ज्योतिषव्यत्ने, पर्णायतिरिक्तकालेऽदर्शनात् स्वापय्यपदेशः । “ससं न पङ्कमविद्वद्भुचन्तम् ( ऋ० सं० ८, ३, १४, ३ )” ॥

(१९) द्विता । द्विशब्दान् ‘सङ्ख्याया विधायै घा ( ५, ३, ४२ ) । धकारस्य तकारेण व्युत्पत्तिः । द्विघेत्यर्थः । “द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः ( ऋ० सं० ३, १, १७, ५ )” ॥

(२०) घाः । ‘वृष् घरणे ( स्वा० उ० )’ । ‘गिहे क ( ३, १, १४४ )’—इति बाहुलकात् कः, यणादेशः, उस् । घरितारोऽन्वेषारो मृगादीनाम् । घात्यस्थानीयाः लुब्धकादयः । “मृगं न घ्रा मृगयन्ते ( ऋ० सं० ५, ७, १८, १ )” ॥

(२१) घराहः । व्याख्यातो मेघनामसु ( ८३ पृ० ) । निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२२) स्वसराणि । अहर्नामसु व्याख्यातोऽयं शब्दः ( ७४ पृ० ) निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२३) शर्याः । अङ्गुलीनामसु व्याख्यातः ( २०६ पृ० ) । अत्र इपय उच्यन्ते । “शर्याभिर्न भरमाणो गमस्त्यो ( ऋ० सं० ७, ५, २२, ५ )” ॥

(२४) अर्कः । अर्चतेः ‘हृदाधारार्चिकलिभ्यः कः ( उ० ३, १, १० )’ । अर्चति जीययतीत्यत्र मन्त्रम् इति अन्ये ।

ऋगमुदाहरणम् । अतएव केचिन्न-पठन्त्यत्र अर्कम् । वृक्षे-  
प्यर्चनि । "अर्कपर्णे जुहोति" ॥

(२५) पविः । व्याख्यातो वाङ्नामसु (६८ पृ०) । रथनेमि  
रथ्य पविः । "उत पव्या रथानाम् (ऋ० सं० ४, ३, ६, ४)" ।  
पवस्य दर्शितः ॥

(२६) वक्षः । बहतेः 'बहः सुद् च'—इत्यसुन् । मध्यं काय  
उपरि कायस्य प्राप्तं प्रापिनं वेत्यर्थः । उर इत्युच्यते । "उपो  
यदर्शि शुन्धुचो न वक्षः (ऋ० सं० २, १, ७, ४)" ॥

(२७) धन्व । व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०) । स  
एव निगमः ॥

(२८) तिनम् । व्याख्यातमग्ननामसु (२२३ पृ०) । स एव  
निगमः ॥

(२९) इत्या । इदंशब्दान् 'या हेतो न्य उन्दसि ( ५, ३,  
२६ )'—इति हेतो प्रकारपदाने भाल्प्रत्ययः । एतेषां भाल्  
'प्रश्नपूर्वविश्वेमाणात् उन्दसि ( ५, ३, १११ )'—इति इयापे  
भाल् विहितो व्यस्येन प्रकृतिभूतादिदंशब्दादपि भवति । अने  
हेतुना, अनेन प्रकारेण, अयमेवेति धार्यः । "इत्या अन्द्रमग्नो गृं  
( ऋ० सं० १, ६, ७, ५ )" ॥ 'अगुणा ( नि० ५, ५ )'  
इत्यापेकान्तं क्यमिति निरूपणीयम्, इत्यापिति अन्द्रम्यादि  
प्रत्याक्ष निरूपणीयः ॥

(३०) सन्वा । स्वहापेऽयं निगमः । "भादित्येन्द्रेर्वर्तुं  
सन्वा भुवः ( ऋ० सं० ६, ३, १४, १ )" ॥

• निरुक्तम्—निघण्टुः •

(३१) चित् । निपातो नाम च । निपातोऽनुवाचः । 'चिदित्येपोऽनेककर्मा'—इत्यादिना व्याख्यातः २ ( निघ० १, ४ ) ।  
 "चतुरधिद्विद्विमानात् ( ऋ० सं० १, ३, २३, ४ )"—इत्युपमायाम् ।  
 अथकुत्सनादिष्वपि निगमा मन्थेय्याः । नाम तु चिनोतेऽतएतेर्वा  
 क्विपि चिदिति भवति । चितां मागोः क्षीरादिभिः चिद्रूपा वा  
 सोमक्रयण्युच्यते । "चिदसि मनामि धीरसि ( य० वा० सं०  
 ४, १६ )" ॥

(३२) आ । 'आ इत्यर्थागर्थे'—इत्युपसर्गो - व्याख्यातः  
 ( निघ० १, ३ ) । "परा याहि मघधना च याहि ( ऋ० सं०  
 ३, ३, १६, ५ )"—इत्युपसर्गस्य । "जार आ भगम् ( ऋ० सं०  
 ७, ६, १०, १ )"—इत्युपमायाः "आमेन्यस्य रजसो यदन्न आ  
 अपः ( ऋ० सं० ४, ३, २, १ )"—इत्यध्यर्थस्य ॥

(३३) शुभ्रम् । व्याख्यातं धननामसु ( २४० पृ० ) । 'अत्र  
 यशोऽन्नं धामिधीयते । "अस्मै शुभ्रमधिरत्नं च धेहि ( ऋ०  
 सं० ५, ३, ६, ३ )" ॥

(३४) पवित्रम् । पुनातेः 'पुवः सप्तज्ञायाम् ( ३, २, १८५ )'  
 —'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः ( ३, २, १८६ )'—इतीश्रप्रत्ययः ।  
 मन्त्ररश्म्यापोऽग्निषायुसोमसुर्व्येन्द्राधामिधेयाः । मन्त्रादिषु

१ २ ३ २ ३ १ २ ३

करणसाधनः अग्न्यादिषु कर्मसाधनः । "येन देवाः पवित्रेण  
 ( सा० सं० २, ५, २, ८, ४ )"—इति मन्त्रस्य । "गमस्तिभूतो  
 भिरद्विभिः सुतः ( ऋ० सं० ७, ३, १८, ४ )"—पवित्रवन्तः परि

विमासते ( ऋ० सं० ७, २, २६, ३ )"—इति च रश्मीनाम् ।  
 शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः ( ऋ० सं० ५, ४, १४, ३ )"  
 —इत्यपाम् । "अग्निः पवित्रं स मा पुनांतु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः  
 पवित्रन्ते मा पुनन्तु ( नि० ५, ६ )"—इत्यान्यादीनाम् ॥

(३४) तोदः । तुद्यते पुत्रपौत्रादिभिः स्वसमीहितसाधनाय ।  
 तुदैर्घञ् । यद्वा, 'दिवसेधमेवादयः पचादी द्रष्टव्याः'—इति  
 पचाद्यच् । तुदति प्रेरयति कार्येषु कर्मकारानिति तोदो गृहस्थः ।  
 "तोदस्येव शरण आ महस्य ( ऋ० सं० २, २, १६, १ )" ॥

(३६) स्वञ्जाः । सुपूर्वादेश्चनेरसुन् । सुगमन इत्यर्थः ।

"आ जुहानो घृतपृष्ठः स्वञ्जाः ( ऋ० सं० ८, २, ८, १ )" ॥

(३७) शिपिचिष्टः । (३८) विष्णुः । एते विष्णोरादित्यस्य

नामनी । शिपिचिष्टशब्दोऽत्र सामर्थ्यादन्तर्णीतोपमानार्थः ।  
 'यादृशः शेषो निर्वेष्टितः तादृश इति, शेष इव वेष्टनत्यग्विचर्जितः'  
 —इति श्रीभोजनिवासः । उदितमात्रत्वादप्रतिपन्नरश्मिः ।

अपिवा, 'उपमानयोगात् कुत्सितार्थीयमिदम्'—इत्युपमन्यधः ।  
 पृषोदरादित्वाद्गुणसिद्धिः अर्थसद्धिश्च । 'प्रशंसानाम्'—इत्याचार्य्यः ।

शिपिभिः रश्मिभिः आविष्टः शिपिचिष्टः उपात्तरश्मिः ॥

विष्णुशब्दो व्याख्यातो यज्ञनामसु ( ३५१ पृ० ) अर्थोऽनुगुणः ।

"किमित्ते विष्णो परि चक्ष्यं मत् प्रयद्दु वपक्षे शिपिचिष्टो अस्मि

( ऋ० सं० ५, ६, २५, ६ )"—इत्युभयोर्निगमः ॥

(३६) भाषुणिः । घृणिशब्दो ज्वलन्नामसु ( १७६ पृ० )

कीघनामसु ( २४८ पृ० ) च व्याख्यातः । भागतदीनिरागतकीघ

या । “आघृणे संसनाचद्वै ( ऋ० सं० ४, ८, २१, १ )  
—इति कीर्तिनामत्वे निगमः । क्रोधघवने त्वेभ्य उदाहरणं  
कर्त्तव्यम् ।

(४०) पृथुञ्जयाः । ‘त्रि अमिमवे - ( भू० प० )’ । असुनि  
याहुलकात् फकारस्य रेफः । अयो धेतः । पृथुः अयो  
यस्य सः । वेगेनान्यानमिमयिता महाजवः इत्यर्थः । “पृथुञ्जया  
अमिनादापुर्दस्योः ( ऋ० सं० ३, ३, १३, २ )” ॥

(४१) अधयुम् । अतनेः । ‘जनिमनिपत्रिदमिभ्यः’—इति  
याहुलकात् युस्प्रत्ययो धातोर्धरादेशश्च सकार इत्सञ्चकः ।  
अतनं गमनमथर्युशब्देनोच्यते मत्वर्थोयस्य लुक् गमनवन्तमित्यर्थः ।  
“दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम् ( ऋ० सं० ५, १, २३, १ )” ॥

(४२) काणुका । कान्तकान्तकृतशब्दानां काणुमावः । तत्र  
स्वार्थे कः । शसि ‘शेशउन्दसि बहुलम् ( ६, १, ७० )’—इति  
शैर्लुक् । कान्तानि प्रियानि, कान्तानि आह्वयनीयं प्रति गतानि,  
ऋत्विक् प्रति कृतानि, ब्रह्त्विग्भिः संस्कृतानि सरांसि विशिष्यन्ते ।  
यद्वा, काणुकैति इन्द्रविशेषणम् । सोमस्य कान्तः बहुमः । यद्वा,  
कणेशब्दः ‘कणेमनसी ध्रुवा प्रतिघाते’—इति, तस्य काणुकैति  
रूपं क्रियाविशेषणञ्च । “इन्द्रः सोमस्य काणुका ( ऋ० सं० ६,  
५, २६, ४ )” ॥

(४३) अधिगुः । अधिकृतो गौर्यस्मिन् मन्त्रे सोऽधिगुः ।  
अधिकृतशब्दस्याधिभावः, गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षकः ।  
छायादिष्वधिकृतत्वात् । यद्वा, अधिग्यादिशब्दपश्चादधिगुः ।

प्रधिग्वप्प्रभृतीनामधिगोर्मुञ्जव्यत्वाद्घिगुशब्देनाभिधानम् । अधि-  
न्द्रिधाधिगुशब्देनोच्यते । अभृतगमनः सर्वत्राप्रतिहतगतिरि-  
त्यर्थः । अत्राभृतशब्दस्याधिभावः । गमनं गौः । “अधिगोशमीर्ध्व  
( ऐ० ब्रा० २, १, ७ )” — तुभ्यं श्रोतन्त्यधिगो शचीवः ( ऋ० सं०  
३, १, २१, ४ )” — “ऋचीपमायाधिगवमोहम् ( ऋ० सं० १, ४,  
२७, १ )” — इति क्रमेण निगमाः ॥

(४४) आङ्गूपः । आङ्पूर्वात् घुपेर्घञ् । आघुप्यते आघोषः ।  
घोकारस्य ङ्गुकारभावः । ‘आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ( ६, १,  
१२६ )’ — इत्यनुनासिको व्यत्ययेन । स्तोमोऽभिधेयः । “ए ना-  
ङ्गूपेण घयमिन्द्रवन्तः ( ऋ० सं० १, ७, २३, ४ )” ॥

(४५) आपान्तमन्युः । आपादितमुत्पादितं संस्कारेण  
मन्युर्दीतिर्यस्य । आपादितशब्दस्यापान्तभावः, मन्युशब्दो व्याख्यातः  
क्रोधनामसु ( २५० पृ० ) । सोम उच्यते । इन्द्र आपान्तमन्युः ।  
उत्पादितदीतिर्यस्य उत्पादितकोधो घा । “आपान्तमन्युस्तृ-  
पल्लभर्मा ( ऋ० सं० ८, ४, १४, ५ )” ॥

(४६) श्मशा । श्म शरीरमश्नुते व्याप्नोति । श्मशब्दोपपदान्  
अधोतेः पचाद्यच् । उक्त्वाहिनी फुट्या नाडी घाश्ररसवाहिर्न  
वा श्मशोच्यते । श्म अश्नुते इति निर्वचनं स्वन्दस्वामिप्रत्यय-  
नास्ति धीनिवासमते तु स्वशब्दोपपदान् अधोतेः पूर्ववदच्  
स्यं शासती श्मशा, घकारस्य मकारः । “आप श्मशा रुध्र  
( ऋ० सं० ८, ५, २६, १ )” ॥

(४) उर्ध्वशी । उर्ध्वाब्दोपपदान् अधोतेर्घट्टेर्घा ‘इन्’ स

धातुभ्याः ( उ० ४, ११४ )—रत्नप्रत्यये ऋदिकारात् ( ४, १४  
 ४५ पा० )—ङीप् षशुत्तपदे उरशप्स्य उलोपश्च । उर मल्ल  
 स्वानं यशो वा व्याप्नोति । इरम्यां वा अशुते समो गकांले  
 कामिनं परीकरोति, शिल्पोपघातुञ्जालेत्यर्थः । ३ उर्वां पठे  
 कामो यस्याः महच्छेत्यर्थः । व्यधिकरणो बहुर्मादिः । ४ षुषु  
 कामो यस्याः, षट्नां वा कामो यस्याः । ५ उर्वश्याः प्रह्व  
 मनसोऽधिजातः ( ऋ० सं० ५, ३, २४; १ ) ॥ ३८ ॥ ( ५५ )

( ४८ ) घयुनम् । व्याख्यातं प्रज्ञानामसु ( २६६ पृ० ) ।  
 कान्तिः प्रज्ञा घामिधेया । “स इत्तमोऽवयुनं सतन्वत् सूर्येण  
 घयुनवचकार ( ऋ० सं० ४, ६, ११, ३ )” ॥ ३९ ॥

( ४९ ) घाजपस्त्यम् । घाजशब्दो व्याख्यातोऽन्ननामसु ( २२०  
 पृ० ), पस्त्यशब्दो गृहनामसु ( ३१५ पृ० ) घाजश्च पस्त्यश्च परम-  
 मैतदन्नाद्यमस्माकमिति मन्यमाना यस्मिन् देवाः पतन्ति तम् ।  
 सोम उच्यते । “सनेम घाजपस्त्यम् ( ऋ० सं० ३, ७, १४,  
 २४, ६ )” ॥

( ५० ) घाजगन्ध्यम् । ‘गन्धवर्द्धने’ चुरादिरात्मनेपदी । ) अत्र  
 मिश्रणार्थः । ‘अचो यत् ( ३, ११; ६७ )’ । गृह्यतेर्गन्ध्यादेशो  
 ष्यच्चेति केचित् । गृह्यमाणस्य मिश्रीमावात् गन्ध्यं मिश्र-  
 पितव्यमित्यर्थः । “अश्याम घाजगन्ध्यम् ( ऋ० सं० ७, ४,  
 २४, ६ )” ॥

( ५१ ) गन्ध्यम् । गृह्यतेः अग्राद्यदित्वात् ( उ० ४, ११०८ )  
 मत्प्रत्ययो धातोर्गन्ध्यादेशश्च । ग्राह्यं गृह्यमाणस्य मिश्रीमावात्

आत्मना मिथ्रयितव्यं भक्षयितव्यमित्यर्थः । सोम उच्यते ।

“ऋद्धा वाजं न गध्वं युयुत् ( ऋ० सं० ३, ५, १६, १ )” ॥

(५२) गधिता । प्रहेः क्ते प्रहस्य गघादेशः । “आगधिता परिगधिता” ( ऋ० सं० २, १, ११, ६ )” । आगृहीता, अव-  
यवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः । परिगधिता, सर्वतोऽन्तर्वह्निश्च  
मिश्रितः आलिङ्गनचुम्बनपुरःसरं प्रातःप्रजनना सती सानुरागं  
सम्मोगाय पस्विहोता च सतीत्यर्थः ॥

(५३) कौर्याणः । कौर्यशब्दः कृतशब्दपर्यायः । शत्रून्  
प्रति कृतमेव यानमायानं नित्यं कृतमनः । यद्वा, हस्त्यश्वो  
रथ इत्यादिसङ्ग्रामं कृतं कल्पितं श्रयाणाभिमुखं यानं घाहनं  
यस्य स कौर्याणः । “पाक स्थामा कौर्याणः ( ऋ० सं०  
५, ७, २६, १ )” ॥

(५४) तीर्याणः । तूर्णशब्दस्य तीरभावः । तूर्णयाणः  
क्षिप्रगमन इत्यर्थः । “स तीर्याण उपपाहि यज्ञम् ( ऋ० सं०  
३, ३, १६, ३ षा० )” ॥

(५५) अहयाणः । हीतशब्दस्य हमायः । अहीयमाणः  
अलङ्कितमानः यो ह्यर्थिन्यो दानुं न शक्नोति, स हीतो गच्छति,  
तदस्य नास्ति, अतः श्लाघ्यगमन इत्यर्थः । “अनुष्टुपा रुणुह-  
हयाणः ( ऋ० सं० ३, ४, २५, ४ )” ॥

(५६) हर्याणः । हरतेः पचाद्यचि हरः । शत्रूणां जीवि-  
तैश्वर्यादिहन्तृ यानं यस्य सः । शत्रुजीवितादीनां हर्त्तव्यः ।  
“रजनं हर्याणो ऋ० सं० ६, २, २५, २ )” ॥



(६३) पदिम् । 'पद् गती ( मू० प० )' । 'त्वं सर्वेषां तुभ्यः ( उ० ५, ११४ )' । पदिः पक्षी । आकारे ह्यसौ नित्यं पत्न्यने गच्छति । "मुक्षीजयेष पदिमुत्सिनानि ( ऋ० सं० २, १, १०, २ )" ॥

(६४) पादुः । पद्यनेः 'उन्दसीणः ( उ० १, २ )'—इति पादुल्कादुण् वृद्धिः । पदनं पादुः । "स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते ( ऋ० सं० ७, ७, १६, ४ )" ॥

(६५) वृकः । व्युपसर्गार्थविशिष्टाद् वृणोनेः 'स्रुवृमुष्पि-मुष्पिभ्यः कित् ( उ० ३, ३६ )'—इति कप्रत्ययः । वृकश्चन्द्रमाः । विवृतं स्पष्टज्योतिष्मत्त्वान् विवृत इत्युच्यते, न हि नक्षत्राणां मियाव्यक्तमस्य ज्योतिः । विवृतविक्रान्तशब्दयोर्वृकमावः । विवृतत्वं ज्योतिषः शीतत्वात् हासवृद्धिभ्यां वा । विक्रान्तत्वं ज्योतिषो दिगन्तरगमनात् । "अरु णो मा स्रुवृकः ( ऋ० सं० १, ७, २३, ३ )" । यद्वा, 'वृजी वर्जने' अदादिः । अनेकार्थत्वादावृणोत्यर्थः । पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् को नकारजकारलोपश्च । आदित्य उच्यते । आवृङ्क्ते आवृणोति जगत् प्रकाशेन, आवृणोति चोदकानि रश्मिभिः सम्मजत इत्यर्थः । यद्वा, वृणक्तेर्वधकर्मणः पूर्ववद्वृपम् । विनाशयति तमांसि । "आन्नो यत्सोममुञ्चतं वृकस्य ( ऋ० सं० १, ८, ६६, १ )" । विविधं हन्तति उरणादीनि विकर्ता सन् वृकश्च । विपूर्वान् हन्ततेः पूर्ववद्वृपसिद्धिरुन्नेया । "वृकश्चिदस्य वारण उरामधिः ( ऋ० सं० ६, ४, ४६, ३ )" । अपि वा शृगाली शिषेति प्रतिज्ञा

। वृक्षयुच्यते । “शतं मेपान् वृक्षये चक्षुदानम् ( ऋ० सं० १, ११, १ )” ॥

(६६) जोषवाकम् । ‘जुषी प्रीतित्सेधनयोः ( तु० आ० )’  
र्षणि घञ्, घञेर्भावे । जोषयित्त्वं घञनम् । विस्पष्टाय  
पित्त्यं घञनम् । अविस्पष्टं घञनमित्यर्थः । “जोषवाकं  
दत्तः पञ्चदोषिणा ( ऋ० सं० ४, ८, २५, ४ )” ॥

(६७) कृत्तिः । कृन्ततेः रूपम् । यशोऽन्नं वा । यशो हि  
रगतः कृन्तति दुर्भक्तं वाधं मायादि भोकारम् । “मही च कृत्तिः  
रणा न इन्द्र ( ऋ० सं० ६, ६, १३, ६ )” । शरीरान् कृन्तति  
र्ममय्यपि कृत्तिः । मृत्रमय्यपि कृत्तिः क्षरद्वस्त्रखण्डप्रथितत्वात्  
र्त्नेनसामान्यात् । कृत्तिरिव कृत्तिः चन्द्रोच्यते । “कृत्तिं घसान  
गन्धर ( य० वा० सं० १६, ५१ )” ॥

(६८) श्यमो । स्वशब्दे फर्मण्युपपदे भूतेऽर्थे ‘कर्मणि हतः  
( ३, २, ८६ )’—इति णिनिप्रत्ययः । स्व धनं हतयान् स्वघाती  
गन् श्यमो कृतयः । स्वशब्दः स्वघेत्यत्र ( १५२, ५० ) व्याख्यातः ।  
“हृत् न श्यमो षिञ्जिनोति देपने ( ऋ० सं० ७, ८, २५, ५ )” ॥

(६९) समप्य । समशब्दः सर्वपर्यायः सर्वनामसु पठ्यते  
‘त्परावसमविमनेमेत्यनुष्ठानि ( मि० ४ )’—इति सप्तानुदासः ।  
“मा नः समप्य दृष्टा” ( ऋ० सं० ६, ५, २५, ४ ) । “उद-  
व्याप्तो मघावतः समपमान् ( य० वा० सं० ३, २६ )” । “उत  
समस्मिन्नागिर्वादि नो वसोः ( ऋ० सं० ६, २, २, ३ )” ।  
“नमस्तामन्पके समे ( ऋ० सं० ६, ३, २२, १ )” ॥

(७०) कुट्म्य । (७१) चर्षणिः । वृत्तशब्दस्य कुट्म्यव  
कुम्भार्थान् कुट्टेः कप्रत्यय इत्यन्ये । चर्षणिशब्दो ध्यान्त्या  
पश्यतिफर्मसु (३३३ पृ०) । “पिता कुट्म्य चर्षणि (ऋ० सं०  
१, ३, ३३, ४)” ॥

(७२) शम्यः । ध्यान्त्यात् शम्यर इति मैघनामसु (८३ पृ०)  
“उग्रो यः शम्यः पुरुहूत नैन (ऋ० सं० ७, ८, २३, २)” ॥

(७३) केपयः । कुशाब्दोपपदात् पुनातः ‘अनिपुणकृत्स्न्य  
पयप्’—इति यादुलकान् क्यप्, कोः कादेशः । कपूयः दुःपूयः  
दुःशोध्यः दुःकामेत्यर्थः । कपूयेन तद्वन्तोऽपि कपूयाः, अकारो  
मत्वर्थीयः । कुत्सितकर्माण उत्थापितपापकर्माणो घोच्यन्ते ।  
कपूयाः सन्तः केपयः । “ई मैवते न्यचिशन्त केपयः (ऋ० सं०  
७, ८, २७, १)” ॥

(७४) तूनुमाकृये । ‘तूनुमेत्यस्य शोभ्यगत्यर्थस्य तूर्णमित्य-  
वगमः’—इति स्कन्दस्वामी । निर्वाहो निरुपर्णायः । कपो-  
तेर्लटि ‘थासः सं (३, ४, ८०)’ उप्रत्ययस्य ‘घहुलं छन्दसि (३,  
४, ७३)’—इति लुक् कुरूप इत्यर्थः । “एता विश्वा सयना  
तूनुमा कृये (ऋ० सं० ८, १, ६, ६)” ॥

(७५) अंसत्रम् । आङ्पूर्वाद्धन्तेरसुनि ढिलोप आकारस्य  
हसत्त्वं च । आहन्तीत्यंहः पापम् । पापेन वात्र तन्फलभूत-  
प्रहारादिकं लक्ष्यते । अंहसस्त्रायते । ‘आतोऽनुपसर्गे क  
(३, २, ३)’—इत्यंहसस्त्रं सदंसत्रम् । धनुर्वा कथञ्च ।  
“अंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् (ऋ० सं० ८, ५, १६, १)” ॥

(३६) काकुदम् । कौतेः शब्दकर्मणो यडि, पवाद्यचि, यदोऽचि च ( २, ४, ७४ )—इति यङ्लुकि, द्विवचनादौ, न धनुलोप आर्द्धधानुके ( १, १, ४ )—इति गुणनिषेधः । कौकृत्यते पुनः पुनः शब्दं करोतीति काकुर्जिहा । कौकृत्याधानं सद्दु वर्णस्य-स्पर्शिता काकुदं तालु । कौकृत्यमाना नुदतीति वा । कौकृत्यतेर्नुदेश्य काकुदम् । “अनुक्षरन्ति काकुदम् ( सू० सं० ६, ५, ७, २ )” ॥

(३७) वीरिटे । मियो वा नक्षत्रादीनां वाभासस्ततिन्ततनं यन्मिन् । तन् मीननं भाक्तननं वा मन् वीरिटमन्तरिक्षम्, मनुष्यगणो वा अनालयेऽन्तरिक्षे हि मीतिः कल्प्य न जायते, पृथगेन्द्रो यतो हि तस्मान्नप्रापि तद्दु भयं । “आ विज्यती य वीरिट इयाने ( सू० सं० ५, ४, ६, २ )” ॥

(३८) अरुष्ट । निपातः । अमेत्ये । भामिसुप्यार्यं पचने । भाजुमिस्यार्ये इति शाक्यूणिः ॥

(३९) परि । (८०) ईम् । (८१) रीम् । इति ञान्या-  
नानि प्राथमिके. निपालनाकारणे ( नि० १, ३ पृ० ) अनेकार्यत्वा-  
निर्होपग्यासः । एषामुदाहृतानि प्रविष्टानि ॥

(८०) एत्तम् । (८१) एत्तम् । एतत्पृष्ठपत्राया अयेत्य-  
नेन एतत्पृष्ठेन ‘उदानम् प्राथमादेशे, अनुदानमन्वादेशे’—इत्येवं  
व्याख्यातम् ( नि० ४, २० ) । अनेकार्यत्वात्पृष्ठपत्राणः । “चित्त  
एतमायुजत्” — इत्येवमाहानुदाहृतानि ॥

(८२) वृत्तिः । ‘वृत्तार्थे ( सू० ५० )’ । ‘वृत्तवृत्तिरप्य-  
तिवृत्तिर्यः क्विप्’—इति लिट्प्रत्ययः । लटिनस्य प्रति गत्तान्

सृणिशब्देनात्र दात्रमभिप्रेतम् ॥ "नदीय इत्सुष्यः पद्मेय  
( य० वा० सं० १२, ६८ )" ॥

इति चतुरशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः (१) । आशाभ्यः (२) । काशिः

(३) । कुणारुम् (४) । अलातृणः (५) । सललूकम्

(६) । कल्पयम् (७) । विल्लुहः (८) । वीरुधः (९) ।

नक्षदाभम् (१०) । अस्कृधोयुः (११) । निशृम्भाः

(१२) । वृवदुक्थम् (१३) । ऋदूदरः (१४) ।

शदूषे (१५) । पुलुकामः (१६) । असिन्वतो

(१७) । कपना (१८) । भाषज्जीकः (१९) ।

रुजानाः (२०) । जूर्णिः (२१) । ओमना (२२) ।

उपलप्रक्षिणी (२३) । उपसि (२४) । प्रकलवित्

(२५) । अभ्यर्धयज्वा (२६) । ईक्षे (२७) ।

क्षोणस्य (२८) । अरमे (२९) । पाथः (३०) ।

सयीमनि (३१) । सप्रथाः (३२) । विदथानि (३३) ।

धायन्नः (३४) । आशीः (३५) । अर्जागः (३६) ।

मूरः (३७) । शशमानः (३८) । देवोदेवाच्या-  
 ह्या (३९) । विजामातुः (४०) । ओमासः (४१) ।  
 तोमानम् (४२) । अनवायम् (४३) । किमीदिने  
 (४४) । अमवान् (४५) । अमीवा (४६) ।  
 दुरितम् (४७) । अप्वे (४८) । अमतिः (४९) ।  
 श्रुष्टी (५०) । पुरन्धिः (५१) । रुशत् (५२) ।  
 रिशादसः (५३) । सुदन्नः (५४) । सुविदन्नः  
 (५५) । आनुषक् (५६) । तुर्वणिः (५७) ।  
 गिर्वणाः (५८) । असूर्ते सूते (५९) । अम्यक्  
 (६०) । यादृश्मिन् (६१) । जारयायि (६२) ।  
 अग्रिया (६३) । चनः (६४) । पचता (६५) ।  
 शुरुधः (६६) । अमिनः (६७) । जज्मतीः (६८) ।  
 अप्रतिष्कृतः (६९) । शाशदानः (७०) । स्यः  
 (७१) । सुशिप्रः (७२) । रंसु (७३) । द्विवर्हाः  
 (७४) । अक्र (७५) ७५.  
 (७७) ।

(८०) । कुलिशः (८१) । तुञ्जः (८२) । वर्हणा  
 (८३) । ततनुष्टिम् (८४) । इलीविशः (८५) ।  
 कियेधाः (८६) । भृमिः (८७) । विष्पितः (८८) ।  
 तुरीपम् (८९) । रास्पिनः (९०) । ऋजतिः (९१) ।  
 ऋजुनीती (९२) । प्रतद्वसू (९३) । हिनोत  
 (९४) । चोष्कूयमाणः (९५) । चोष्कूयते (९६) ।  
 सुमत् (९७) । दिविष्टिषु (९८) । दूतः (९९) ।  
 जिन्वति (१००) । अमत्रः (१०१) । ऋचीपमः  
 (१०२) । अनर्शगतिम् (१०३) । अनर्वा (१०४) ।  
 असामि (१०५) । गल्दया (१०६) । जल्हवः (१०७) ।  
 वकुरः (१०८) । वेकनाटान् (१०९) । अभिधेतन  
 (११०) । अंहुरः (१११) । घतः (११२) । याना-  
 प्यम् (११३) । चाकन् (११४) । रथर्यति (११५) ।  
 असक्ताम् (११६) । आधवः (११७) । अनय-  
 श्रवः (११८) । सदान्धे (११९) । शिगिम्बिठः  
 (१२०) । पगशरः (१२१) । क्रिविर्दती (१२२) ।

• चतुर्थोऽध्यायः •

करुलती (१२३) । दनः (१२४) । शरारुः (१२५)  
 इदंयुः (१२६) । कीकटेपु (१२७) । बुन्दः (१२८)  
 वृन्दम् (१२९) । किः (१३०) । उल्वम् (१३१)  
 ऋवोसम् (१३२) । ऋवोसमिमिति द्वात्रिंशच्च  
 पदानि ॥ ३ ॥

जहासस्त्रिमाशुशुक्षणिस्रोणि ॥

इति निघण्टौ चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥ ४

(१) आशुशुक्षणिः । शुचेर्ज्वलतिकर्मणः क्विपि शुक्  
 क्षणिर्हिंसार्थः, 'इन् सयंघातुभ्यः (३०४, ११४), -इतीन्, सः  
 इन् । आशु शुचा शीघ्रया क्षणित्वा हिंसिता समस्तौ ।  
 सम्भक्ता वा पाके दाहप्रकाशनादेः स्वव्यापारस्य । अग्निह  
 यद्वा, आह-पूर्वाच्चलुचेरन्तर्णोत्पत्त्यर्थात् सन्नि आशुशुक्ष इति  
 'आङ्ङि शुचेः सनः'—इति विहितः अनिप्रत्ययो बाहूलकाच्च  
 भवति । 'आङ्ङि शुचेः—इत्येय वा तत्र पाठः । आशु शो  
 भादीपयित्नुमिच्छा, तस्या फर्त्ता आशुशुक्षणिः भादीपयित्पुनि  
 "स्थमन्ने घृमिस्त्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० सं० २, ५, १७, १)"

(२) आशाम्यः । व्पास्यात् दिङ्नामसु (६६ पृ०) ।  
 निगमः (ऋ० सं० २, ८, ६, २) ॥



(३) काशिः । काशते: 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'  
—इतीनप्रत्ययः । प्रकाशयते इति काशिर्मुष्टिः । "यन्संगृभ्णा  
मघवन् काशिरित्ते (ऋ० सं० ३, २, १, ५)" ॥

(४) कुणाहम् । कणते: शब्दकर्मणः 'कणेराहः'—इति शतु-  
लकात् आहप्रत्ययस्ताच्छीलिकः, यकारस्य सम्प्रसारणञ्च ।  
शब्दनशीलः कुणाहः, तन्मैघ उच्यते । "अहस्त मिन्द्र समिणक्  
कुणाहम् (य० घा० सं० १८, ६६)" ॥

(५) अलातृणः । अलंशब्दोपपदात् तुदेहिंसार्थात् घीणस्थूण-  
घणभ्रूणभ्रूणतूणतृणघृणादयः (उ० ३, १३)—इति णप्रत्ययो  
दकारलोपो गुणाभावोऽलमोमकारस्याकारश्च निपात्यते । यद्वा,  
लुटि दकारस्य लोपो गुणा भावश्च षृणोदरादित्वात् ॥ अलं  
पर्याप्तमातर्दनं हिंसा यस्य, बहुदक्तत्वात् मैघो विशिष्यते ।  
"अलातृणोयल इन्द्र मजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)" ॥

(६) सल्लूकम् । सम्पूर्वाल्लुभेर्निष्ठायां 'लुभो विमोहने  
(७, २, ५५)'—इतीडागमः । यद्वा, सत्ते: 'मण्डूकोल्लूकोहक-  
शूकशाम्बूकयूकयककादयः (उ० ४, ४०)'—इत्यूकप्रत्यये गुणे  
रपरे हने भक्तित्यस्य द्विषचनरेकशोर्लत्वापत्तिश्च निपात्यते ।  
सरणशीलमत्यन्तदूरं नष्टमित्यर्थः । रक्षो विशिष्यते । "आ  
कीपत सल्लूकं चकथं (ऋ० सं० ३, २, ४, २)" ॥

(७) कल्पयम् । कमिति सुखनाम । तस्य मकारस्य लकार-  
प्रत्ययस्य सलोपः । कल्पयसं सुखप्रत्ययसमित्यर्थः । मैघोऽभिधेयः ।  
त्यञ्जित्वा कल्पयं शयानम् (ऋ० सं० ४, १, ३२, ६)" ॥

(८) पिष्टुहः । विपूर्वात् ष्यपते: क्विप् । चिक्विथं ष्ययन्तीति

विष्णुः आपः । “घया इव हृद्दुः सप्त विष्णुः ( ऋ० सं० ४, ५, ६, ६ )” ॥

(६) वीरुधः । विपूर्वात् रुधेः क्विपि वेदीर्घो हकारस्य धकारश्च । मूलविभुजादित्वात् के विरुहाः सत्वः वीरुधः । विविधं रोहन्तीति ओषधय उच्यन्ते । “वीरुधः पारविष्णवः ( ऋ० सं० ८, ५, ८, ३ )” ॥

(१०) नक्षत्राभम् । नक्षत्रैर्गतिकर्मणो व्यातिकर्मणो वा शतरि नक्षत्रं, दम्नोतीति दम्नोतेर्वधकर्मणः कर्मण्यणि नकारलोप-  
श्लान्दसः, वृद्धिः । युद्धार्थमभिगच्छतां व्याप्नुवताश्च शत्रूणां हन्तारमित्यर्थः । “नक्षत्राभं ततुरि पर्यतेष्टाम् ( ऋ० सं० ४, ६, १३, २ )” ॥

(११) अस्त्रधोयुः । दीर्घायुरित्यर्थः, चिरस्थायी पुत्रपौत्रा-  
न्वित इति यावत् । हृधिति ह्रस्वनामसु व्याख्यातम् (१०५ पृ०) । नञ्पूर्वम् धातोः सकार उपजनः, घुराब्दस्य धोभाषः । यद्वा, नञ्पूर्वाङ् करोतेर्निष्ठायाश्चतुशब्दस्यास्त्रधोभाषः, दधातेर्धिय-  
तेर्वा ‘श्नो णिन्’—इति यादृत्कात् उत्तिप्रत्ययः, ‘णिष्ठाः  
गुणात्तमः, धकारस्य धोभाषः । अस्तदानो यादृशो न कस्मि  
न्निष्पया इत्पूर्व इत्यर्थः । अस्तयानो वा अनुत्पूर्वः केनचि  
दित्यर्थः । धनविशेष उच्यते । “यो अस्त्रधोयुरजतः सर्वा  
( ऋ० सं० ४, ६, १३, ३ )” ॥

(१२) निष्कम्भः । निपूर्वाङ् ‘धधि शैथिल्ये ( भू० धा०  
—एत्पूर्वम् ) पञ् । निर्गतः धधः शैथिल्यं पम्भः सा निष्क

(२३) उपलप्रक्षिणो । उपलप्राद्धोपदान् क्षिणोनेः क्षिणेवां  
 'सुप्यजातो (३, २, ७८)'—इति निनिप्रत्यये व्यत्ययेन टिलोपः ।  
 उपलेषु रुक्षणेषु घालुकासु यषान् क्षिणोति हिनमि मृर्त्तार्य्यः  
 उपलेषु यषान् प्रक्षिपति चूर्णयतीत्यर्थः । सन्तुकारिकामिधेश ।  
 "उपलप्रक्षिणी नना ( ऋ० सं० ७, ५, २५, ३ )" ॥

(२४) उपसि । उपम्यशाश्चम्य । "आसीन ऊर्ध्वं मुसि  
 क्षिणाति ( ऋ० सं० ७, ७, १७, ३ )" ॥

(२५) प्रकलविन् । प्रकर्णेन कलाः मानोन्मानप्रतिमाना-  
 दिविषयाः प्रकृष्टाद्यगणितरत्नपरीक्षादिका वेद विजानाति ।  
 'सत्सूक्ष्मि ( ३, २, ६१ )'—इत्यादिना क्विप् 'इयापोः सञ्जा-  
 च्छन्दसोर्वहुलम् ( ६, ३, ६३ )'—इति ह्रस्वः । प्रकलविद् घणिग्  
 भवति । "दुर्मिवासः प्रकलविन्निमानाः (ऋ० सं० ५, २, २६, ५)" ॥

(२६) अभ्यर्धयञ्वा । 'ऋधु वृद्धौ ( दि० प० )' । निजन्तात्  
 पचाद्यचि णिलोपे अभ्यर्ध, यजेदानार्थान् 'मुयजोर्वनिर् ( ३, २,  
 १०३ )' अल्पानपि रसान् अभ्यर्धयन् मरुद्भ्यो ददाति धनं वा  
 लोतुभ्यो यो ददाति सः । पूया विशेष्यते । "सिपक्ति पूया  
 अभ्यर्धयञ्वा ( ऋ० सं० ४, ८, ८, ५ )" ॥

(२७) ईक्षे । 'ईश ऐश्यर्ष्ये ( अदा० आ० )' । 'थासः से ( ३,  
 ८० )' । व्यत्ययेन ईशासे न भवति । "ईक्षे हि घस उभयस्य  
 जन् ( ऋ० सं० ४, ६, ८, ५ )" ॥

(२८) क्षोणस्य । 'क्षि निवासगत्योः ( तु० प० )' । 'इत्यल्युटौ  
 ( ३, ३, ११३ )'—इति कर्त्तरि ल्युट् । क्षयणस्येत्यत्र

कारस्योकारे 'आद्गुणः ( ६, १, ८७ )' । निवसितुस्त्वर्थः ।

'महः क्षीणस्यग्निना कण्वाय ( ऋ० सं० १, ८, १४, ३ )" ॥

(२६) अस्मे । अस्मद् । जसादीनां शो प्रगृह्य, लुवेव  
 ३ः । जसादिषु सुवन्तेषु क्रमेणोदाहरणानि,—“अस्मे ते  
 कथुः ( य० वा० सं० ४, २२ )” “अस्मे यातं नासत्या सजोपाः  
 ( ऋ० सं० १, ८, १६, ६ )” “अस्मे समानेभिर्वृषभ पाँस्येभिः  
 ( ऋ० सं० २, ३, २५, २ )” “अस्मे प्रयन्वि मघवन्नृजीपिन्  
 ( ऋ० सं० ३, २, २०, ५ )” “अस्मे आराञ्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु  
 ( ऋ० सं० ४, ७, ३२, ३ )” “ऊर्ध्व इव पप्रथे कामो अस्मे  
 ( ऋ० सं० ३, २, ४, ४ )” “अस्मे घत्त वसवो वसूनि ( य० वा०  
 सं० ८, १८ )” ॥

(३०) पाथः । पथतेः पन्थतेर्वा गत्यर्थादसुनि धातूनां  
 पाथ इत्ययमादेशः । पथ्यते गम्यते पश्यादिभिरुत्तरिक्षवासिभिर्वा  
 पाथः । अन्तरिक्षम् । “श्येनो न दीयन्तन्धेति पाथः ( ऋ० सं०  
 ५, ५, ५, ५ )” । उदकमपि पाथः । ‘पिबतेरथुद्च’—इत्युसुन् ।  
 पीयते ह्य दकम् । अग्ने पिबतिरभ्यवहारार्थः । “आचष्ट आस  
 पाथो नदीनाम् ( ऋ० सं० ५, ३, २५, ५ )”—इत्युदकस्य । “दिवान  
 पाथ उप प्रचिद्धान् ( ऋ० सं० ८, २, २२, ४ )”—इत्यन्नस्य ॥

(३) सर्वाग्नि । ‘सु प्रसवैश्वर्ययोः’ ( भू० प० ) । ‘ह  
 धृगुस्तृशृभ्य इमनिच् ( उ० ४, . )’ । प्रस  
 शप्स्य . . . . . ( वस्य व

(३२) सम्प्रयाः । प्रगनेरसुन् । सयंतशब्दस्य समायः । सयंतशुः । “रूपमाने सम्प्रया अस्ति (अ० सं० ४, १, ५, ४)” ॥

(३३) विद्धानि । विद्ध्यक् (उ० ३, १११) । वेदानि विद्धानानीत्यर्थः । “विद्धानि प्रचोदयन् (अ० सं० ३, १, २६, २)” ॥

(३४) ध्रायन्तः । ‘ध्रिम् संयायाम् (भू० आ०)’ । शतरि शपि गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः । समाध्रयन्तः । यद्वा, भूते ल्युट् । समाध्रिताः । “ध्रायन्त इव सूर्यम् (अ० सं० ६, ७, ३, ३)” ॥

(३५) आशीः । आङ्पूर्वात् ध्रयतेः शृणोतेर्वा ‘क्विव्यक्-प्रच्छि (३, २, १६८ वा० १)’—इत्यत्र ‘प्राक् प्रत्ययनिर्देशादि-एसिद्धिः (भा०)’—इत्युक्ते क्विपि प्रकृतेः शीरादेशः । यद्वा, एतयोरर्थे घत्तमानात् शृणातेः क्विपि शीरशब्दे निर्वाहः । आङ्-इपदर्थद्योतकः आध्रयणात् होमार्थस्य सोमस्य ध्रयणं दध्युच्यते । “इन्द्राय गाव आशिरम् (अ० सं० ६, ५, ६, १)” । ‘आङः शासु इच्छायाम्’ इत्यस्मात् क्विपि । “सा मे सत्याशीर्दिवान् गम्यान्” रेफान्तसकारान्तयोरपि साधारणं पाठः समाम्नाये ॥

(३६) अर्जागः । जिगर्त्तिर्नैरुक्तधातुर्निगर्णार्थो वा प्रहणार्थो वा । लङि, सिपि, इतश्च लोपे, ‘रात्सस्य (८, १, २४)’—इति सलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः । अयगिरति, गृह्णाति वा । भक्ष्य-तीत्यर्थः । “आदिद्भिर्प्रसिष्ट ओषधीरर्जागः (अ० सं० २, १३, २)” ॥

(३७) अमूरः । ‘मुह वैचित्ये (दि० प०)’ । निष्ठायाम् उत्त्वम्, प्लुत्यदलोपदीर्घाः, टकारस्य रेफः, नम्रपूर्वः सम्बुर्जा

ममूर। अमूढेत्यर्थः। “मूरा अमूर न घयं चिकिरयः (ऋ० सं० १, ५, ३२, ४)” ॥

(३८) शशमानः। व्याख्यातोऽर्चतिकर्मसु (३३८ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० २, २, २१, २) ॥

(३९) देवोदेवाच्या कृपा। देवशब्दोपपदात् अञ्जतेः ‘अदत्विग् (३, २, ५६)’—इत्यादिना क्तिन्, ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति नलोपः ‘अचः (६, ४, १३८)’—इत्यकारलोपः, (६, ३, १३८)’—इति दीर्घे ‘अञ्जतेऽपसाङ्ख्यानम् (४, १, ६, घा०)’—इति ङीप् ‘विष्वग्देशयोश्च टेरद्रयङ् च ताघप्रत्यये (६, ३, ६२)’ न भवति, ‘कृषू सामर्थ्ये (भू० आ०)’ क्तिप्। देवान् प्रति गतया स्तुत्येत्यर्थः। “देवोदेवाच्या कृपा (ऋ० सं० २, १, १२, १)” ॥

(४०) विजामातुः। धनादन्ये कुलीनत्याशयो विगता जामातृगुणा यस्मात्, सोऽयमप्राप्तगुणो विजामाता कन्या-पतिरुच्यते। ततः पञ्चमी। “विजामातुरुत वा घा स्यालात् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)” ॥

(४१) ओमासः। अचतेः पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा कर्त्तरि कर्मणि वा ‘अविसिविसिशुविभ्यः कित् (उ० १, १४१)’—इति मन्प्रत्यये ‘ज्वरत्वर (६, ४, २०)’—इत्यादिना ऊठि उमास इति प्राप्ते व्यत्ययेन गुणः। जस्। ‘आञ्जसेरसुक् (७, १, ५०)’। रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीयाः। “रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीयाः (ऋ० सं० १, १, ६, १)” ॥

(४२) सोमानम् । सुनोतेर्मनिन्प्रत्ययः । अमि सोमानम्  
सोतारम् । अभिषोतारं सोमानाम् । “सोमानं स्वरणम् (ऋ० सं०  
१, १, ३५, १)” ॥

(४३) अनवायम् । (४४) किमीदिने । अनवयवशब्दस्यानवाय-  
भावः । अनवयवत्वं सकलमित्यर्थः । किमिदानीं कस्य किञ्चिदिति  
चरति, किमिदं वर्त्तत इति वा चरति । साधुजनवैरी सदा विरुद्ध-  
बुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः । किमिदंशब्दस्य वाक्यस्य वा किमीदिन-  
भावः । “द्वेषो धत्तमतवायं किमीदिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)” ॥

(४५) अमघान् । अमा सहार्थाव्ययम् । तस्य मनुषि ह्यः  
ससहायः । यदुवा, 'अम रोगे (चु० प०)' । 'पुंसि सप्रज्ञाय'  
घः (३, ३, ११८)' । अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तदुवात्,  
दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य वा अमभायः । यदायान्  
'आत्मा जीवे यत्ने फलौ मनौ चातपि—इति निघण्टुः । 'यादि  
गजे घामर्षा इभे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)” ॥

(४६) अर्मीया । 'अम रोगे (चु० प०)' । 'अमेरीयः'—इति  
ईयप्रत्ययः । टाप् । अर्मीया रोगः हिंसिता वा । यदुवा,  
'शेषयद्गजिह्वार्म्याप्यार्मीया (उ० १, १५२)'—इति पन्प्रत्ययान्तो  
निपात्यने । “यस्ने गर्गमर्मीया (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)” ॥

(४७) दुर्गितम् । दुर्मतिप्रापकं कारणभूतम् । 'पापकं कर्म  
दुर्गितमुच्यते, । “अतिप्रामग्तो दुर्गितानि विख्या (नि० ६,  
१०)” । दुःशब्दोऽत्र दुर्गती वर्त्तते । 'इणश्चिगुणिव्यः ऋ'  
इति वादुल्लङ्घान् कारणे ऋः । दुर्गतिर्गम्यते येन तन् दुर्गितम् ॥

(४८) अप्वे । अपपूर्वात् घेर्धातोर्न्तर्णोत्पद्यथात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति ङप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्छान्दसः । टाप् । अपवयति अपगमयति सुखं प्राणाञ्चेत्यर्थः । 'शेष्यहजिह्वार्थाप्वामीधा ( उ० १, १५२ )'—इति घनप्रत्यये घेर्लोपोऽपराब्दस्यान्तलोपश्च निपात्यते । व्याधिर्वा भयं चाप्व्या । "गृहाणाङ्गान्यप्वे परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६,)" ॥

(४९) अमतिः । अमाशब्द आत्मवचनः । आत्ममयी ततिर्मतिर्या अमतिः । तन्यत इति ततिर्दीप्तिः । मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिः । आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्या अमतिर्दीप्तिरभिधेया । अमाततिशब्दस्य आरममतिशब्दस्य वा अमतिभावः । सचित्तुविशेषणत्वादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्या

३ २३ ३ २ ३ १ २३ ३

अमतिरितिपुपपद्यते । 'ऊर्ध्व्या यस्या मतिर्भा अदिद्युत् (सा० छ आ० ५, २, ३, ८)" ॥

(५०) ध्रुषी । (५१) पुरन्धिः । अधोक्तेः 'हृदयिकर्षिचक्रिमुपिशासुव्यशिश्याभ्यः क्तिन्' । 'हृदिकारादक्तिनः ( ४, १, ४ )' ( ग० वा० )"—इत्यत्र स्त्रियां विहितस्य ग्रहणात् विकल्पो ङीप् ध्रु अष्टि व्याप्तिरत्र ध्रुषी । पुरन्धिः बहुनाम । धोरिति कर्मनाम प्रजानाम वा । बहुकर्मा बहुमज्ञो वा पुरन्धिः सन् पुरन्धिः पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः । 'घेर्लो डिन्—इति वाहुल्यकादिदिनप्रत्ययः, दकारस्य धकारः, नकार उपजनः । भृगो धर इत्यत्र पुरन्धिः । "ध्रुषी भगं नामत्या पुरन्धिम् ( ऋ० सं० ५,



(४२) सोमानम् । सुनोनेर्मनिप्रत्ययः । अमि सोमन्  
सोताम् । अमिपान्तां सोमानाम् । “सोमानं स्वरणम् (ऋ०  
१, १, ३४, १)” ॥

(४३) अनयायम् । (४४) किर्मादिने । अनयायवशाद्दृष्टानवा  
भावः । अनयायवं सकल्मिष्यर्थः । किमिदानीं कस्य किञ्चिदि  
चरति, किमिदं घनंत इति वा चरति । साधुजनवैरी सदा विद्व  
बुद्धिः पिशुनोऽमिष्येयः । किमिदंशब्दस्य घावयस्य वा किर्मादिने  
भावः । “द्वेषो घत्तमनयायं किर्मादिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)” ॥

(४५) अमयान् । अमा सहायाव्ययम् । तस्य मनुषि इव  
ससहायः । यदुवा. ‘अम रोगे (चु० प०)’ । ‘पुंसि सप्रज्ञां  
घः (३, ३, ११८)’ । अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तदुक्त  
दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः । आत्मशब्दस्य वा अमभावः । यत्रवार  
‘आत्मा जीवे यत्ने कलौ मनी चातपि—इति निघण्टुः । ‘यदि  
राजे घामघां इमे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)” ॥

(४६) अमीवा । ‘अम रोगे (चु० प०)’ । ‘अमेरीवः’—इति  
ईवप्रत्ययः । टाप् । अमीवा रोगः हिंसिता वा । यदुवा,  
‘शेययह्जिहाप्रीषाप्यामीवा (उ० १, १५२)’—इति घन्प्रत्ययान्तो  
निपात्यते । “यस्ते गर्भममीवा (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)” ॥

(४७) दुरितम् । दुर्मतिप्रापकं कारणभूतम् । ‘पापकं कर्म  
दुरितमुच्यते, । “अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा (निर० ६,  
१२)” । दुःशब्दोऽत्र दुर्गतौ घर्त्तते । ‘इणशिवुषिम्यः क्’  
इति बाहुलकात् करणे कः । दुर्गतिर्गम्यते येन तत् दुरितम् ॥

(४८) अप्पे । अपपूर्वात् घेभ्रघातोऽन्तर्णोत्तण्यथात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति इप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्छान्दसः । टाप् । अपचयति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यर्थः । 'शेव्यह्रजिह्वाप्रीचाप्यामीवा (३० १, १५२)'—इति वन्प्रत्यये घेभ्रो लोपोऽपराब्दस्यान्त्यलोपश्च निपात्यते । व्याधिर्वा भयं वा अप्वा । "गृहाणाह्वान्वप्ये परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६,)" ॥

(४९) अमतिः । अमाशब्द आत्मवचनः । आत्ममयी ततिर्मतिर्वा अमतिः । तन्यत इति ततिर्दीप्तिः । मतिरपि प्रकाशरूपत्वाद् दीप्तिः । आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमतिर्दीप्तिरभिधेया । अमाततिशब्दस्य आत्ममतिशब्दस्य वा अमतिभावः । सवितृविशेषणत्वादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिव

३ २३ ३ २ ३ १ २३ ३

अमतिरित्युपपद्यते । 'ऊर्ध्वा यस्या मतिर्मा भदियुतत् (सा० ल आ० ५, २, ३, ८)" ॥

(५०) ध्रुष्टी । (५१) पुरन्धिः । अधोक्तेः 'ह्रष्टिकर्षिर्वणिमुग्निशासुश्चशिश्याभ्यः किन्' । 'ह्रष्टिकारादकिन्ः (४, १, ४, ग० वा०)'—इत्यत्र स्त्रियां विहितस्य ग्रहणान् विकल्पो लीपश्चु अष्टि व्याप्तिरत्र ध्रुष्टी । पुराब्दो बहुनाम । धोरिति कर्मनाम प्रजानाम वा । बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा पुरधिः सन् पुरन्धिः पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः । 'घेभ्रो डिन्—इति बाहुलकादिदिनप्रत्ययः, दकारस्य धकारः, नकार उपजनः । भृगो घृष्टश्च पुरन्धिः । "ध्रुष्टो भयं नामत्या पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५,

६, ४) । श्रुष्टीशब्दः सुखस्याभिधायको घान्यशलाकायाश्च ।  
 “श्रुष्टीवरीभूत नास्मभ्यमापः ( ऋ० सं० ७, ७, २६, १ )”—इति  
 सुखस्याभिधायकः । “श्रुष्टी सहस्र असह्यः”—इति घान्य-  
 शलाकायाः ॥

(५२) रूचात् । ‘रुच दीप्तौ (भू० आ०)’ । ‘संश्रुत्तृम्पङ्केहृत्  
 (उ० २, ७६)’—इति अतिप्रत्ययो गुणाभावश्च चकारस्य शकाश्च  
 निपात्यते । रोचते रूचात् घर्णविशेषो ज्वलनाधिभूतप्रकाशरूपोऽ-  
 मिधीयते । यद्वा, रुशोर्हिसार्धात्तुदादेः रोचत्यर्थे घर्तमानाद्  
 शतरि । “समिद्धस्य रूचादर्शि पाजः (ऋ० सं० ३, ८, १२, २)” ॥

(५३) रिशादसः । ‘रिश हिंसायाम्’ तुदादिः । अन्तर्णी-  
 तण्यर्थः । लटः शतरि छान्दसो दीर्घः । अस्यतेर्षिच् । रिशात्  
 शत्रूणां वा असितारः क्षेतारः नाशयितार इत्यर्थः । “अस्ति हि  
 षः सजात्यं रिशादसः (ऋ० सं० ६, २, ३२, ५)” ॥

(५४) सुदत्रः । सुपूर्वात् ददानेः ष्ट्रन्, ष्ट्रिनि षादुलकान्  
 ह्रस्वत्यम् । सुदानः । “त्यष्टा सुदत्रो विदधानु रायः (ऋ० सं०  
 ५, ३, २७, २)” ॥

(५५) सुविदत्रः । सुपूर्वात् ‘विद् ज्ञाने (भदा० प०)—  
 इत्यस्मान् ‘अमियत्रिपधिपतिकलिनशिश्याऽश्नन्’—इति षादु-  
 लकादश्नन्प्रत्ययो गुणाभावश्च । सुविद्यत इत्यर्थः । “आने-  
 यामिः सुविदत्रे मिर्षाश् (ऋ० सं० ७, ६, १८, ३)” ॥

(५६) आनुगच् । अनुपूर्वात् ‘पञ्च सङ्घे (भू० प०)—  
 इत्यस्मान् ङिपि ‘अनिदिताम् (६, ४, २४)’—इति तयोप-

अनोरकारस्य दीर्घश्रृङ्खान्दसः । अनुपक्त्तमुपर्युपरि लङ्गमित्यर्थः ।

“स्तृणन्ति बर्हिरानुपक्त् ( ऋ० सं० ६, ३, ४२, २ )” ॥

(५७) तूर्णनिः । तूर्णशब्दोपपदात् घनोते: ‘इन् सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )’—इतीन् । तूर्णे घनोति सम्भजते । तूर्णघनिः ।

“स तूर्णघनिर्माहा अरेणु वींसे ( ऋ० सं० १, ४, २१, ३ )” ॥

(५८) गीर्वणाः । गीःशब्दोपपदान् घनोतेर्ष्यन्तादसुनि घनेर्घटादित्येन मित्सन्नमकत्वात् ह्रस्वत्वम् । गीर्वण इति प्राप्ते दीर्घाभावाश्रृङ्खान्दसः । निघण्टुकारपठितगीर्वाणशब्देन समानार्थः । अतो देवोऽभिधेयः । स्तोतुरभिमतप्रदानादात्मानं स्तोतृभिः सम्माजयति । भाष्ये तु ( निरु० ६, १४ ) ‘गीर्मिरेन घनयन्ति’—इत्यर्थनिर्वचनमिति स्कन्दस्वामी । धीनिवासस्तु न्यार्थे णिच् । गीर्मिरेन घनयन्ति । “जुष्टं गीर्वणमे वृहन् ( ऋ० सं० ६, ६, १२, ७ )” ॥

(५९) धर्मूर्त्तं गूर्त्तं । अनुशब्दपूर्वस्य सुशब्दपूर्वस्य च ‘ईर गूर्त्ता ( धदा० भा० )’—इत्यस्य निष्ठायां छान्दसस्यादिङ्मावे ईकारस्य पूर्वंसर्पणं पूर्वंत्र दीर्घश्रृङ्खान्दसत्वाम् । समस्येकवचनम् । अनुः प्राणः । प्राणश्च घानः । घानसर्मागिता मग्दादयो हि श्रेयाः । गूर्त्तं इति ऋजुर्मात्यस्य विशेषणम् । सुसर्मागितं सुष्टु प्रेरितं विस्तीर्णं ऋजसि भन्तगिष्टोदेऽर्पात्यर्थः । धर्मूर्त्तं गूर्त्तं ऋजसि निपत्ते ( ऋ० सं० ३, १, ७, ४ )” ॥

(६०) भाष्यम् । माराश्रुडितीपैक्यचन उपपदे भजनेः किं नकारलोपे माराश्रुस्य इदो द्रष्टव्योऽकारोपत्रनेन च भाष्यम्

आयुधाख्या शक्तिरभिधेया क्षिप्ता सर्ती मां प्रति इव गता  
यद्वा, अभिपूर्वाद्भनेः किनि अभ्यक् सर्ती भकारस्य मकारापत्य  
अभ्यक् । शत्रून् प्रत्यभिगता । यद्वा, अमाशब्दः सहाये  
निपातः । अमाक् सर्ती अभ्यक् सदृश्या । "अभ्यक् सा क  
इन्द्र ऋष्टिम्मे ( ऋ० सं० २, ४, ८, ३ )" ॥

(६१) यादृश्मिन् । यादृशो इत्यर्थः "यादृश्मिन् घायितमप-  
स्ययाचिदत् ( ऋ० मं० ४, २, २४, ३ )" ॥

(६२) जारयायि । उम्रविशेषणम् । तेन व्यत्ययेन नृपुं-  
सकत्वाद्यगमः । ततश्चोद् नाख्यातम् । जार इत्यस्य घा घानो-  
रैधम्भूतस्याख्यातम्यासम्भवात् । निघातप्रसङ्गश्च । अन्ये तु  
जनेरपत्याभिगतमाख्यातमेतदिति गम्यते । ततश्च जारयायि  
अजायतेत्यद्यगमः इत्युक्त्वा मन्त्रव्याख्याने निघातप्रसङ्गस्य  
भिन्नधाक्यत्वेन वाक्यादित्याहुदात्तप्रतिपादनेन परिहृतत्वात् ।  
अजायतेत्येव स्कन्दस्वामिनोऽप्यद्यगमः । उम्रविशेषणवादिनां  
जारश्चासौ यायीति जारयायि । गवां यौघनस्य जरयितृत्वा-  
जारत्वम् गवामभिगमनाद्वा यायित्वम् । "उम्रः पितेव जारयायि  
यज्ञैः ( ऋ० सं० ४, ५, १४, ४ )" ॥

(६३) अग्रिया । अग्रशब्दोपपदात् यातेः 'गिहेः कः ( ३, १,  
१४४ )'—इति बाहुलकात् कः । प्राकारस्येकारः । तृतीयैक-  
घचनस्याकारः । यद्वा, अग्रमर्हति 'छन्दसि च ( ५, १, ६७ )'  
—इति यप्रत्यये इकार उपजनः । अर्हार्थो घा घनि घस्य  
इयादेशो चिभक्तेराकारः । अग्रार्हा । यद्वा, अग्रा एवाग्रिया ।

अप्रभृताग्र्या । “विश्वे अग्रियोत याजाः ( ऋ० सं० ३, ७, ३, ३ )” ॥

(६४) चनः । (६५) पचता । पचतेर्ल्युट् ‘कृत्यल्युटो बहु-  
लम् (३, ३, ११३)’—इति कर्मणि ल्युटि पच्यत इति पचनम् ।  
पचनशब्दस्य पकारलोपेनान्ते सकारोपजननेन चनः । अश्रम् ।  
यद्वा, पचेरसुनि बाहुलकात् नोऽन्तादेशः । पचतेः ‘सृष्टृशिय-  
जिपचिवच्यमि’ भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)’—इति घचनात्  
भूने द्रष्टव्यः । घिमक्तेराकारः । पकः पकीं पका इति घावगमः ।  
पदान्तस्य बहुलसमर्थ्याद् विशेषनिश्चयः । “चनो दधिष्य  
पचतोत सोमम् ( ऋ० सं० ८, ६, २१, ३ )”—इति बहुवचनस्य ।  
“तम्मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम् ( निरु० ६, १६ )”—इति  
द्विवचनस्य । “पुरोला अग्ने पचतः ( ऋ० सं० ३, १, ३१, २ )”  
—इत्येकवचनस्य ॥

(६६) शुरुधः । शुरुधं दीति’ तापं धा रुधत्यः । ‘अन्येभ्योऽपि  
दृश्यन्ते (३, २, ७५)’—इति क्तिप् । शुरुधः शुरुधः । “ऋतस्य  
हि शुरुधः सन्ति पूर्वोः ( ऋ० सं० ३, ६, १०, ३ )” ॥

(६७) अमिनः । ‘माङ् माने ( अदा० प० )’ । निष्ठा कः ।  
‘पतिस्वतिमास्थाम् (७, ४, ४०)’—इति इत्थम् । मितः  
परिच्छिन्नः । न मितः अमितः सन्नमिनः अपरिमाण इत्यर्थः,  
अपरिगणितकालो धा । यद्वा, मिनोतेर्वधकर्मणः ‘इण्सिम्-  
जिडोद्दुप्यविम्यो नक् ( उ० ३, २ )’—इति बाहुलकाग्रक् ।  
नप्समासः । अमिनः अद्विसितः केनचित् । यद्वा, क एव

प्रत्ययः । अमितोऽप्यमितो वा सन् अमितः । “उत् द्विवच  
अमितः गहोमिः ( ऋ० सं० ४, १, १ )” ॥

(६८) जाभृती । जाभृतीरापो भवन्ति शब्दकागिण्य इति  
जात् । पूर्णसर्पणः । “महो जाभृतीगिण्य ( ऋ० सं० ४, ३, ६, ६ )”

(६९) अप्रतिश्रुतः । ‘श्रुत् आश्रयणे ( षा० उ० )’  
आश्रयणमागमनम् । स्वत्यनेर्गन्त्यर्थाद्व्या निष्ठा । अशोपदेशवात्  
व्यत्ययेन पञ्चम् । अन्येनाप्रतिगतः अप्रतिश्रुतः । युद्धे अन्ये  
नाप्रतिहतपूर्व इत्यर्थः अप्रतिम्व्यञ्जितपूर्वो वा । अत्र पक्षे  
स्वरलितशब्दस्य श्रुतमायः । “अस्मभ्यमप्रतिश्रुतः ( ऋ० सं०  
१, २, १४, १ )” ॥

(७०) शाशदानः । ‘शन् शान्ते ( मू० प० )’ । अस्माद्  
यद्भुगन्ताद् व्यत्ययेन शानच् । पुनः पुनरसुरांस्तनूपुराणि वा  
शाशयन्तः “प्रस्त्यां मतिमतिरच्छाशदानः ( ऋ० सं० १, ३, ३, ३ )” ॥

(७१) सृप्रः । शिप्रे इत्यत्र ( ३६२ पृ० ) सृप्रशब्दो व्याख्यातः ।  
“सृप्रकरत्नमतये ( ऋ० सं० ६, ३, २, ५ )” । सृप्रो करत्नी व  
यस्य होमेन तर्पणाय पालनाय वात्मनः सर्पिस्तैलमपि सृप्र  
सर्पणात् । निगमः पर्येष्यः ॥

(७२) सुशिप्रः । शिप्रे व्याख्याते ( ३६२ पृ० ) । शोभनत्व  
विशिष्टत्वमत्र विशेषः । सुहनुः सुनासो वा सुशिप्रः । “वां  
सुशिप्र गोमति ( ऋ० सं० ६, २, २, ३ )” । क्वचिच्छिप्रशब्दे  
शिरस्त्राणमुच्यते । शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्यवीरिति सुशिप्रः  
सुशिरस्त्राण इत्यर्थः सम्भवति ॥

(७३) रंस । रमतेर्चिच् । सप्तमीबहुवचनम् । रमणी-  
यैष्वित्यर्थः । रमणीयशब्दस्य रम्भावः । “स चित्रेण चिकिते  
रंसु भासा (ऋ० सं० २, ४, २४, ५)” ॥

(७४) द्विवर्हाः । द्विवशब्दे सप्तम्यन्ते उपपदे ‘बृहु गृह्णी  
(भू० प०) —इत्यस्मादसुन् । द्ववयोः स्थानयोर्वीर्येण परिवृद्धः  
इन्द्रः । न एतन्तस्त्रिंशे वीर्येणापरिवृद्ध शक्नोति वर्धितुं नापि  
दिवि आदित्याद्रसान् परिवृहीतुं दिवः सर्वदेवतासाधारणत्वात्  
देवराजत्वेन च प्रसिद्धिरितिहासेषु द्विवर्हा उच्यते । “उत  
द्विवर्हा अग्निः सहोमिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)” ॥

(७५) अक्रः । आङ्पूर्वात् क्रमेः ‘अन्येष्वपि दृश्यते (३, २,  
१०१) —इति ङः, आङो ह्रस्वत्वम् । आक्रामति सर्वमित्य-  
क्रमाकाशमाक्रम्यते घा । “अक्रो न यन्निः समिधे महीनाम्  
(ऋ० सं० २, ८, १५, २)” ॥

(७६) उराणः । उरु कुर्वाण इति प्राप्ते कवर्णादिलोपा-  
दिना घाक्थार्थः । उराण इति पदवचनम् । “दूत ईपसे प्रदिव  
उराणः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ३)” । स्वल्पमपि हविः उरु बहु  
कुर्वाणः । तथाच भृतिः । “यद्वै देवो जोषत हविस्तत हिमोनुं  
वर्द्धते अथोऽयमपरिमितः” — इति ॥

(७७) म्निथानाम् । स्त्यायतेः सदनार्थात् ‘अन्येष्वोऽपि  
दृश्यन्ते (३, २, ७५) —इति चिच् । इशिग्रहणस्य प्रयोगानु-  
सरणार्थत्वाभिरुपपदादपि भवति । इकार उपजनः । षष्ठी-  
चतुष्वचनम् । द्विमभावेन संहता आप उच्यन्ते । “घृणा सिन्धू



नां वृषभः स्तियानाम् (ऋ० सं० ४, ७, २०, १) ॥

(७८) स्तिपाः । स्तियाः पार्तीति विच् । स्तियापाः स्तिपाः । यद्वा, उपस्थितपाः सन् अनेकघर्णलोपादिना स्तियाभस्मिन्मुच्यते । स ह्याहुतिद्वारेण पालयिता, अङ्गुभाषीपगमते चोपस्थितानां कर्त्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम् । “स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः (ऋ० सं० ८, २, १६, ४)” ॥

(७९) जघार । जघमद्विर्जरमद्विर्गरेषद्विर्षा रश्मिमिर्यदारोहति तदादित्यमण्डलमुच्यते । जघमज्जरमदुगरमच्छब्दानां जघभाषः, आङ्पूर्वाद्बुहेश्च दुप्रत्ययो निपात्यते । “अग्रे रूप आरुपितं जघार (ऋ० सं० ३, ५, २, २)” ॥

(८०) जरूथम् । शृणातेः स्तुतिकर्मणो जरतेर्वाचतिकर्मणः जृ वृषो रुथन्—इति भावे कारणे वा रुथन् । वाहुलकाद्गकारस्य जकारः । स्तवनं स्तूयतेऽनेनेति वा जरूथं स्तोत्रम् । “जरूथं हन्यश्चि राये पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)” ॥

(८१) कुलिशः । वज्रनामसु व्याख्यातम् ( २६७ पृ० ) । स निगमः ( ऋ० सं० १, २, ३६, ५ ) ॥

(८२) तुञ्जः । तुञ्जनेर्दानकर्मणो भावे घञ् । दानमित्यर्थः “तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे ( ऋ० सं० १, १, १४, २ )” । वज्रोऽपि तुञ्ज स्तत्रेय व्याख्यातः ॥

(८३) वर्धना । वृद्धेर्दुभ्यर्थस्य ‘वृत्पत्युटो वजुल् ( ३, ११३ )’—इति भूने कर्त्तरि ल्युट् । परिकृष्टः । दित्ताकर्मणो

षा भावे । हिंसा यर्हणा । तृतीयैकपचनस्थाने डादेशः ।

“वृद्धच्छया असुरो यर्हणा कृतः ( ऋ० सं० १, ४, १७, ३ )” ॥

(८४) ततनुष्टिम् । ‘तनिमृद्भ्यां किय ( उ० ३, ८५ )’—  
इति मनोतेः तन्प्रत्ययः, नुदेर्निष्ठायां नुप्रं नुष्टिमाचः । यद्वा,  
ततशब्दस्य ततन्माचः, षशोर्वाः यादुलफात् फर्तरि क्तिञ्चि  
सम्प्रसारणे उष्टिः । तद्धर्मसन्तानाद्दिशिहोत्रादेः कर्मणो नुप्रः  
प्रेरितः ततन् भोगसन्तानं षष्टि ततनुष्टिः, नलोपाभावात् । ततनु-  
ष्टिम् । “अपाप शक्स्ततनुष्टिमृदति ( ऋ० सं० ४, २, ३, ३ )” ॥

(८५) इलाशिराः । इलाशब्द उखाशब्दपर्यायः । इला अक्षम्,  
अत्राग्रहेतुभूते उदके वर्तते । विले दरे शेते इति ‘अधिकरणे  
शेतेः ( ३, २, १५ )’—इत्यच् । इलाविले शयो यस्य । निपात-  
शब्दादसः । मेष उच्यते । इलाविलशयः सन् इलीशिराः ।  
“न्याविध्यदिलीशिरास्य ह्रस्वहा ( ऋ० सं० १, ३, ३, २ )” ॥

(८६) कियेधाः । कियच्छब्दे क्रममाणशब्दे षोपपदे दधा-  
तेर्विच् । कियदर्धं विश्रायमानपरिमाणं स्वचलं धारयति,  
क्रममाणं चाभिमुखं परचलं धारयति निरुणद्धीति । कियद्धा  
क्रममाणधा या सन् कियेधाः । इन्द्रविशेषः । “वृत्राय वज्र-  
मीशानः कियेधाः ( ऋ० सं० १, ४, २६, २ )” ॥

(८७) भूमिः । ‘भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च ( उ० ४, ११७ )’—  
इतीन्प्रत्ययः । अग्निदृश्यते । भूमिता । स्वयं त्रिप्यपि लोके-  
ष्यप्रतिहतगतिरित्यर्थः । अन्तर्णीतप्यर्थो वा भ्रमिः । भ्राम-  
यिता । “मृमिरस्यृपिहृन्मर्त्यानाम् ( ऋ० सं० १, २, ३५, १ )” ॥

(८८) विष्णितः । विष्णित्वाद्भ्य विष्णित्वाच्च । य  
विष्णित्वाच्चर्गात् नः, इकारपदानुपत्तौ । विष्णीर्ण इत्यर्थः  
“पारं मो भस्य विष्णित्वाच्च पर्यन् ( ऋ० सं० ५, ५, २, १ )” ॥

(८९) नुर्गोपम् । नुर्गोप्यात् शील्यस्य गितिः । नुर्गोपि  
सन् नुर्गोपम् । उदकमभिधेयम् । “तत्र न्नुर्गोपमदुतम् ( ऋ०  
सं० २, २, ११, ४ )” ॥

(९०) रास्पितः । रपनेर्षा रमनेर्षा कर्मणि भावे वा घञ् ।  
गपो रासो वा शब्दा यस्य तद्रापि रासि वा सन् सकारपकारो-  
पजननेन रास्पिशब्दो बहुदकं स्तोत्रं योच्यते । तदस्यार्त्तात्पर्यं  
आदित्यादच् प्रकृतिभायश्च द्रष्टव्यः । दृष्टिमतो शालेति यथा ।  
अतश्च शब्दबहुदकं तद्वान्मेधोऽभिधेयः । उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण  
स्तोता वा । “प्रमातरा रास्पिनस्यायोः ( ऋ० सं० २, १, १, ४ )” ॥

(९१) ऋञ्जतिः । धातुनिर्देशान् ‘ऋञ्जी भर्जने’ भूधादित्र  
प्रसाधनकर्मविषयस्य समोकरणं प्रसाधनमात्मसान् करणं तद-  
स्येत्यर्थः । “यज्ञिष्ठृञ्जसे गिरा ( ऋ० सं० ३, ५, ८, १ )” ॥

(९२) ऋञ्जुनीती । “ऋञ्जुनीती नो धरुणः ( ऋ० सं० १, ६,  
१७, १ )” ॥

(९३) प्रतद्वसू । प्राप्तवसुर्नौ । पकारलोपह्रस्वत्वतकारो-  
पजनैः प्रतद्वसू । हरो विशेष्यौ । “हरो इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर  
( ऋ० सं० ६, १, १२, २ )” ॥

(९४) द्विनोत् । ‘हि गतो ( स्वा० प० )’ । लोटि यस्य  
ः छन्दस्युभयथा ( ३, ४, ११७ )—इत्यार्द्धधातुकत्वात् द्वित्वा-

भावे गुणः ग्रहिणुत्यर्थः । “हिनोता नो अध्वरं देवयज्या ( ऋ० सं० ७, ७, २६, १ )” ॥

(६५) चोष्कृत्यमाणः । (६६) चोष्कृत्यते । ‘ष्कुञ् आग्र-  
यणे ( स्या० उ० )’ इह दानार्थः, कचिद् व्युदसनार्थश्च । यङि-  
पूर्वत्र लट् शानच्, उत्तरत्र व्यत्ययेन पत्वम् । “चोष्कृत्यमाण  
इन्द्र भूरिधामम् ( ऋ० सं० १, ३, १, ३ ) । अत्यर्थं दददित्यर्थः ।  
“चोष्कृत्यते विश इन्द्रो मनुष्यान् ( ऋ० सं० ४, ७, ३३, १ )” ।  
अत्यर्थं व्युदस्यति ॥

(६७) सुमत । स्वमित्यर्थे वर्तमानो निपातः । “उपप्रा-  
गान् सुमत्मे धायि मग्म ( ऋ० सं० २, ३, ८, २ )” ॥

(६८) दिविष्टिषु । दिविशब्दोपपदान् इयेर्गत्यर्थादिच्छा-  
र्षाढा करणे तित् । दीर्गम्यते प्रार्थ्यते वा याभिस्ताः । “कुष्ट-  
ङ्गम्य दिविष्टिषु ( ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४ )” ॥

(६९) दृतः । ज्वतेर्द्रपतेर्षारयतेर्षा ‘इतनिभ्याम् ( उ० ३,  
८३, ८५ )’—इति षादुलकान् सप्रत्ययो धानूनां दृमायश्च ।  
गच्छति हि सः, द्रयते वा शीघ्र्यान्, पारयति हि स्वसामर्थ्यादि-  
भिष्परम् । “स्तोमो दृतोद्गु पभ्रवा ( ऋ० सं० ६, २, २६, १ )” ॥

(१००) जिग्यति । त्रिविः प्रीणात्यर्थः भूवादः इदित्वान्तुम् ।  
“भूमिं पशंन्या जिग्यन्ति ( ऋ० सं० २, ३, २३, ५ )” ॥

(१०१) भमत्रः । भमात्रशब्दस्य ह्रस्वः । मात्रा परिमाण-  
मपरिमाणोऽभ्यमितो वा अहितितः । मित्रशब्दस्य मत्रभाषः ।  
महो भमत्रो गृजने विग्पूरी ( ऋ० सं० ३, २, १६, ४ )” ॥

(१०२) ऋचीपमः । ऋच स्तुती ( तु० प० ) । इत्ययं  
 'हृदिकारात् ( ४, १, ४५ ग० घा० )'—इति डीर् । ऋच  
 स्तुतिः । तथा समः । अधिकगुणाध्यारोपेणापि हृता स्तुति  
 नातिरिच्यत इत्यर्थः । "स्तथे षड्भृचीपमः ( ऋ० सं० ७, ३,  
 ६, २ )" ॥

(१०३) अनशंरातिम् । अशंशब्दोऽश्लीलवाची । रातेः  
 क्तिनि रातिर्दानम् । अश्लीलविषया रातिर्दानं यस्य सोऽशंरातिः  
 पापकदानस्तद्विषयरीतोऽनशंरातिः । उत्कृष्टस्य दातेत्यर्थः ।  
 "अनशंरातिं वसुदामुपस्तुहि ( ऋ० सं० ६, ७, ३, ४ )" ॥

(१०४) अनर्घा । अर्त्तेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ५५ )'  
 —इति घनिप् । नञ्समासः । 'अर्घणस्रसाचनञः ( ६, ४, १२७ )'  
 —इति शतृवद्वावाभावः । अप्रत्यृतः अप्रतिगतोऽप्यस्मिन्  
 अन्यमनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः । "अनर्घाणं धृषमं मन्द्रजिह्वम्  
 ( ऋ० सं० २, ५, १२, १ )" । अनर्घाणमप्रतिगतमन्यं प्रत्याश्रितं  
 तथा अपराश्रितमित्यर्थः ॥

(१०५) असामि । असामीत्यनपगतम् । अघ्रे च सामि-  
 शब्द एषानपगतः । यत आह—'सामि प्रतिविद्धम् असामि  
 ( निद० ६, २३ )'—इति । सामि कस्मान् । सानेः समाप्त्यर्थ-  
 म्येति केचिन् । तेन सामि समामं चोच्यते । तस्य नञ्प्रति-  
 रोपः । ततश्च असामि असमाप्तमित्यर्थः । अथवा न सामीति ।  
 किलर्हि । अमुसमाप्तमिति । पाठान्तरेणार्थमाह उदाहरणम्  
 निद० ६, २३ )—"असाम्योऽग्रे विभृषा मुदानयः ( ऋ० सं० १,

३, १६, ५) । असामि असमात्तमनन्तमित्यर्थः । सुष्टु वा असमात् पूर्ववदित्यर्थः । 'स्यतेः कित्'—इति षाङ्गुलकात् मिन्प्रत्ययः । साम्यर्थधर्मतामितसमप्रमित्यस्य भाष्ये (नि० ६, २३) द्रष्टव्यम् ॥

(१०६) गल्दया । गल्दाशब्दो गालनपर्यायः । गल्दया गालनेन क्षारणेन प्रदानेन पूरणेन तुमेनेत्यर्थः । “मा त्या सोमस्य गल्दया ( ऋ० सं० ५, ७, १३, ५ )” ॥

(१०७) जल्हवः । ज्वलतेः क्विप् ज्वलनं ज्वल्, ज्वलन् जहर्तीति 'सृगृवाद्यश्च ( उ० १, २६ )'—इति कुप्रत्ययः पूर्व-पदस्य जल्भावश्च निपात्यते । ज्वलनेनाग्निना हीना इत्यर्थः । “नारायासो न जल्हवः ( ऋ० सं० ६, ४, ३७, ६ )” ॥

(१०८) यकुरः । भास्करशब्दस्य भासमानद्रविणशब्दस्य वा यकुरभावः । “अमि दस्युं यकुरेणाधमन्त ( ऋ० सं० १, ८, १७, १ )” । यकुरेण भास्करेण दीप्तेन भयङ्कुरेण वा भासमान-गमनेन वा सामर्थ्यात् खेनायुधेन उयोतिषा वा ॥

(१०९) वेकनाटाः । वेक इति द्विशब्दस्यार्थं चतुशो दृष्टः । एकं कार्यापणमापणिकाय प्रयच्छन् ह्यै मया' प्रदातव्याचित्त्यैवम-मिनायनं दर्शयन्ति । सतो द्विशब्दादेकशब्दाघटयतेश्च वेकनाटाः । एतदेतेनाटाः द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति वेति । ह्येकयोर्नाटा नटनं तद्वचन्तो वेकनाटाः । मत्यर्थीयस्य लुक् । नटैर्घनि नाटः । ह्येकशब्दस्य वेकभावः । षाङ्गुलिका धमिधेयाः । “इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृशः ( ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५ )” ॥

(११०) अभिघेनन । घाघनेर्लोष्मज्यामपुष्पयदुयवनम्  
 'तमनमनभनाश्च (७, १, ४०)'—इति तनपादेशः । घाघरत्तद्म  
 घेमापः । अभिघायन । "जीषाज्ञो अभिघेनन (ऋ० सं० ६,  
 ४, ५१, ५)" ॥

(१११) अंहुरः । आहपूर्वाद्भन्तेः मृगप्यादिग्यान् (उ० १,  
 ३६) कुप्रत्ययः । आहो हम्भत्यं रगागमश्च निपात्यते । अ  
 दन्ति श्रेयसो विनश्यन्तीति अंहः पापं, रो मन्पर्योयः अंहुरः ।  
 अंह्र्यान् । "तासामेकामिदम्यंहुरोगान् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)" ॥

(११२) यनः । सत्वयान्ना प्रथमान्नः । यन्नादनील इति  
 घाक्यम्यार्ये पदम् । यन्नाद्नादनेर्निष्ठायां च यन्नादीञ् सत्  
 यनः दुर्यल इत्यर्थः । यन निपातोऽसत्वयवर्नाऽप्ययन्, तेरो  
 दुःखमानसः, अनुकम्पा दया, तयोर्वर्त्तते । "यनो यातासि यम  
 नैव ते मनः (ऋ० सं० ७, ६, ८, ३)" ॥

(११३) घाताप्यम् । आहपूर्वादाप्यायतेरन्तर्णीतप्यर्थात्  
 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यपिशब्दस्य सर्वोपाधिब्यनि-  
 चारार्थत्वात् कर्मणि ङः । उदकं वृष्टिलक्षणमभिघेयम् । वरु  
 पुरोघात एव । तन्वृष्ट्युदकमाप्याययति घानेनाप्याप्य  
 इत्यर्थः । अथवा घातो यदाप्याययति कर्मोपपदान् कर्त्तरि  
 प्रत्ययः । घातमाप्याययति घाताप्यम् । "पुनानो घाताप्यं  
 विश्वधन्द्रम् (ऋ० सं० ७, ४, ३, ५)" ॥

(११४) चाकन् । चायतेः स्वरित्तेच्चाहृष्टः शतरि यकारस्य  
 ककारो घाहुलकात् । अनेकार्थत्वादिच्छार्थोऽपि । - चायन्

अप्यमानो घा । “वने न घायो न्यधायि चाकन् ( ऋ० सं० १, ७, २२, १ )” ॥ शाकल्यपक्षे चाकन्नित्याख्यातम् । तत्र ऋटि क्तिरस्य कत्वं ‘यद्दुलं छन्दस्यमाङ्ग्योगेऽपि (६, ४, ७५)’ । कामयते इत्यर्थः ॥

(११५) रथर्वति । रथमात्मन इच्छतीति क्वचि रथीयतीति प्राप्ते रेफ उपजनो व्यवधानादीत्वाभावः । “ए प दैवो रथर्वति ( ऋ० सं० ६, ७, २०, ५ )” ॥

(११६) असक्राम् । सम्पर्वात् समानपूर्वाद्वा क्रमेः ‘जन-सकमगमो विट् (३, २, ६७)’ । छन्दस्युपसर्गेऽपि इति हि तत्रानुवर्त्तते । ‘विड्वनोरनुनासिकः स्यात् (६, ४, ४१)’ । आतो लोपश्छान्दसः । समानस्य छन्दस्यमूर्द्धः (६, ३, ४)—इति समानशब्दस्य सभावः । न सक्रा असक्रा तां यावज्जीवमनपा-यिनीमस्मत्सजातेरप्राप्तपूर्वामित्यर्थः । “घेनुं न इपं पिन्वतमसक्राम् ( ऋ० सं० ५, १, ४, ३ )” ॥

(११७) आधवः । ‘धूम् कम्पने ( स्या० ५० )’ । एचाद्यच् । अन्तर्णीतण्यर्थोऽत्र धूम् । आधावकः । कम्पयितेत्यर्थः । “विप्रा-णाञ्चाधवम् ( ऋ० सं० ७, ७, १३, ४ )” ॥

(११८) अनवग्रवः । व्रूप्रः । ‘ऋदोरप् (३, ३, ५७)’ । ‘छन्द-स्युमयथा (३, ४, ११७)’—इत्यपः सार्वधातुकत्वाद् घञ्यादेशो न भवति । ग्रवः घृचनम् । अनवक्षितवचनः । ‘प्रादिभ्यो धातुजस्य (१, ४, ७६, घा०)’—इति समासादिः । अप्रतिहतशासन इत्यर्थः । “विजेपंहदिन्द्र इवानवग्रवः ( ऋ० सं० ८, ३, १६, ५ )” ॥



(११६) सदान्वे । सदानोनुवशब्दात् सम्बुद्धौ नोनुवशब्दस्य  
 न्वभावः । दुर्मिक्षाधिदेवता अलक्ष्मी चामिधेया । सदाकर  
 णतलक्षणशब्दकारिणीत्यर्थः । “गिरिङ्गच्छ सदान्वे ( ऋ० सं०  
 ८, ८, १३, १ )” ॥

(१२०) शिरिन्विठः । “शिरिन्विठस्य सत्वमिः ( ऋ० सं०  
 ८, ८, १३, १ )” ॥

(१२१) पराशरः । परापूर्वस्य शृणातेः विशरणार्थस्य  
 हिंसार्थस्य वा ‘ऋदोरप् (३, ३, ५७)’—इति रूपम् । पराशीर्णः  
 पराशरः कृषिः । पराशीर्णस्य स्थविरस्य लघिष्ठस्य नमा  
 चिरकृते शर्त्ता जात इत्यर्थः । “पराशरः शतयानुर्यसिष्ठः ( ऋ०  
 सं० ५, २, २८, १ )” । रक्षसां परा शातयिता पराशर इन्द्रः ।  
 “इन्द्रो यानूनामभवन् पराशरः ( ऋ० सं० ५, ७, ६, १ )” ॥

(१२२) क्रिचिर्दती । ‘कृचिचुचिच्छुचिष्यचिक्रिकीदिवि ( उ०  
 ४, ५६ )’—इति चित्प्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यते । ददानेः  
 शतरि ‘यदुलं छन्दसि (२, ४, ७३)’—इति शपो लुक् । ‘उगितथ  
 ( ४, १, ६ )’—इति डीप् । क्रियेर्विकर्त्तनस्य दती । रेफ  
 उपजनः । शतप्र्यामायुधविशेषे वर्त्तने । “यत्रा षो दियुद्रदति  
 क्रिचिर्दती ( ऋ० सं० २, ४, २, १ )” ॥

(१२३) ककलती । कृसदन्तशब्दस्य ककलतीमायः । ‘गुणो  
 सुलुक् (३, १, ३६)’—इति गोलुक् । ल्पीलिङ्गप्रतिष्ठाकर्मणम् ।  
 ‘मत्कः ( निद० ६, ३१ )’—इति गुंलिङ्गनिर्देशान्, पूगोध्यत इति  
 निधायः । मग इति पूर्यः पक्षः । सम्मान् ‘अदन्तकः पूरा

शत० धा० ८, ७३ )—इति च श्रुतिः । “धामं देवः करुलती  
 ऋ० सं० ३, ६, २३, ४ )” ॥

(१२४) दानः । दानमानस इत्यस्य दानस्भावः । दानमानस  
 न्यर्थः । “दानो विश इन्द्र मृधवाचः ( ऋ० सं० २, ४, १६, २ )” ॥

(१२५) शरारुः । समुपसर्गार्थविशिष्टात् शृणातेः ‘शृवन्यो-  
 णः (३, २, १७३)’—इति ताच्छील्यादिषु विहित आरुह्यत्ययेन  
 ल्यायां भवति । “शरारुभिमन्यते ( ऋ० सं० ८, ४, २, ४ )” ।  
 संशिशरिषुः संशयिषुर्वा दीर्घनिद्रया हि मन्यते दुष्टेनातिशयेन  
 हि भवति ॥

(१२६) इदंयुः । इत्यनवगतम् । क्वचि मान्ताव्ययप्रति-  
 पेधात् । ‘इदं कामयमान उच्यते ( निरु० ६, ३१ )’ । कर्म इदं  
 सामान्येन प्रदर्शितम् । तथाहि लक्षितं धनादि तद् य इच्छति  
 स इदंयुः । शंयुः कियुः विप्रयुः इत्याद्यवगतानवगतस्वजन्तमाश्रो-  
 पसद्प्रहाथं निगमेषु पठितम्, न विशेषार्थमिति निरुक्तकारामि-  
 प्रायः । अतएव च सामान्यविशेषयोर्द्विधाहरणमिदम् । तेषाञ्च  
 “पसूयवो वसुकामाः”—इत्यादि बहुधागतत्वाद् विशेषेण नेह  
 किञ्चिन् भाष्यकारेणोदाहरणम् । अनेकार्थतां दर्शयन्नाह—‘अद्यापि  
 तद्वदर्थं भाष्यते ( निरु० ६, ३१ )’ प्रयुज्यत इत्यर्थः । तद्वदिति  
 मनुप्रकृतिः सामान्येन निर्दिश्यते । तेन तद्वदर्थं मत्वर्थं इत्यर्थः ।  
 “अश्वयुर्गं व्यूरध्वंसूयुग्निः ( ऋ० सं० ३, ४, ११, ४ )” ॥

(१२७) कीकटेषु । मन्त्रे सप्तम्यन्त इति तथैष निगमेषु  
 पश्यते । किं कृताः । किं क्रिया वा सन्तः कीकटाः किं कृताः

किमर्थमुत्पादिताः भसदाचाराः । भयवा यागज्ञानादिभिः  
क्रियाभिः कृताभिः पियत ग्वाद्नेत्येवमभिप्राया नेह वैरां ते  
किंकियाः । “किन्ते कृण्यन्ति कीकटेषु गावः ( ऋ० सं० ३,  
३, २१, ४ )” । कीकटनाम्यनार्थनिधासे देशे । कृपणा वा  
कीकटाः ॥

(१२८) बुन्दः । (१२९) वृन्दम् । भिन्द इति वा भयद्  
इति वा भासमानो द्रवतीति वाक्वार्थपदवचनं विदारणभयदान-  
भासमानद्रवणलक्षणानामर्थेषु सम्भवान् पदलक्षणवर्णसामान्या-  
द्येदमुक्तम् । ‘वृङ् सम्भर्ता ( स्वा० आ० )’ । ‘भूतुसुबुभ्यो  
दन्वृच्’—इति दन्वृच्प्रत्ययः । यवयोरभेदः । बाहुलकात् लुग-  
भावश्च । अनेकार्थत्वात् पूर्वोक्तार्थवृत्तित्वं योद्धव्यम् । बुन्दो  
पत्रम् । “साधुर्युन्दो हिरण्ययः ( ऋ० सं० ६, ५, ३०, ६ )” ।  
“इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ( ऋ० सं० ६, ५, ३०, १ )” ॥

बुन्देषु शत्रुविदारणभयदारणभयदानभासमानद्रवणरूपा अर्थाः  
सम्भवन्ति । प्रसिद्धत्याग्निगमो न प्रदर्शितः ॥

(१३०) किः । करोतेः ‘वेभ्रो घयिः’—इति बाहुलकात् इन्-  
प्रत्ययः । कर्त्तृत्वर्थः । “अयं यो होता किर स यमस्य ( ऋ०  
सं० ८, १, १२, ३ )” ॥

(१३१) उल्वम् । उणोतिवृणोतेर्वा । ‘अलिशल्लोरित उथ’—  
इति विधियमानो यप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, प्रवृत्तेरुल्भावश्च ।  
गर्भस्याच्छादनमभिधेयम् । “महत्तदुल्वंस्थयिरः तदार्सात् ( ऋ०  
सं० ८, १, १०, १ )” । जरायोरुत्तर्गर्भवेष्टनं श्रुतम् ॥

(१३२) श्रुयीसम् । पृथ्वीव्यभिचेयम् । अपगतभासमित्येष-  
 तायाः ( निरु० ६, ३५ ) शब्दसमाधय उत्पद्यन्ते । धात्वन्य-  
 चकृतो विशेषः । अपगतापचितापहतान्तर्हितशब्दानामन्यतमत्  
 पूर्वपदं भासशब्द उत्तरपदम् । पूर्वस्य ऋभावः, अकारस्य  
 वकार आकारस्य ईकारश्च ॥ “ऋवांसे अत्रिमश्चिनाचर्नातम्  
 (सु० सं० १, ८, ६, ३)” ॥

अध्यायपरिसमाप्तिकं द्विर्वचनम् ॥

इति देवराजपञ्चरचिते नैगमकाण्डनिर्वचनं समाप्तम् ॥

समाप्तश्च चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।



अपि देवताकाण्डनिर्वचनं व्याख्यायते—

अग्निः (१) । जातवेदाः (२) । वैश्वानरः (३)

इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥

(१) अग्निः । अप्राण्युपपदात् नयतेः ‘सत्सूद्विषय (३, २, ६१)’  
 इत्यादिना क्त् । पृथोदरादित्वात् अग्निः । यदुवा, धेप्रो  
 षयिः—इति घाङ्गुलकादिनप्रत्ययोऽप्रशब्दस्य रेकाकारयोर्लोपश्च ।

अग्रणीः । मुख्यत्यञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः ।  
 अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते । अङ्गोपपदादुवा  
 समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च । अङ्गं शरीरं यज्ञस्य,  
 ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्विभिवन् हविषां पाककरणत्येन  
 साधनभावं प्रतिपाद्यमानो नयति । नञ्पूर्वात् क्रोपयतेः स्नेहनार्थात्  
 किन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च ।  
 नञ्विशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विषयपरीतं विरूक्षणञ्च लक्ष्यते, विरू-  
 क्षयतीत्यर्थः, दग्धयस्य एधादेः शोषणात् विरूक्षण इत्यर्थः ।  
 यदुवा, एतेर्यनमित्यादी दर्शनादकारः । अञ्जोर्जकारस्य दहेर्ह-  
 कारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्माद्  
 कारः, नयतेः पूर्ववग्निः । इतश्च अञ्जनमभिव्यक्तं घसुप्रकाराकत्या-  
 त्मकत्वेन षा नयतीत्यग्निः । "अग्निमीळे पुरोहितं (श० सं०  
 १, १, १, १)" ॥

(२) जातयेदाः । जातशब्दोपपदात् वित्तेर्विदेर्विनारार्थाद्वा-  
 भगुन्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालत्वात् । जाते  
 जाते सर्वेभ्यन् भूतजाने विद्यते । जातं वेदो हविर्लक्षणं  
 धनमैश्वर्यादि एतदुवा यस्य सः । जातं वेदो विनारणं यस्य,  
 यैश्वर्यरविद्ययापि च एतद्विनार इत्यर्थः । जातमात्र एव  
 विद्योत्तने प्रज्ञानम्यभायत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा भगव्य ।  
 "प्रनूनं जातयेदगम् (श० सं० ८, ८, ४५, १)" ॥

(३) यैश्वर्यः । विश्वान् मरान् इतो लोकान् लोकान्तां  
 नयति । इदमर्थेन विश्वानराणां तैन्त्येन राग्यत्तमे वा कर्मात्-

श्वेतृत्वेन सम्पादिनोऽस्य वैश्वानरः । 'अन्वेषामपि दृश्यते  
(सं० १, १३७)—इति दीर्घः । अपि वा विश्वान् जन्तून् भरः ।  
'श्व गती'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पञ्चाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक् ।  
सर्गाणि भूतान्यरः प्रत्यृतः प्रतिगतः प्रविष्टति विश्वानरः प्राणः ।  
नेन जन्यमानत्वात्तस्यापत्यं वैश्वानरः । 'प्राणाद्वि बलान्मध्यमानो  
द्वि जायते'—इति ब्राह्मणम् । "वैश्वानरस्य सुमती स्याम (ऋ०  
सं० १, ७, ६, १)" ॥

द्रविणोदाः(१) । इध्मः(२) । तनूनपात्(३) ।  
नराशंसः(४) । इलः(५) । वर्हिः(६) । द्वारः  
(७) । उपासानक्ता(८) । देव्याहोतारा(९) ।  
तिस्रोदेवीः(१०) । त्वष्टा(११) । वनस्पतिः  
(१२) । स्वाहाकृतयः(१३) । इति त्रयोदश  
पदानि ॥ २ ॥

(१) द्रविणोदाः । द्रविणशब्दो ध्याम्यातो धननामत्वेन  
(२४३ पृ०) । तस्य सकार उपजनः । ददानिरादुनि बाहुन्-  
कादाकारलोपः । धनस्य बलस्य वा दाता द्रविणोदाः ।  
'द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३) । अनुयाजत्रैंगु  
सकारलोपो द्रष्टव्यः ॥

(२) इध्मः । 'त्रि इर्धा दीर्घो (भू० उ०)' । इध्मनेऽनेना-  
भिरिति इध्मः यज्ञे ध्म । समिध्यत इत्यस्मि मग्नेः समिध्यत्यम् ।  
उपलक्ष्याम धेध्मः । "ममिदो अथ मुनयो दुरोणे (ऋ० सं०  
८, ६, ८, १)" ॥

(३) तनूनपान् । नपाच्छब्दोऽपत्यनामसु व्याख्यातः (१३१ पृ०) ।  
इह पात्रे घर्तते । यज्ञा, नुनशब्दस्य नपादुभायः । पुत्रापेक्षया  
नीचैः सुतरां नुनो हि पात्रः । तनोनेः 'हभृशीतृचरित्सरित्तनिघ-  
निमसृजिम्य ऊः' । तन्वन्त्यस्यां पयआदिभोगाः इति तनूः  
गोनाम । अस्याः पयो जायते । पयस आउयमिति । आउयं  
तनूनपात् । अथवा तता अन्तरिक्षे इति तत्त्वः व्यापः । ताम्य  
ओषधिवनस्पतयो जायन्ते । ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायते  
इति । अग्निस्तनूनपान् । "तनूनपात्प्रथ ऋतस्य यानात् (ऋ० सं०  
८, ६, ८, २)" ॥

(४) नराशंसः । नरैः ऋत्विग्भिः शस्यतेऽस्मिन् 'अन्येषामपि  
दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः । यज्ञ उच्यते । नरैः प्रशस्यते  
स्तूयते इत्यग्निः । 'नराशंसस्य महिमानमेवाम् (ऋ० सं०  
५, २, १, २)" ॥

(५) इलः । इलाशब्दो व्याख्यातः पृथिवीनामसु (३४ पृ०)  
आजुह्वान ईड्यो वन्धश्च (ऋ० सं० ८, ६, ८, ३)" ॥ "होतारमिलः  
यमं यजत्यो (ऋ० सं० २, ८, २२, ३)" ॥

(६) बर्हिः । व्याख्यातं महन्नामसु (३१३ पृ०) । बर्हिरे-  
... । यदुषा, 'बृही उच्यते (भू० पृ०)'—इत्यस्मा-

दिसिः । पयोरभेदादुक्तम् । अग्निपक्षे परिवृद्धत्वाद् यर्हिः ।

\*भार्वाणं यर्हिः प्रदिशा पृथिव्या (ऋ० सं० ८, ६, ८, ४)" ॥

(३) दुवारः । जघनेर्द्रवतेर्षा गतिकर्मणः पारयतेर्षा म्यात् ।  
जघनेर्जकारस्य द्कारः, द्रघनेः रैफलोपः, पारयतेरिडागमश्च  
नियाननात् । गम्यन्ते ह्याभिर्यञ्जृहम्, अनभिमतो हि तास्वेव  
नियार्यते । अग्निपक्षे, ज्वाला आगम्यन्ते आभिः, शीतादिनि-  
वारणम् । "देवी दुवारो वृहतीर्विज्यमिन्वा (ऋ० सं० ८,  
६, ८, ५)" ।

(४) उपासानका । 'उच्छ्री विवासे (भू० प०)' 'चश  
कान्तौ (अदा० प०)' —'इविरञ्जिमृशुम्यः किन्'—इति याहु-  
लकाच्छकारस्य शकारस्य वा षकारः । 'प्रहिज्या (६, १, १६)'  
—इति सम्प्रसारणम् । उच्छति कान्ता वा उपा । नक्षत्रादौ  
रात्रिचनः । 'उपासोपसः (६, ३, ३१)'—इति उपसादेशः ।  
द्विवचनम्याकारः । अग्निपक्षे, उपा दीप्तिः, तमसो विवासनात्,  
आहुतिस्तद्युक्ता अनक्ष्यग्निमिति । "उपासानका सदतां नियोनी  
(ऋ० सं० ८, ६, ८, ६)" ॥

(६) दैव्याहोतारा । उभयत्राकारो द्विवचनस्य । आह्वतारो  
देवानाम् । पार्थिवमध्यमावज्ञो उच्येते । "दैव्याहोतारा प्रथमा  
सुवाचा (ऋ० सं० ८, ६, ६, १)" ॥

(१०) तिस्रोदेवीः । प्रथमार्थे द्वितीया । भारतीलासर-  
स्वत्यः । अग्नायी पृथिवीलिति स्त्रियः इति प्रत्यक्षेण पठिताया  
अपि तिस्रोदेव्यः इति सामान्येन पाठात् पृथिवीस्थानं भाष्य-



कारेण ज्ञापितम् । सरस्वती मध्यमस्थाना । “आनो यज्ञं भारतीः  
( ऋ० सं० ८, ६, ६, २ )”—इति निगमः ॥

(११) त्वष्टा । तूर्णशब्दोपपदादश्रोतेस्तृन्निपात्यते । त्वष्टा  
मध्यमस्थानः । आप्रीत्यादिह समासतः । तूर्णश्रुते पायु-  
रूपत्वात् । त्विपेदेधतायामकारश्चोपधाया अनित्त्वञ्चेति वा  
दीतो ह्यसौ वैधृतत्वात् । त्वष्टा पूर्ववन्निपातनम् । अग्निपक्षे-  
ऽप्युपपद्यन्ते निर्वचनानि । “देवं त्वष्टारमिह यक्षि विदुवान्  
( ऋ० सं० ८, ६, ६, ३ )” । “उभे त्वष्टुर्विम्यतुर्जायमानान्  
( ऋ० सं० १, ७, १, ५ )” ॥

(१२) धनस्पतिः । धनानां पाता । धन्यते सेज्यते इति धनम् ।  
पुंसि सभ्रज्ञायां घः ( ३, ३, ११८ ) । पतिशब्दो व्याख्यात  
“ईश्वरनामसु ( ३०० पृ० ) । अग्निरन्तरन्नुप्रविष्टोऽपि यतो न  
रहति अतः पातेति ध्यपदिश्यते । पिबते वैतद्वृषम् । यूपपक्षे  
धनस्पतिविकारत्वाद् धनस्पतिः । पारस्करादिस्थात् गुद् ( ६,  
१, १५७ ) । “धनस्पतिः शमिता देवो अग्निः ( ऋ० सं० ८, ६, १,  
१० )” । “धनस्पते मधुना दीथ्येन ( ऋ० सं० ३, १, ३, १ )” ॥

(१३) स्याहावृतयः । स्याहावृत्तशब्दो व्याख्यातो वाङ्नामसु  
( १०१ पृ० ) । अत्र स्मरणार्थमुक्तमस्य प्रयागस्य वक्ष्यमाणदेवता-  
वृत्तान्तपरम्परात्, स्याहावृत्तस्यैव पूर्वं कतिपयागुधारणं वा  
स्मिन्वक्ष्यमाणदेवतानां ताः स्याहावृतय उच्यन्ते । “स्याहावृत्तं  
विरदन्तु देवाः ( ऋ० सं० ८, ६, १, ५ )” । “स्याहावृत्तान्  
यने ( ऋ० सं० २, ५, १, ६ )” ॥



(२) शकुनिः । शकेः-किपि शक् । उग्रयनेः 'शेभ्रां डिन्'—इति शाकुलकात् द्विदिनप्रत्यये उदम्नलोपः । शक्रोत्युग्ने-

नुमान्मान शकुनिः ककारस्य जशन्व्यामायः । शक्रोत्युग्रयनादि-  
प्रियाः कर्त्तुम् । "सुमङ्गलश्च शकुने भवासि ( ऋ० सं० २, ८,  
११, १ )" ॥

(३) मण्डूकाः । मन्त्रेः 'शक्तिमण्डिभ्यामूकन् ( उ० ४, ४२ )'

—इति शाकुलकादूकनि जशन्वचुन्वाम्यां मङ्गुका इति प्राप्ते  
छान्दसत्वात् जकारस्य डकारापत्या अन्त्यात् पूर्वस्य नुमि  
प्लुत्यम् । निमज्जन्ति हि ते जले । मन्दतेन्प्लुत्यर्थान् मन्दतेर्वा  
मोदत्यर्थान् पूर्ववदूकम् रूपसिद्धिश्च । नित्यमदत्यान्, नित्यवृ-  
त्तत्वात् नित्यहृष्ट्याद्वा मण्डूकाः । मण्डतेर्वा यथाप्राप्ते ऊकनि  
मण्डूकाः । यद्वा, मण्डो मदतेः । गेहे कः (३, १, १४४)—इति  
शाकुलकात् कप्रत्यये रूपसिद्धिश्च मण्ड उदकम् । हृष्यन्ति हि  
त्र्यक्षानपानावगाहार्थिनः । मण्डे ओको निवास एषां मण्ड-  
शब्दादोक्तशब्दाच्च मण्डूकाः । "प्र मण्डूका अवादिषुः ( ऋ० सं०  
७, ३, १ )" ॥

(४) अक्षाः । अक्षोतेः 'अशोर्देवने ( उ० ३, ६२ )'—इति

प्रत्ययः । अक्ष घन्ते व्याप्नुवन्ति गृह्णन्त्येनानुदेवितारः । अति-  
व्याप्नुवन्त्येभिः परस्परमिति वा । "अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमिन्  
स्य ( ऋ० सं० ७, ८, ५, ३ )" ॥

(५) प्रावाणः । व्याख्यातः पर्यतनामसु (७६ पृ०) । "प्रावभ्यो

व घदता घदद्भ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ६, १ )" ॥

(६) नागंशंसः । नरान् शंसतीति कर्मोपपदेऽण्, 'अन्येषामपि  
ज्जे (६, ३, १३७)' । ततः प्रशादित्वान् स्वार्थिकोऽण् ।  
शंसस एव नाराशंसः । मन्त्रोऽत्राभिर्धेयः । "अमन्दांस्तोमान्  
इमे मनीषा ( ऋ० मं० २, १, ११, १ )" ॥

(७) रथः । रंतेनेति कर्मणः । 'दतिकृषिर्नारमिकाशिभ्यः  
एण् ( ३० २, २ )'—इति कृषन्, बाहुल्यकारप्रकारद्वकारलोपश्च ।  
एण्यनेन । स्थिरतिनेरुक्तधातुः । विपरिणाक्षरः । 'पुंसि  
सन्प्रायां घः (३, ३, ११८)' । सकारेकारयोर्लोपः । इदमङित-  
त्वान् स्थितो हि सः । यद्वा, रमतेस्तिष्ठनेश्च द्विधातुज रूपम् ।  
रमणो विम्रध्वोऽस्मिस्तिष्ठति रथी । यद्वा, रमतेरेष यथाप्रातः  
कम् । रमणीयो हि रथः । रसतेर्वा शब्दार्थान् पूर्वसूत्रेण  
बाहुल्यकान् कृषनि सकारलोपः । भवति हि तस्यागच्छत उप-  
लब्धिः । "तत्रा रथमुप शम्भं सदेम (ऋ० सं० ५, १, २०, ३)" ॥

(८) दुन्दुभिः । शब्दानुकरणनिमित्तकमेतन्नाम । दुमशब्दस्य  
वा रेफान्तलोपः । भिद्देश्वाद्यन्तविपर्यय उकारश्चोपपजनः ।  
दुन्दुभ्यतेर्वा नेरुक्तधातोर्वधकर्मणः इन् । ताश्चते ह्यसौ युद्ध-  
समये । "स दुन्दुभे सज्जुन्दिरेण देवैः (ऋ० सं० ४, ७, ३५, ४)" ॥

(९) इषुधिः । इष्वो निर्धीयन्तेऽस्मिन् । कर्मण्यधिकरणे  
च (३, ३, ६३)—इति किः । "इषुधिः सङ्गाः पृतनाश्च सर्वाः" ॥

(१०) हस्तप्रः । हस्ते हस्तसर्मापे स्थितो हन्यते ज्यया शर-  
पुङ्गेन वा । 'घञर्थे' कविधानम् (३, ३, ५८ वा० २)—इति कः ।  
"हस्तप्रो विश्वा षयुनानि विद्वान् (ऋ० सं० ५, १, २१, ४)" ॥

(११) अर्भीशवः । व्याख्याना श्चिनामसु (५३ वृ०) ।  
निगमश्च दर्शितः ॥

(१२) धनुः । धन्वनेर्गत्यर्थाद् घघार्थाद्वा 'अर्तिपृवपियत्रि-  
तनिघनितपिभ्यो निम् (उ० २, १७०)'—इति याहुल्कादुसिः  
प्रत्ययो घकारलोपश्च । धनिर्माणार्थं इति शौरस्वामी । यथाशत  
उसिः । धन्वन्त्यपतयन्त्यम्मादिष्वः, प्रन्ति वा । "धनुः शत्रो-  
रपकामं कृणोति (ऋ० मं० ५, १, १६, २)" ॥

(१३) ज्या । जयतेर्जिनातेर्वाऽन्तर्णोतप्यार्थाद्वा वा 'मथ्य-  
विध्यशिक्य'—इत्यादिना यक्प्रत्ययो धातोर्जकारभावश्च निपा-  
स्यते । 'अभ्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति निपातनम् ।  
जयसाधनं हि ज्या । "धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ०  
सं० ५, १, १६, ३)" ॥

(१४) इपुः । इपतेर्गतिकर्मणो वधार्थाद्वा 'इपेः किञ्च  
(उ० १, १३)'—इति उपत्ययः । गच्छति शत्रून्, हन्ति वा तान् ।  
'तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, १)" ॥

(१५) अश्वाजनी । अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनया ।  
मुद्, 'वा यौ (२, ४, ५७)'—इतिर्वाभावविकल्पः, द्विषान्  
म् । अश्वानामजनी अश्वाजनी कशोच्यते । "अश्वाजनि  
येतसः (ऋ० सं० ५, १, २१, ३)" ॥

(१६) उलूखलम् । उरु विस्तीर्णं खलं मुखमस्य, ऊर्ध्वं वा  
रिभागे खलं मुखमस्य । ऊर्क् अत्र तन् करोति । किरतेर्वा  
कीर्णं तन् । शब्दानुकरणनिमित्तं वा नामैतन्, यतो मुखला-

एतन्नित्यनिमुक्तं मेपु कुर्वित्येवमप्रयात् । सर्वथैव तेषु वर्णव्य-  
त्यादि षाच्यम् । “उत्प्लुत्क युज्यसे (ऋ० सं० १, २, २५, ५)” ॥

(१७) घृणमः । ‘घृषु मेचने (भू० प०)’ । ‘ऋषिबृषिभ्यां  
क्वि (उ० ३, ११६)’—इत्यमचप्रत्ययः । प्रताहेतुभूतं धीजं  
वर्षति सिञ्चति । घृहेर्वा पाहुलकान् अभवि हकारस्य पकारः ।  
यन्निशयेन रेतः सेक्तुं बृहति उद्यच्छति आत्मानम् । “अमेहयन्  
वृषमं मध्य धाजेः (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)” ॥

(१८) दुघणः । दुशब्दो दुमशब्दपर्यायः । दुमविकारः  
काष्ठलण्डोऽत्र दुशब्देनोच्यते । दुर्हन्यनेऽनेन । ‘करणेऽयोविद्रुषु  
(३, ३, ८२)’—इति हन्तेरप् घनादेशश्च । धुम्नादिषु (८, ४, ३६)  
पाटाण्जश्वम्, ‘पूर्वपदान् सञ्ज्ञायामगः (८, ४, ३)’—इति घा ।  
“काष्ठायामथ्ये दुघणं शयानम् (ऋ० सं० ८, ५, २१, ४)” ॥

(१९) पितुः । अन्ननामसु व्याख्यातम् (२२२ पृ०) । स  
निगमः (ऋ० सं० २, ५, ६, १) ॥

(२०) नद्यः । (२१) आपः । व्याख्याताः (१५६ पृ० ।  
१४१ पृ०) । निगमौ च दर्शितौ सामान्येन । “इमं मे गङ्गा  
यमुने सरस्वति (ऋ० सं० ८, ३, ६, ५)”—इति, विशेषेण ।

“यापो हि एषा मयोभुवः (ऋ० सं० ७, ६, ५, १)” ॥  
“...दीपशब्दे—एतेषु दे घनेः

दकारलोपो द्रष्टव्यः । “या ओषधीः पूर्वा जाता ( ऋ० सं० ८, ५, ८, १ )” ॥

(२३) रात्रिः । ओषसर्गार्थविशिष्टान् अन्तर्णीतण्यर्थान् रमते-  
‘राशदिभ्यां त्रिप् ( उ० ४, ६७ )’—इति शाहुल्लकान् त्रिप्प्रत्ययो  
मकारभ्याकारश्च रात्रेर्थां त्रिप्प्रत्ययो यथाप्रातः । प्ररमयन्ति  
भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयन्ति दिवाचराणि स्वध्यापारेभ्यः,  
प्रदीपन्तेऽस्यामवश्याया मध्यमेन । “आ रात्रि पार्थिवं रजः  
( य० वा० सं० ३४, ३३ )” ॥

(२४) अरण्यानां । अपपूर्वान् रिणतेर्गतिकर्मणो नप्पूर्वाद्-  
मतेर्वा अभ्न्यादित्यात् ( उ० ४, ११८ ) यत्प्रत्यये रूपसिद्धिर्नि-  
पात्यते । अपार्णमपगतं ग्रामाद्धि अरमणं धा, न हि तद्रमयति  
अरण्यं घनम् । अरण्यपालयित्रो अधिदेवता काचित् नैरुक्ताः मह-  
दरण्यमिति वैयाकरणाः । ‘हिमारण्ययोर्महत्वे (४, १, १६, वा० १)’  
—इति विधीयते । “अरण्यान्यरण्यानि ( ऋ० सं० ८, ८, ४, १ )” ॥

(२५) ध्रुवा । ध्रत् सत्यम्, तस्मिन् धीयते । तथाच मन्त्रः  
“अध्रद्धामनृते दधातन ध्रुवां सत्ये प्रजापतिः”—इति । ‘धात-  
धोपसर्गं ( ३, ३, १०६ )’—इत्यङ् । ‘अच्छद्भ्यस्योपसङ्ख्यानाम्  
त्युपसर्गसञ्ज्ञा । धर्मार्थसुखापघर्षेषु यथाशास्त्रमधिहितः पुरु-  
स्य कर्मानुष्ठानहेतुभावात्प्रख्यानात् बुद्ध्यधिदेवता ध्रुवा । “ध्रु-  
वाग्निः समिध्यते ( ऋ० सं० ८, ८, ६, १ )” ॥

(२६) पृथिवी । ‘प्रथ प्रख्याने ( भू० भा० )’ । ‘प्रथे पियत्  
प्रसारणञ्च ( उ० १, १४६ )’ । ‘पिद्गुगीरादिभ्यश्च ( ४, १, १ )’

१५)। पूर्वोत्तरयोः । “स्योना पृथिवि भव ( ऋ० सं० १, २, ६५ )” ॥

(१६) अर्वा । व्याख्यातं नैगमे सतिगमम् ॥

(१७) अग्नार्या । अग्नेः पत्नी । ‘वृषाकप्यग्निकुसितकुसि-  
न्नुक्तः ( ४, १, ३७ )’—इत्येकारादेशः, पुंयोगलक्षणाङ्गीप् ।  
‘अग्नी सोमर्षीतये ( ऋ० सं० १, २, ६, २ )” ॥

(१८) उत्सलमुसले । उत्सलं व्याख्यातम् । मुहुःशब्दोपपदान्  
स्ते ‘पुञ्जोरलमुसलकुबल’—इत्यादिना अल्पप्रत्ययो टिलोपो  
सुशब्दस्य मुसभावश्च निपात्यते । उत्क्षिप्यांत्क्षिप्य निपातनात्  
सुसराणं मुसलं द्विर्घचनम् । “आयती वाजसानमा ( ऋ०  
सं० १, २, २६, २ )” । अश्रेष्मयन् धृतिरसत्यपि लिङ्गयोगे ॥

(१९) हविर्दानि । सोमलक्षणानि हवीपि विधीयन्ते ययोः ।  
‘मा धामुपस्थमद्गुहाः ( ऋ० सं० २, ८, १०, ६ )” । पूयंषदु-  
शब्दप्रत्ययम् ॥

(२०) वावापृथिवी । दिवो वृत्त्यर्थान् ‘दिवेर्द्विपिः’—इति  
‘वावा’ इति । पृथिवी व्याख्याता ( ३२, १० ) ।







मित्रः (१३) । कः (१४) । सरस्वान् (१५)  
 विश्वकर्मा (१६) । तार्क्ष्यः (१७) । मन्युः (१८)  
 दधिक्राः (१९) । सविता (२०) । त्वष्टा (२१)  
 वातः (२२) । अग्निः (२३) । ववेनः (२४)  
 असुनीतिः (२५) । ऋतः (२६) । इन्दुः (२७)  
 प्रजापतिः (२८) । अहिः (२९) । अहिवुध्न्यः (३०)  
 सुपर्णः (३१) । पुरूखाः (३२) । इति द्वात्रिंशत्  
 पदानि ॥ ४ ॥

(१) घायुः । 'घा गतिगन्धनयोः ( अदा० प० )' । 'घृष्य  
 पाजिमिम्यदिसाध्यशुभ्य उण् ( उ० १, १ )' । 'आतो युक् चिण्टतो  
 ( ७, ३, ३३ )' । यद्वा, घेतेर्गतिकर्मणो यादुलकादण् यद्वा, 'उन्दीण  
 ( उ० १, २ )'—इत्युजि षकारोपजनः । गच्छत्यन्तरिक्षे । "घायय  
 यादि दर्शनेमे ( प्र० मी० १, १, ३, १ )" ॥

(२) वरुणः । 'वृन् वरुणे ( स्वा० उ० )' । 'कृशृशरिभ्य उन  
 ( उ० ३, ५० )' । अन्तरिक्षे उद्ब्रमावृणोति । "नीचीनवार  
 वरुणः वरुण्यन् ( प्र० मी० ४, ४, ३२, ३ )" ॥

(३) रुद्रः । रीतेः क्तिप् । रुद्रार्द्रं करोति । 'आतोऽनुपमार्  
 कः ( १, २, ३ )' । यो रुद्रन् वृत्ति, रीतीति वरुं शक्यते ।  
 रोद्रयमाणोऽत्ययं रुद्रं कुर्यन् मेघोद्गम्यो द्रवतीति, रोद्रयमाण-



इताञ्च यद्यनामादरयिता च । सर्वत्र निपातनाद्रूपसिद्धि-  
 “महान्तमिन्द्र पर्यन्तं विघट्टयः ( ऋ० सं० ४, १, ३२, १ )” ॥

(५) पर्जन्यः । तृपेन्तर्णोत्तप्यर्णान् क्रिपि तर्पयतीति सृ-  
 जनहितो जन्यः हितार्थे यन् । तृप् चासौ जन्यधेनि सृप्शब्द-  
 पर्भायः । परशब्दोपपदात् जायनेर्जनयनेर्था अज्यादित्वात्  
 यम्, नुम्, परशब्दात् लोपश्च निपात्यने । परः प्रकृत्यो जेताजन-  
 यिता वा । परशब्दोपपदादजन्यने वा अज्यादित्वात्त्रिपातनन्तेन  
 पर्जन्यः प्रकर्षेणोपार्जयिता सङ्ग्रहीता गतानाम् । “यन् पर्जन्य-  
 स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ( ऋ० सं० ४, ४, २७, २ )” ॥

(६) बृहस्पतिः । बृहच्छब्दो व्याख्यातो महश्चामसु (३०८ पृ०)  
 पतिशब्दस्तु ईश्वरनामसु (३०१ पृ०) । अत्र पितृनेरपि बाहुलकात्  
 पतिः । बृहतः सोमरसस्य वाय्वात्मना पाता पालयिता रक्षिता  
 वा । पिता रक्षयिता महतो जगतो वा । “बृहस्पतिर्विरवेणा  
 विरृत्य ( ऋ० सं० ८, २, १८, २ )” ॥

(७) ब्रह्मणस्पतिः ।

(८) क्षेत्रस्य पतिः । ‘क्षि निवासागत्योः ( तु० प० )’ ।  
 ‘शुधृवीपविचचियमिमनितनिसदिक्षदिभ्यस्त्रन् ( उ० ४, १६२ )’—  
 इति अन्प्रत्ययः । निवसन्ति हि येन च हेतुभूतेन, तस्य पाता ।  
 “क्षेत्रस्य पतिना घयम् ( ऋ० सं० ३, ८, ६, १ )” ॥

(९) वास्तोष्पतिः । ‘घस निवासे ( भू० प० )’ ‘घसेस्तुन्  
 जिघ इति । सामर्थ्यात्तच्च वास्तवन्तरिक्षम्, तस्य पाता विभु-  
 त्वेन । “अमी घहा वास्तोष्पते ( ऋ० सं० ५, ४, २२, १ )” ॥



यत्यन्तरिक्षे । कमिति सुखनाम, सुखो वा वृष्टिप्रदानादिना  
“कस्मै देवाय हविषा विधेम ( ऋ० सं० ८, ७, ३, १ )” ॥

(१५) सरस्वान् । सर इत्युक्तं, तेन तदुवात् । “ये ते सरस्व  
ऊर्मयः ( ऋ० सं० ५, ६, २०, ५ )” ॥

(१६) विश्वकर्मा । करोतेः कर्त्तरि मनिन् । मध्यमस्थानो  
वायुः । वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्त्ता सर्वचेष्टानां तदधीनत्वात् ।  
“विश्वकर्मा चिमना भादिद्विहायाः ( ऋ० सं० ८, ३, १७, २ )” ॥

(१७) तार्क्ष्यः । स्तोर्णशब्दे तूर्णशब्दे चोपपदे क्षियति क्षरति-  
रक्षत्यध्नातिभ्योऽभ्यादित्वात् ( उ० ४, १८ ) यत्प्रत्ययादि निपा-  
त्यते । स्तोर्णे विस्तोर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति क्षरति रक्षत्यध्नाति, तूर्णं  
पार्थमुद्काल्यं क्षियति क्षरति वा अश्नुते वा तमः । “स्वल्पे  
तार्क्ष्ये मिहाद्दुवेम ( ऋ० सं० ८, ८, ३६, १ )” ॥

(१८) मन्युः । व्याख्यातः क्रोधनामसु ( २५० पृ० ) । दीतः कुञ्जो  
वा । “एषया मन्यो सरथमारुजग्नो ( ऋ० सं० ८, ३, १६, १ )” ॥

(१९) दधिकाः । व्याख्यातोऽश्वनामसु ( १६१ पृ० ) । दध-  
दाग्यद् वृष्ट्युत्पत्तमन्तरिक्षे कामति गच्छति, मन्दति स्तनयितु-  
रक्षणं शब्दं करोति । “भा दधिकाः शयसा पञ्च कृषीः ( ऋ०  
सं० ३, ७, १२, ५ )” ॥

(२०) गविता । ‘वृ प्रसवेश्वर्ययोः ( भू० प० )’ । गृति  
‘भरतिगृतिगृतिभूतुदिनो वा ( ७, २, ४४, )’ । गव्यं कर्मणां  
वृष्टिप्रदानादिना गविता सम्भवनुश्राना । “गविता यम्यैः पूजिगो-  
गम्यान् ( ऋ० सं० ८, ८, ७, १ )” ॥

(२१) त्वष्टा । व्याख्यातः (४५८ पृ०) । “देवस्त्वष्टा सविता  
वेदरूपः ( ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४ )” ॥

(२२) घातः । घातेः ‘हुसिमृत्रिण्वामिदमित्पूर्व्विभ्यस्तन्  
३० ३, ८३’ । घाति घातः । “घात आघातु भेषजम्  
३० सं ८८, ४४, १” ॥

(२३) अग्निः । व्याख्यातः (४५३ पृ०) । इह मध्यमोऽग्नि-  
येः । “मरुद्विरग्न आ गहि ( ऋ० सं० १, १, ३६, १ )” ॥

(२४) वेनः । वेनतेः कान्तिकर्मणो पचायच् (३, १, १३४) ।  
गन्तो दीप्तौ मध्यमस्थानः । “अयं वेनश्चोदयत् पृथिविर्भा  
( ऋ० सं० ८, ७, ७, १ )” ॥

(२५) असुनीतिः । असुशब्दे उपपदे नयतेः ‘इत्यल्पुटो  
शुद्धम् (३, ३, ११३)’—इति क्तिन् । असून् नयतीति असुनीतिः ।  
स च मध्यमः प्राणः । प्राणश्च वायुः । स हि शरीरादुत्क्रामन्तो-  
ऽसून् नयति । विश्रायते हि प्राणा उत्क्रामन्तः सर्वेऽनूत्क्रामन्ति ।  
“असुनीति मनो अस्मासु धारय ( ऋ० सं० ८, १, २२, ५ )” ॥

(२६) ऋतः । ‘ऋ गती ( भू० प० )’ । गन्वर्थात् कर्त्तरि  
क्त् । अर्त्ता गन्ता अन्तरिक्षे । “ऋतस्य हि शुक्यः सन्ति पूर्वीः  
( ऋ० सं० ३, ६, १०, ३ )” ॥

(२७) इन्दुः । इन्देः ‘भृमृशीत्चरित्तरितनि ( उ० १, ७ )’  
—इत्यादिना चादुल्लफादुप्रत्ययो धकारस्य इकारश्च । उनसेर्षा  
‘उन्देरिषादेः ( उ० १, १२ )’—इत्युप्रत्ययः । दीप्यते उनन्ति वा  
पर्येण । “प्र तदो जयम्भल्यायेन्दवे ( ऋ० सं० २, १, १७, १ )” ॥







—इत्यसुन् । चन्द्रधातो निर्माता । चन्द्रमानं निर्माणमानमतः कर्मणा घाम्य । यदुषा, चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि मानमप्य चान्द्रमाः सन् तस्यत्येन चन्द्रमाः । यदुषा, चास्याच्चे उपपदे द्रवनेरमुनि घादुल्काद्वृत्तिदिः । चात् शोभनं द्रवति गच्छति मन्दगति-त्वात् घा । चिरं द्रवति घा । “प्र चन्द्रमान्तिरने दीर्घमायुः ( ऋ० सं० ८, ३, २३, ४ )” ॥

(४) मृत्युः । प्रियनेगन्तर्णोत्पय्यान् ‘मुक्तिमृद्भ्यां युक्-त्युक्तौ ( उ० ३, १६ )’—इति ल्युक्प्रत्ययः । मारयति प्राणिनः, मृतं च्यावयतीति घा । मृतमिति घर्त्तमानसामीप्ये आसन्न-मृत्युं चरमोच्छ्वासकाले शरीरात् च्यावयति । अथवा, मृत-क्षीणायुःसंस्कार उच्यते, तम् मृतं मध्यमः प्राणः शरीरात् च्यावयतीति मृत्युः । मृतशब्दोपपदात् च्यावयतेः ‘अच्यवादयश्च ( उ० ४, १०८ )’—इति उपप्रत्ययः, मृतान्तलोपः, च्यावयनेस्त्यु-भावश्च निपात्यते । “परं मृत्यो अनु परे हि पन्थाम् ( ऋ० सं० ७, ६, २६, १ )” ॥

(५) विश्वानरः । ‘अपि घा विश्वानर एवेति व्याख्यातम् ( निरु० ७, २१ )’ । “अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ( ऋ० सं० ४, १, ६, १ )” ॥

(६) धाता । (७) विधाता । व्युपसर्गार्धविशिष्टात्तदुपपदाच्च धाअस्तृच् । वर्षकर्मणा सर्वं स हि दधाति । “धाता ददानु दाशुपे ( अथ० सं० ७, १, ४, २ )” । “धातर्विधातः कल्श्याँ अमक्षयम् ( ऋ० सं० ८, ८, २५, ३ )” ॥

(८) मरुतः । व्याख्याताः ( ३५३ पृ० ) । मितं ख्यन्ति ।  
 लनपित्तुलक्षणं शब्दं कुर्वन्ति । अमितं वा बहुप्रकारं ख्यन्ति ।  
 महदुच्चैर्द्वन्ति, महदन्तरिक्षं द्रव्यतीति वा मरुतः । “आ  
 विग्रन्मद्विर्मस्तः स्वर्कैः (ऋ० सं० १, ६, १४, १)” ॥

(९) रुद्राः । रुद्रशब्दो व्याख्यातः (४६८ पृ०) । अत्र बहुवचनम् ।  
 “आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोपसः (४, ३, २६, १)” ॥

(१०) ऋभवः । ऋभुशब्दो व्याख्यातो मेधाविनामसु  
 (३४३ पृ०) विद्यन्प्रकाशनसु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन षोडशेन  
 दीप्यन्ते, ऋतेन सत्येन चान्तःसहाया भवन्ति । “सौधन्वता  
 ऋभवः सूरचक्षसः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)” ॥

(११) अङ्गिरसः । ‘देवस्य वितते यज्ञे महतो घरणस्य च ।  
 मद्गणोऽप्सरसो दृष्टा रेतश्चस्कन्द कर्हिचिन् । तन् प्रतीक्ष्य समर्थेन  
 स जुहाय विभावसो । अङ्गारसोऽङ्गिराः’ । जस् । “ते अङ्गिरसः  
 सूनवस्ते अग्नेः पत्तिजज्ञिरे ( ऋ० सं० ८, २, १, ५ )” ॥

(१२) पितरः । ‘पिता पाता वा ( निरु० ४, २१ ),—  
 इत्यादिना व्याख्याताः । जस् । “उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः  
 ( ऋ० सं० ७, ६, १७, १ )” ॥

(१३) अथर्वानः । (१४) भृगवः । अथर्वनिधरत्यर्थो नैरक-  
 धानुः । न अथर्वणमथर्वणमगमनं ततो जसि अथर्वणाः सन्तः  
 आथर्वणः । यद्वा, अथर्वतः ‘इपद्गुशनपूवन् ( ३० १, १५५ )’—  
 इत्यादिना कनिनप्रत्ययान्तो निपात्यते । अथर्वानोऽगतन्तारः ।  
 भृगवः । भृगवमानाः महत्सेत्रमित्यान् । स्रत्त्र पाके ( तु० )

उ० ) । 'प्रधिघ्रदिघ्रसृजां सम्प्रसाणं सलोपध ( उ० १, २१ )  
—स्युप्रत्ययः, न्यङ्कादित्यान् कुरुचम् । "अथर्वाणो भृगवः  
सोम्यासः ( ऋ० सं० ७, ६, १४, १ )" ॥

(१५) आप्त्याः । आप्तोनेः अप्त्यादित्यान् ( उ० ४, १०८ )  
यद्प्रत्ययः तुगागमध निपात्यने । आप्तुषन्ति सर्वमाप्त्या  
मध्यमस्थाना इन्द्रसहचारिदेवगणाः । "इतममाप्त्यानाम् ( ऋ०  
सं० ८, ७, २, १ )" ॥

(१६) अदितिः । 'सर्वास्त्रियो मध्यमस्थाना पुमान् वायुश्च  
सर्वशः । गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम्' । अदिति  
व्याख्याता नैगमे (३३ पृ०) । "दक्षस्य वादिने जन्मनि मते ( ऋ०  
सं० ८, २, ६, ५ )" ॥

(१७) सरमा । 'सृ गती ( भू० प० )' । 'कलिकर्षोऽ  
( उ० ४, ८२ )'—इति बाहुलकादमप्रत्ययः । एणिभिरसुरैः गूर्द्धा  
गा अन्वेष्टुं प्रहिता इन्द्रेण सरमा देवशुनी । "किमिच्छन्ती सरम  
प्रेदमानम् ( ऋ० सं० ८, ६, ५, १ )" ॥

(१८) सरस्वती । व्याख्याता घाङ्नामसु ( १०० पृ० ) ।  
"पावका नः सरस्वती ( ऋ० सं० १, १, ६, ४ )" ॥

(१९) घाक् । व्याख्याता स्वनामसु ( ११० पृ० ) । "यद्वाग्  
घदन्त्यविचेतनानि ( ऋ० सं० ६, ७, ५, ४ )" ॥

(२०) अनुमतिः । (२१) राफा । अनुपूर्वात्मन्यतेर्थाङ्गुल-  
तात् कर्त्तरि क्तिन् । अनुमन्यते यदनुमन्तव्यम् । 'रा दाने  
अदा० प० ) कृताधारार्चिकलिम्यः कः'—इति कप्रथयः ।

अथे हि तस्यां देवेभ्यो हविः । मध्यमस्थाने 'देवपत्न्यौ ( ११, ८ )—इति नैरुक्ताः । पीर्णमास्याविति धार्मिकाः । "अन्वि-  
लुमते त्वम् ( य० वा० सं० ३४, ८ )" । "राकामहं सुहवां  
उष्टृती ह्रुवे ( ऋ० सं० २, ७, १५, ४ )" ॥

(२२) सिनीवाली । देवपत्न्यावमावास्ये वा । सिनमग्रना-  
मसु व्याख्यातम् ( २२३ पृ० ) । वालं पर्व । "सिनीवालि  
शुष्टुके ( ऋ० सं० २, ७, १५, ६ )" ॥

(२३) कुहः । 'गह संवरणे ( भू० उ० )' अस्मात्, कशाद्दो-  
पदान् भवतेर्ह्यतेषां 'नृतिशृध्योः कृः ( उ० १, ८८ )—इति  
पाहुलकात् उपत्ययो गकारस्य ककारादि च । गुहः, द्वाश-  
न्द्रमा न भवति तस्याप्रत्यक्षत्वात् । क पुनरसाविति वितर्क्यश्च  
चन्द्रमा भवति । 'कृहमहं सुवृतं विद्यनापसम् ( तै० ब्रा० ३,  
३, ११ )" ॥

(२४) यमी । यमेन व्याख्याता ( ४७१ पृ० ) । 'इन् सर्वधा-  
तुभ्यः ( उ० ४, ११४ )—इतीन् । 'कृदिकारान् ( ४, १, ४५  
वा० )—इति ङीम् । "अन्यमूपुष्ट्यं यम्यन्यउ त्याम् ( ऋ० सं०  
७, ६, ७८, ४ )" ॥

(२५) उर्वशी । व्याख्याता ( ४१३ पृ० ) । उर्वशुने इत्यादि  
यथानुसन्धानं योज्यम् । "प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ( ऋ० सं०  
१, ५, २, ४ )" ॥

(२६) पृथिवी । व्याख्याता ( ४७७ पृ० ) । इह मध्यमामिधेया ।  
"एद्रं पिमर्षि पृथिवि ( ऋ० सं० ४, ४, २१, १ )" ॥

(२७) इन्द्राणी । 'इन्द्रपण्ड (१, १, ४१)'—इति उपा  
 नुक् न । मध्यमस्थाना इन्द्रस्य पत्नी वा । "इन्द्राणीमासु  
 नागिषु (ऋ० सं० ८, ४, ३, १)" ॥

(२८) गौरी । (२९) गौः । (३०) घेनुः । व्याख्याता घाट्नामसु  
 (६५, ६४, १११ पृ०) । "गौरीर्मिमाय सन्निवृत्तानि तश्चति (ऋ० सं०  
 २, ३, २२, १)" । गौरीर्मिमेदनु घट्मं मिपन्तम् (ऋ० सं० २, ३,  
 २६, ३)" । "उपहये मुदुघां घेनुमेताम् (ऋ० सं० २, ३, २६, १)" ॥

(३१) अरुया । व्याख्याता गोतामसु (२४४ पृ०) । "अरुि  
 ॥

(३५) इला । व्याख्याता चाङ्नामसु ( १४ पृ० ) । “अभि  
ने इला यूधस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)” ॥

(३६) रोदसी । व्याख्याता चावापृथिवीनामसु (३७३ पृ०)  
अत्र पुंयोगलक्षणो ङीप् ( ४, १, ४८ ) । रूदस्य मध्यमस्थानस्य  
पत्नी माध्यमिका वाक् । “सत्त्वा मरुतसु रोदसी (ऋ० सं० ४,  
३, २०, ३)” ॥

इति मध्यस्थानदेवताः ॥ २ ॥

अश्विनौ (१) । उषाः (२) । सूर्या (३) ।  
वृषाकपायी (४) । सरण्युः (५) । त्वष्टा (६) ।  
सविता । (७) भगः (८) । सूर्य्यः (९) । पूषा  
(१०) । विष्णुः (११) । विश्वानरः (१२) । वरुणः  
(१३) । केशी (१४) । केशिनः (१५) । वृषाकपिः  
(१६) । यमः (१७) । अजपकपात् (१८) ।  
पृथिवी (१९) । समुद्रः (२०) । दध्यङ् (२१) ।  
अथर्वा (२२) । मनुः (२३) । आदित्याः (२४) ।  
सप्तऋषयः (२५) । देवाः (२६) । विश्वेदेवाः  
(२७) । साध्याः (२८) । वसवः (२९) । याजिनः



(३०)। देवपत्न्यः(३१)। देवपत्न्य इत्येकत्रिंश-  
त्पदानि ॥ ६ ॥

इति निघण्टो पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(१) अश्विनो । अश्वशब्दो व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६८पृ०) ।  
भासा सर्वं जगद् व्याप्नुतः । अश्वशायरसेन मध्यमः, तेजसो-  
त्तमः । द्वावापृथिव्यावहोरात्रे सूर्याचन्द्रमसौ षाश्विशब्दा-  
भिधेयो । द्यौः ज्योतिषाश्नुते, पृथिवी रसेनात्रलक्षणेन ।  
अहज्योतिषा, रात्रिरश्वशयायेन । सूर्यो ज्योतिषा चन्द्रमा  
रसेनाहादादिना वा । अश्वैस्तुरङ्गैस्तद्वन्तौ राजानौ पुण्य-  
कृतायित्यौर्णुनामः । “कदेदमश्विना सुधम् (निरु० १२, २)” ॥  
सूर्योः कालः ऊर्ध्वमर्द्धरात्रात् सूर्योदयपर्यन्तः । तस्मिन्नान्या  
श्वता उपास्ते ॥

(२) उपाः । वष्टेर्वोच्छतेर्वा । “उपस्तश्चित्रमा मरा (य०  
१० सं० ३४, ३३)” ॥

(३) सूर्या । व्याख्याता वाङ्नामसु (१०० पृ०) । एषैवोपाः  
स्यात्सम्पद्यते । “आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् (ऋ० सं०  
३, २३, ५)” ॥

(४) वृषाकपायी । वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी । ‘वृषाकप्यग्नि-  
सेतकुसिद (४, १, ३७)’—इत्यैकारलीची । “वृषाकपायि  
ति (ऋ० सं० ८, ४, ३, ३)” ॥

(५) सरण्यूः । सैवोपा प्रभातकृदुदयावस्था सूर्ये प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदा सरण्यूरुच्यते । सत्तैः 'पुंसि सम्भ्रायां घः (३, ३, ११८)' । सरेण सरणेन नयति 'मृतिमृदिकुदिभ्यः'—इति बाहुलकाश्रयतेरुक्तप्रत्ययः, 'परनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६, ४, ८२)' । "अजहादुद्धा मिथुना सरण्यूः (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)" ॥

(६) त्वष्टा । (७) सविता । व्याख्याते ( ४५८ पृ०, ४७२ पृ० ) तस्य कालो यदा दीर्यहृततमस्काकीर्णरश्मिर्मथति । "विनाकमष्यत् सविता वरेण्यः (य० घा० सं० १२, ३)" ॥

(८) भगः । व्याख्यातो धननामसु (२३६ पृ०) । भजनीयो भूतानां स्वकार्यप्रयुक्तानाम् । त्वष्टृकालानन्तर्घत्तिज्योतिर्विशो भगाव्यः । प्रागुत्सर्पणादनाविर्मूतमण्डल इत्यर्थः । "प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)" ॥

(९) सूर्यः । व्याख्यातः सूर्याशब्देन (१०० पृ०) प्रागवस्थानः । सरति कर्मसु जगत् प्रेरयति धायुना घटाम् । सुष्टु सर्वदैवोदयास्तमयो प्रति ईर्यते । "दृशे विश्वाय सूर्यम् (ऋ० सं० १, ४, ७, १)" ॥

(१०) पूषा । 'पुष पुष्टौ (क्वा० प०)' । 'श्वन्नुक्षन् (उ० १, १५५)'—इति कनिन्प्रत्यये उपधादीर्घत्वं निपात्यते । यदा रश्मिभिः परिपुष्टो भवति तदा पूषा । "भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)" ॥

(११) विष्णुः । व्याख्यातो यज्ञनामसु (३५१ पृ०) र्तीय-रश्मिद्वारेण सर्वत्र ह्याविशति । विशेषाहुलकान्नुप्रत्ययादि ।

विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुते वा । “इदं विष्णुर्विचक्रमे ( ऋ० सं० १, २, ७, २ )” ॥

(१२) विश्वानरः । व्याख्यातः ( ४५४ पृ० ) । इह उत्तमो-  
ऽभिधेयः । “विश्वानरस्य वस्पतिम् ( ऋ० सं० ६, ५, १, ४ )” ॥

(१३) बहणः । व्याख्यातः ( ४६८ पृ० ) । “त्वं बहण पश्यसि  
( ऋ० सं० १, ४, ७, ५ )” ॥

(१४) केशी । (१५) केशिनः । केशा रश्मयः । प्रशंसाया-  
मितिः । प्रकृष्टैः केशैस्तद्वान् ‘काश्ट दीप्तौ ( भू० आ० )’ काशनं  
काशः, तद्वान् काशी सन् केशी । तमसोमध्यगत आदित्य उच्यते ।  
“केश्यग्निं केशी विपम् ( ऋ० सं० ८, ७, २४, १ )” ॥

(१६) वृषाकपिः । ‘वृष सेचने ( भू० प० )’ । ‘कनिन्पू-  
पि ( उ० १, १५४ )’—इत्यादिना कनिन् । ‘कपि चलने ( भू०  
१० )’ । ‘कुण्डिकम्पयोर्नलोपश्च ( उ० ४, १३६ )’—इतोप्रत्ययः  
जन्तो वा । अयञ्च सेचयिता, अयश्यायादीन् कम्पयन् भ चरति,  
वा चारीणि भूतानि भयान् कम्पयतीति वा । ‘तन्पुरुषे हनि  
त्यम् ( ६, ३, १४ )’—इति बहुल्यवचनादलुक् । “पुनरेदि वृषा-  
( ऋ० सं० ८, ४, ४, ३ )” ॥

(१७) यमः । व्याख्यातः ( ४७१ पृ० ) । सङ्गच्छन्ते रश्मि-  
न्ति अन्तमयावप्य आदित्य उच्यन्ते । “द्वेषैः सगिपन्ते यमः  
( ऋ० सं० ८, ७, २३, १ )” ॥

(१८) अत्रणकान् । अन्तमावप्य आदित्य उच्यन्ते । त्रिपदं  
। अत्रनेः एनायनि वाहुल्यकान् षीभावामावः । एकध

पादः कस्य प्रागजः । बुज एतन् विप्रानि हि भग्निः पादः, वायुः  
पादः मादित्यः पादः, दिशः पादः, इति । तेनाजभासायिकपा-  
दोति । 'संशयान्पूर्वस्य ( ५, ४, १४० ) - इत्ययदुर्ग्राह्यायपि पाद-  
स्याकारलोपः । एकेन पादेनांशेन सर्वमिदं जगत् ज्योतिरात्मना  
प्रशिरन् पानि, एकेनांशेन उदकं सर्वस्य जगतः पिबति, किपि  
वकारोपजनः । एकोऽस्य पाद इत्ययथाप्रातः पादान्त्यलोपः ।

"पार्वीरषीतन्यतुरेकपादजः ( ऋ० सं० ८, २, ११, ३ )" ॥

(१६) पृथिषी । ध्याप्यातः (४७ पृ०) । इह यौरुच्यते ।

"पदिन्द्राग्नी परमम्यां पृथिव्याम् ( ऋ० सं० १, ७, २७, ३ )" ॥

(२०) समुद्रः । ध्याप्यातोऽन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०) ।

निर्वचनेषु योज्यम् । उत्तमोऽभिधेयः । "महः समुद्रं धरुण-  
न्निरोद्धे ( ऋ० सं० ७, २, २६, ३ )" ॥

(२१) इध्यद् । ध्यानं ज्ञानं लोककृत्यादृश्यविषयं लोकपा-

रुचान् । ध्यानं प्रतिगतं प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा ।

ध्यानशब्दोपपदान् अक्षुणेः किनि पूषोदरादित्वात् ध्यानशब्दस्य

दधिमावः, 'किन्प्रत्ययस्य कुः ( ८, २, ६२ )' ॥

(२२) अधर्षा । ध्याख्यातोऽधर्षाण इत्यत्र (४७७ पृ०) ।

इत्तु उत्तमो वाच्यः । न ह्ययं स्वाधिकारं व्यभिचरति, रसा-

दनादिकं नित्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

(२३) मनुः । मन्यतेर्मननार्थादर्चतिकर्मणो वा 'शृन्वुस्त्रिहित्र-

व्यसिचसिहनिक्लिदिवन्धिमनिम्यश्च ( उ० १, १० ) - इत्युप्रत्ययः ।

मननान् म्याधिकारादेः, अर्च्यते इति वा मनुरादित्यः ।

“धामधर्वा मनुष्यिता दध्यङ् धियमदात (ऋ० सं० १, ३१, ६)” ॥

(२४) आदित्याः । आङ्पूर्वात् दातेर्दीप्यतेर्वा अङ्ग्यादित्वा (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः । आकारेकारयोगिकारः, दाप्रस्तु० दीप्यतेः पकारस्य तकारश्च निपात्यते । भुवो रसं रश्मिभिरा दसे । ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनां भासमादत्ते वा, तदुदयेऽ- तद्धानादानव्यपदेशः । आदीप्तः ज्योतिरन्तरापेक्षया हि स्वभासा । अदितेः पुत्रा वा आदित्याः ‘दित्यदित्यादित्य (४, १, ८५)’—इति ष्यः । तथा च ‘अदितेः पुत्रकम्’—इत्यादि ब्राह्मणम् । जति आदित्याः मित्रादयः । “इमा गिर आदित्येभ्यो घृतलूः (ऋ० सं० २, ७, ६, १)” ॥

(२५) सप्त ऋषयः । व्याख्याताः (५६ पृ०) । रश्मयः । षडिन्द्रियाणि वा मनःषष्ठानि विद्यांसप्तमाति । “सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ( य० घा० सं० ३४, ५५)” ॥

(२६) देवाः । दिव्यतिर्दानार्थो दीप्त्यर्थो वा । पचा० (३, १, १३५) । दातारोऽभिमतानां भक्तेभ्यः । तैजसत्त्व दीप्ता वा । द्युतेर्वापि वाहुल्फाद्रूपसिद्धिः । अर्थः समानः दिवः सम्बन्धिनो वा देवाः । तस्येदम् (४, ३, १२०)—इत्यर्था घृद्ध्यभाष्येऽहान्दसः । ‘द्युप्रागपागुदङ्प्रतीचो घत् (४, १०१)’—इति यत्प्रत्ययो नात्र भवति । द्युस्थाना इत्यर्थः देवा रश्मय उच्यन्ते । “देवानां मद्रा सुमतिर्वाङ्मूपाताम् (ऋ० सं० १, ६, १५, २)” ॥

(२७) विश्वेदेवाः । सर्वे देवाः । “विश्वेदेवास आगत  
(ऋ० सं० १, १, ६, १)” ॥

(२८) साध्याः । व्याख्याताः रश्मिनामसु (५७ पृ०) । नैल्ल-  
क्षे एमयः । ऐतिहासिकानान्तु कर्मभिरात्मभिरात्मसाधनात्  
सर्वे देवसमूहाः, ये च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः । “यत्र  
सर्वे साध्याः सन्तिः देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)” ॥

(२९) घसचः । व्याख्याता रश्मिनामसु (५५ पृ०) । त्रिभा-  
गेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छाद्यन्ति । अत्र त्रिस्थाने छादक-  
त्वात् । घसचो यावत् किञ्चित् पृथिवीस्थानमग्निभक्ति तत् सर्वं  
वसुधैनाभिरेत्यैतदुच्यते,—‘अग्निर्वसुभिर्वासच इति समाख्या  
तस्मान् पृथिवीस्थानाः (निद० १२, ४१)’ । एवमिन्द्रो वासचः,  
मस्तो हि वासचाः समाख्याताः, तस्मात् मध्यमस्थानाः । घसच  
आदित्यरश्मयो विवासनात्तमसां तस्मात् द्युस्थानाः । “अस्मै  
यत्त घसचो घसूनि (य० वा० सं० ८, १८)” ॥ “जमया अत्र  
घसचो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)” ॥

(३०) वाजिनः । वाजिशब्दश्चाश्वनामसु व्याख्यातः (१६०  
पृ०) रश्मयोऽभिधेयाः । देवाश्च वाजिनः । “शशो भयन्तु  
वाजिना हवेषु (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)” ॥

(३१) देवपत्न्यः । देवानां पालयित्र्यः पालनीया वा ।  
“देवानां पत्नी रशतीरचन्तु नः (ऋ० सं० ४, २, २८, ७)” ॥

अध्यायपरिसमाप्तिर्द्विर्वचनं, धृतिदर्शानात् ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनाश्विनो पट्ट

अग्निगोत्रर्धाश्विगजयायनः कृते निघण्टुनिर्चनने

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमन्तथा ।

तृतीयं देवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥१॥

गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् ।

जहाद्युल्बमृवीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते ॥

अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते ॥ २ ॥

तत्र च—

अग्न्यादिदेवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः ।

वाय्वादयो भर्गान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।

सूर्यादिदेवपरन्यन्ता द्युस्थानदेवता इति ॥३॥

गौरादिदेवपत्न्यन्तः समाम्नायोऽभिधीयते ॥४॥

इति निघण्टुः समाप्तः ॥

॥ श्रीः ॥

निरुक्ते ( नियण्टु भागस्य ) शुद्धिपत्रम्

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२	६	निर्बुघता	निर्बुघता
३	१७	शुनुघा	शुद्धा
१०	१३	मूर्त्याः	मर्त्याः
११	३	अमीशयः	अमीशयः
१२	५	घन्नम्	घुन्नम्
१२	११	हल्लते	हेल्लते
१४		संयत	संयत्
२१		तृतीयोऽध्यायः	तृतीयोऽध्यायः
२८		परिघाजकः	परिघाजकः
२८		घार्थे	घार्थे
२६		घृष्ट्या	घृष्ट्या
३७		प्रत्यप्रयः	प्रत्ययः
३७	-	त्रैङ्	त्रैङ्
३८	६	घाणिज्य	घाणिज्य
३६	१०	गच्छत	गच्छति



पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६	१६	हियते	हियते
४०	८	बृहदारण्यके	बृहदारण्यके
४०	८	मात्रा मपा	मात्रामपा
४१	११	धाव्यते	धाव्यते
४८	८	पूर्वेण	पूर्वेण
४८	१०	मार्गो	मार्गोत
४८	१८	तर्णो	तर्णो
४८	२२	सर्गे	सर्गे
४९		चतुर्थो	प्रथमो
५१		तृतीयो	
५१	६	मयूखा	मयूखाः
५१	१६	रश्मिः	रश्मिः
५२	६	ण्य्येन	ण्येन
५३		चतुर्थो	प्रथमो
५३	३	योजनाऽ	योजनाऽ
५३	५	रश्मिमिस्ता	रश्मिमिस्ता
५४	१५	डा	ड,
५५	३	नाथ	नाथ
५५	१५	उमथा	उमथाऽ
५८	४	त्थये	त्थये
५८	१६	उपसर्गो	उपसर्गो

पद्याद्म्	पदक्तिः	भगुद्रपाठः	शुद्रपाठः
५१	४	घंभ्रट	घंभ्रथे
६२	११	दिसायाम्	दिसायाम्
६६	११	लंक्षणम्	लक्षणम्
७०	१	सर्गे	सर्गे
७०	७	सर्गे	सर्गे
७१	६	घर्णे	घर्णे
७१	१७	रपी	रपी
७१	१८	ध	ध
७३	४	स्वार्थे	स्वार्थे
७३	६	स्व्	स्व्
७३	६	स्वार्थे	स्वार्थे
७३	२१	सत्ते	सत्ते
७५	७	घंस	घंसः
७५	१५	जिघत्ते	जिघत्ते
७५	१५	दीदुः	दीदुः
७७	६	मैघ	मैघ
७८	८	स्वार्थे	स्वार्थे
७९	६	घञ्	घञ्
८०	१५	ऐश्वर्ये	ऐश्वर्ये
८१	१५	घर्षेण	घर्षेण
८२	२	इद	इदु

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अगुडपाठः	शुडपाठः
८२	१६	मैघः	मैघः
८३	१५	षट्प	षट्प
८८	४	सर्वं	सर्वं
८९	१६	स्पर्शः	स्पर्शः
८९	२२	त्रिन्द्रेण	त्रिन्द्रेण
९०	३	दर्शं	दर्शं
९०	५	सन्दिग्धम्	सन्दिग्धम्
९०	२०	शस्त्वृ	शस्त्वृ
९३	१२	क्रिय	क्रिब्
९४	११	यह	यहृ
९६	९	पृषोदर	पृषोदरा
९६	१२	त्यये	प्रत्यये
९९	२	कर्म	कर्म
९९	२२	हार्थेन	हार्थेन
१००	१३	स्वार्थे	स्वार्थे
१०१	१	देवाता	देवता
१०१	२०	अथत्रा	अथवा
१०३	१२	निगमा	निगमाः
१०३	१७	वृष्ट्युदके	वृष्ट्युदकं
१०४	११	यडन्त	यडन्त
१०६	९	वीं	वीं



पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१२३	१३	सर्वै	सर्वै
१२४	६	त्रिणैयः	त्रिणैयः
१२५	१०	सर्गे	सर्गे
१२६	५	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१३१	१	सम्बन्ध	सम्बन्ध
१३१	१२	स्थैर्यं	स्थैर्यं
१३२	३		(
१३२	५	प्रजन	प्रजनन
१३२	८	मुख्यार्थो	मुख्यार्थो
१३३	८	सर्वे	सर्वे
१३३	१७	पतमाने	पतमाने
१३४	१६	अपयः	अपयः
१३६	३	निरुत्त	निरुत्तया
-	६	गभीर	गभीरऽ
-	१५	अजयनाप	अजयनापऽ
१३६	२२	दर्थे	दर्थे
१४०	७	पूर्यंयत्	पूर्यंयत्
१४०	१७	यहो	यहोऽ
-	१७	यसते	यसते
१४२	६	"	"
-	३	निश्चि	निश्चि

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१४३	८	घमर्थे	घमर्थे
१४५	३	त्यर्थः	त्यर्थः
१४६	१०	रद्र	रद्रं
१.	१४	कमिर्न	कमिर्न
१४८	८	ह्रमः	ह्रमः
१४८	१८	स्थैर्ये	स्थैर्ये
१५२	२०	पूर्वेण	पूर्वेण
१५४	१०	न्वेषणीय	न्वेषणीयः
१५६	१	हर्दं	हर्दं
"	१६	बलं	बलं
१५६	४	नद्या	नद्यौ
१६०	२	घामत्या	घामत्याऽ
१६०	२	कर्ष	कर्षे
१६०	१८	घम	घम्
१६२	१	घञुः	चञुः
१६४	८	ईपद्	ईपद्दुः
१६४	८	कृच्छार्थेण	कृच्छार्थेषु
१६४	२१	क्षीयतेर्वो	क्षीयतेर्वो
१७०	२	युयुजे	युयुजेऽ
१७०	८	यदेतदयुक्तः	यदेदयुक्तः
१७२	७	कृग	कृग ६६

पमाङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१७४	१८	शृङ्गाणिः	शृङ्गाणि
१८०	१८	कर्तृन्	कर्तृन्
१८४	१	करिकम्	करिकम्
१८९	१	कर्त्ता	कर्त्ता
१९४		निघण्टुः	निघण्टुः
१९५	१	कृष्यः	कृष्यः
१९८	१२	इत्यस्मात्	इत्यस्मात्
२०१	१४	त्यौ	त्यौ
२०४	६	२५	३
२०७	५	इति घनि	इति घनिप्
२०८	८	अप्रलोपः	प्रलोपः
२०९	६	(५)	(६)
२०९	६	निर्वचने	तिर्वचने
२०९	१०		इति युच्
२१०	२१	लौपः	लौपः
२१२	६	मिप	मिण्
२१३	८	विसर्जनीयः	विसर्जनीयः
२१६	१५, १६	समर्थो गा	समर्थो गाऽ
२१७	१९	हर्षतः	हर्षतः
२२०	१४	मर्थो	मर्थो
२२२	१४	प्रजन	प्रजनन





पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अगुदपाठः	गुदपाठः
११४	२	शृणुन्	शशुन्
"	४	३६	२६
२६६	१४	धर्मं	धर्मं
३०१	७	नार्ये	नार्ये
३०३	६	सतिः	सनिनः
"	१५	स्त्रिश	त्रिश
"	१५	पष्टि	पष्टि
३०८	४	महत्तवम्	महत्त्वम्
३०८	५	वृद्ध्यथे	वृद्ध्यर्थे
३०६	६	दवा	दा
३०६	७	दवा	दा
३०६	१०	इपते	ईपते
३११	१	विभर्त्तेः	विभर्त्तेः
३१४	२	मर्थो	मर्थो
३१४	१०	न्येपणीय	न्येपणीयः
३१६	४	कर्मसु	कर्मसु
३२१	१८	शन्ताने	सन्ताने
३२२	१५	दुःखम्	दुःखम्
"	१५	के भि	केभि
"	१६	शशीः	शूषेः
२३	१०	पियु	पियु

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३२५	१६	इति	इति
३३०	१६	प्राप्य	प्राप्य
३३४	१३	धाम्ना	ब्राह्मणा
३४४	८	रुपम्	रुपम्
"	१०	स्तीति	स्तीति
३५०	२	दूरा	दूरा
३५१	५	अर्कैः	अर्कैः
३५३	१०	वर्हियैः	वर्हियैः
३५५	१७	भावश्च	भावश्च
३५६	१६	यांच्छ्रा	यांच्छ्रा
३५७	१	( ' )	( १ )
३६२	४	सग	सर्गे
३६४	२२	धच्छेदनेन	सन्धिच्छेदनेन
३६७	८	इ	ई
३७८	४	ज्योतिषा	ज्योतिषा
"	५	स्थुः	स्थः
३७६	४	तल्ल	तल्लेऽ
३८२		निघण्टः	निघण्टुः
३८४	१६	घञ्	घञ्
३८७	२	पर्योक्ष	पर्योक्ष
३६४	१	द्रुम	द्रुम

प्राङ्गम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३६४	१	दुपदे	दुपदे
"	२	"	"
४०१	२२	नगम	नयसऽ
४०२	२१	घार्यम	घार्यम्
४०५	१७	श्रेष्ठ	श्रेष्ठं
४०६	१३	मन्दतेः	मन्दतेः
४०७	८	विसर्जं	विसर्जं
४०८	१४	थाल	थाल्
४०९	१५	श्वार्ये	श्वार्ये
४१०	८	सर्गो	सर्गो
४१३	१	मुखरव्य	मुख्य
"	२२	(४)	(४७)
४१५	१३	तूर्णं	तूर्णं
४१६	१३	घना	घना
४१७	२२	स०	सं०
४२०	१५	स	से
४२०	२०	सर्गे	सर्गे
४२१		चतुर्थो	चतुर्थो
४२१	४	घर्णस्तु	घर्णधु
४२३	५	अप्त्वे	अप्त्वे
४२६	११	गुणा भाव	गुणाभाव

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४२७	८	दस्रो	दम्नो
४२८	७	त्तृप	त्तृम्प
४३१		चतुर्धा	चतुर्थो
४३१	१६	हृदकम्	हृदकम्
४३२	१	सर्वतः	सर्वतः
४३७	२८	सुष्टुः	सुष्टु
४४२		निघण्टः	निघण्टुः
४४३	२२	भूमि	भूमि
४४६	११	अर्वणस्त्र	अर्वणस्त्र
४४६	११	घननी	घननो
४४८	२२	च्छार्थो	च्छार्थो
४४६	८	सम्पूर्वात्	सम्पूर्वात्
४४६	६	सर्गे	सर्गे
४५१	१	धृतिः	धृतिः
४५२	२०	विधि	विधी
४५४	६६	कारः	गकारः
४५४	१६	लक्षणं	लक्षणं
४५७	२०	प्रथमार्थे	प्रथमार्थे
४५८	१६	पूर्वं	पूर्वं
४५६	६५	ख्याता	ख्यातो
४६०	१	उप्रयतेः	उप्रयतेः

पत्राङ्कम्	पङ्क्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४३०	४	भवासिः	भवासिः
४३०	१८	अश्न	अश्नु
४३१	७	नैरुक्त	नैरुक्त
४३२	२८	अश्या	अश्या
४३३	१८	शब्द	शब्दे
४३४	८	(स०)	(सं०)
४३७	२	घ्नन्	घ्नन्
४३८	६	अहियु	अहिर्यु
४७२	१०	स्तीर्णे	स्तीर्णे
४७२		निघण्टुः	निघण्टुः
४७६	४	घति	द्रघति
४७७	४	विघन्	विघ्नु
४७७	८	विघत्	विघ्नुत्
४८५	३	संख्यास	संख्यासु

इति निरुक्ते ( निघण्टु भागस्य ) शुद्धाशुद्धि पत्रम् ।

ॐ तत्सत्

